TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182810

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81.09 R94B Accession No. PGH 4523

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति

बृजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति

(विक्रम संवत् १५५०—१६५० तक)

[दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
की परीक्षा के लिये स्वीकृत प्रबन्ध]

लेखक
डॉ० रूपनारायण, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक
सनातन धर्म कॉलिज, नई दिल्ली

हिन्दी अनुसन्धान परिषद् दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
के निमित्त

नवयुग प्रकाशन दिल्ली-७

प्रकाशक :
यंग मैन एण्ड कम्पनी, नई सड़क, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक : प्रभात प्रेस, मेरठ

श्रद्धेय गुरुवर

डा० दशरथ ओझा

के कर-कमलों में

सादर समर्पित

हमारी योजना

'ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का पच्चीसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसन्धान परिषद्', हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं: हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे, जिनमें प्राचीन काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी-रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ, जिनका अनुसन्धान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, (३) अरस्तू का काव्य-शास्त्र, (४) हिन्दी-काव्यादर्श, (५) अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (हिन्दी अनुवाद), (६) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस कृत), (८) सौन्दर्य तत्त्व, (९) हिन्दी अभिनव भारती तथा (१०) हिन्दी नाट्य दर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, (३) सूफ़ीमत और साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य, (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला, (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम : कवि और आचार्य तथा (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसन्धान का स्वरूप, (२) हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध तथा (३) अनुसन्धान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ द्वितीय वर्ग का बारहवाँ प्रकाशन है, जिसे हम काव्य एवं काव्यशास्त्र के मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।
२ मई, १९६२

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

निवेदन

प्रस्तुत प्रबन्ध मान्यवर डा० दशरथ ओझा के निर्देशन में लिखा गया था। फरवरी सन् १९६१ में दिल्ली विश्वविद्यालय ने इस शोध प्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी। अपने इस शोध प्रबन्ध का परिचय आवश्यकतानुसार विषय-प्रवेश में दिया गया है। फिर भी प्रबन्ध के सम्बन्ध में दो शब्द कहना उचित होगा।

भारतीय धर्म साधना का हमारे साहित्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। आदिकाल से ही साहित्य धर्म साधना तथा दर्शन से अनुप्राणित रहा है। इसीलिए साधना और दर्शन के बदलते हुए स्वरूप ने साहित्य को भी नवीन दिशा प्रदान की। इस कारण काव्य के समुचित मूल्याङ्कन में काव्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित तत्त्वों का परीक्षण जितना आवश्यक है उतना ही उसमें अनुस्यूत विचार-धारा का उद्घाटन भी। प्रस्तुत प्रबन्ध में इसी लक्ष्य को सम्मुख रखते हुए मध्यकालीन ब्रजभाषा काव्य की विचार-धारा को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। इसमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्णय तो सहृदय पाठक ही कर सकेंगे।

मध्यकाल की धर्म साधना में माधुर्य्य भक्ति का विशेष महत्त्व है। तत्कालीन साधना के विभिन्न रूपों पर जितना प्रभाव माधुर्य्य भक्ति का लक्षित होता है उतना किसी साधनाङ्ग का नहीं। इस दृष्टि से माधुर्य्य भक्ति को मध्यकालीन धर्म साधना का प्रेरक तत्त्व कहा जाय तो अनुचित न होगा। माधुर्य्य भक्ति के इस महत्त्व को डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी विद्वत्तापूर्ण ढंग से अपनी भूमिका में प्रतिपादित किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने व्यस्त कार्यक्रम में से कुछ समय निकाल कर जो भूमिका लिखने का कष्ट किया उसके लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं। हमें पूर्ण आशा है कि इस प्रकार का प्रोत्साहन उनसे हमें सदैव प्राप्त होता रहेगा।

पूज्य गुरुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक के प्रति आभार व्यक्त करके भी मैं उनके भार से मुक्त न हो सकूँगा। प्रस्तुत प्रबन्ध का यह रूप उन्हीं के अथक परिश्रम का फल है। डा० नगेन्द्र के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन मैं अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ। प्रस्तुत प्रबन्ध को प्रकाशित रूप में पाठकों के सामने लाने का श्रेय प्रकाशक और मुद्रक को है। अतः उनका भी मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

रूपनारायण

अक्षय तृतीया
दिनांक ६ मई, १९६२

विषय-सूची

भूमिका—लेखक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

विषय-प्रवेश १—१०

प्रबन्ध का विषय — विषय से सम्बन्धित उपलब्ध सामग्री — प्रबन्ध की मौलिकता — ग्रंथ-परिचय — प्रस्तुत प्रबन्ध में किए गए संशोधन — आभार प्रदर्शन।

प्रथम अध्याय : वैष्णव धर्म और कृष्ण-भक्ति का आरम्भ ११—३२

वैष्णव धर्म का आधार विष्णु-भक्ति — वैदिक देवतावाद का उद्भव — वैदिक देवताओं का स्वरूप — वैदिक देवताओं की संख्या — वैदिक काल में विष्णु — वैदिक विष्णु का स्वरूप — विष्णु तथा अन्य वैदिक देवता — भागवत, सात्वत आदि वैष्णव धर्म — वासुदेव और कृष्ण — वासुदेव और विष्णु — अवतारी विष्णु और अवतारवाद — अवतारवाद में वासुदेव कृष्ण का स्थान — माधुर्य्य भक्ति के कृष्ण का स्वरूप — भागवत धर्म का विकास।

द्वितीय अध्याय : कृष्ण भक्ति का विकास और उसके अन्तर्गत माधुर्य्य भाव का आविर्भाव ३३—६३

महाभारत के कृष्ण — पुराण-साहित्य में कृष्ण — गीतगोविन्द में कृष्ण — कृष्ण चरित्र में मधुर भाव के विकास में आभीरों की देन — गोपी-कृष्ण लीलाओं की प्राचीनता — आभीर विदेशी नहीं हैं — गोपाल-कृष्ण वासुदेव-कृष्ण से अभिन्न हैं — कृष्ण क्राइस्ट का रूप नहीं — गोपी-कृष्ण-लीला केवल आध्यात्मिक — उपास्य को उपासक के निकट लाने का प्रयत्न — गोपीकृष्ण लीलाओं सम्बन्धी उल्लेख — राधा का विकास — पांचरात्र मत — तन्त्रवाद।

तृतीय अध्याय : माधुर्य्य भक्ति परक कृष्ण-काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि ६४—८३

राजनैतिक परिस्थिति — धार्मिक परिस्थिति — सामाजिक परिस्थिति — माधुर्य्य भक्ति क्या भक्ति का पतनोन्मुख रूप है ?

चतुर्थ अध्याय : कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय तथा उनके भक्ति-सिद्धान्त ८४—१२१

चतुःसम्प्रदाय शब्द का प्रचलन और उसकी उपयोगिता — माध्व सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय — विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय — निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय — निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त (ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष और मोक्ष-साधन) — माध्व सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त (परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, प्रकृति, मोक्ष और मोक्ष-साधन) — गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त (ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष और मोक्ष-साधन) — वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धान्त (ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष और मोक्ष-साधन) — राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त (प्रेम तत्त्व, राधा का स्वरूप, श्रीकृष्ण का स्वरूप, वृन्दावन धाम, सहचरी) — हरिदासी सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त (ईश्वर, जीव, संसार, रसोपासना)—कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में माधुर्य्य भक्ति — वृन्दावन महत्त्व — माधुर्य्य भक्ति का आधार।

पंचम अध्याय : माधुर्य्य भक्ति : उसका दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार १२२—२२६

(१) माधुर्य्य भक्ति का विकास — माधुर्य्य शब्द, उसका काव्य तथा भक्ति ग्रन्थों में प्रयोग — माधुर्य्य भाव — माधुर्य्य भाव का विस्तार — माधुर्य्य भक्ति और उसके भेद (कान्ताभाव, गोपीभाव और सखीभाव) — सखी भाव की उपासना का उत्कर्ष — व्रज-मण्डल के कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय — निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण — गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण — वल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण — राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा कृष्ण — हरिदासी सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण — स्वकीया भाव — परकीया भाव और उसका महत्त्व — सहजिया सम्प्रदाय और परकीया भाव — नित्य विहार — नित्य विहार विधायक तत्त्व (राधा, कृष्ण, सहचरी और वृन्दावन) — नित्य विहार परक प्रेम — सूक्ष्म-विरह और मान — प्रेम और काम — तत्सुखीभाव — रसोपासना में विधि-निषेध — व्रजमण्डलीय माधुर्य्य भक्ति।

(२) **दार्शनिक आधार** : भक्ति का मूल — प्रेम — भक्ति और ज्ञानादि साधन — माधुर्य्य भक्ति में प्रेम की तीव्रता — माधुर्य्य-

भक्ति में एकत्व की भावना — राधा-कृष्ण की प्रेम रूपता — प्रेम का स्वरूप — गोपी-प्रेम।

(३) **साहित्यिक आधार** : रस का स्वरूप — रस की आस्वाद्यता — रससंख्या — भक्ति रस — मधुराख्य भक्ति-रस और उसकी विलक्षणता — वृन्दावन रस — उज्ज्वल रस एवं मधुर रस की आस्वादन योग्यता।

मनोवैज्ञानिक आधार : भारत में मनोवैज्ञानिक अध्ययन— पाश्चात्य मानसशास्त्र के विविध पंथ — क्या भक्तिभावना एक स्वतंत्र वृत्ति है — भक्ति भावना और कामुकता — फ्रॉयड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त और भक्ति भाव — फ्रॉयड के मत की आलोचना — उदात्तीकरण — रूपान्तर — रूपान्तर में भगवल्लीला का योग — आधुनिक मनोविज्ञान का भक्ति-भाव सम्बन्धी दृष्टिकोण और भारतीय दर्शन।

षष्ठ अध्याय : निम्बार्क सम्प्रदाय : माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप तथा प्रमुख कवि : २२७—२५४

माधुर्य्य भक्ति-प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क — **उपास्य का स्वरूप**— **उपासना का स्वरूप** (विहार और काम, विहार में विधि-निषेध, भजन तीव्रता की साधना, साधक की भाव-परक स्थिति, वृन्दावन धाम) — **उपासक का स्वरूप** (सखी का स्वरूप और सखी-धर्म, तत्सुखी भाव)।

प्रमुख कवि :

(१) श्री भट्ट : परिचय — माधुर्य्य भक्ति

(२) श्री हरिव्यासदेव : परिचय — माधुर्य्य भक्ति

(३) श्री रूपरसिक : परिचय — माधुर्य्य भक्ति

सप्तम अध्याय : गौड़ीय सम्प्रदाय : माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि २५५—३०६

गौड़ीय-सम्प्रदाय का महत्त्व — माधुर्य्य भक्ति — **उपास्य तत्त्व** (श्रीकृष्ण, राधा, गोपी, राधा तथा गोपियों का प्रेम, राधा का परकीया भाव), **उपासना तत्त्व** (वैधी भक्ति, रागानुगा भक्ति, प्रेम का स्वरूप — स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव एवं महाभाव, प्रेम और काम, ज्ञान मिश्रा भक्ति, ज्ञान शून्या भक्ति, राधा-कृष्ण की

लीलाएँ, प्रकट लीलाएँ, अष्टकालीन लीला, वृन्दावन-धाम महिमा) **उपासक तत्त्व** (सखी तथा सखी-भाव : सखी-भेद, मंजरी, सिद्ध-देह साधना के विभिन्न अंग) ।

प्रमुख कवि :

(१) श्री गदाधर भट्ट : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(२) श्री सूरदास मदनमोहन : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(३) श्री माधुरीदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(४) श्री वल्लभरसिक : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

अष्टम अध्याय : राधाबल्लभ सम्प्रदाय : माधुर्य्य-भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि : ३१० — ३६५

सिद्धाद्वैत — **उपास्य तत्त्व** (राधा और कृष्ण) — **उपासना तत्त्व** (प्रेम का स्वरूप, प्रेम में मिलन और विरह, प्रेम में तत्सुखी भाव, प्रेम में विधि-विधान, प्रेम और नेम, प्रेम और काम, प्रेम की साधना, राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ) **उपासक तत्त्व** (रसिक, सखी भाव, सखी धर्म, बाह्य-पूजा) ।

प्रमुख कवि :

(१) गोस्वामी हित हरिवंश : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(२) श्री दामोदरदास (सेवक जी) : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(३) श्री हरिराम व्यास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(४) श्री ध्रुवदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(५) श्री नेही नागरीदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

नवम अध्याय : हरिदासी सम्प्रदाय : माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि : ३६६—३९४

माधुर्य्य भक्ति — **उपास्य का स्वरूप** (कृष्ण और राधा) उपासना का स्वरूप (नित्य-विहार, नित्य विहार और विधि निषेध, नित्य विहार और काम, नित्य विहार की साधना, नित्य विहार की भाव भूमि) **उपासक का स्वरूप** (रसिक, सखी भाव, सखी भेद) ।

प्रमुख कवि :

(१) स्वामी हरिदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(२) श्री विट्ठलविपुलदेव : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(३) श्री बिहारिनदेव : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

(४) श्री नागरीदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(५) श्री सरसदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

दशम अध्याय : वल्लभ सम्प्रदाय : माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप तथा प्रमुख कवि : ३९५—४३५

वल्लभाचार्य के ग्रन्थों में माधुर्य्य भक्ति — वल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति पर अन्य सम्प्रदायों का प्रभाव — माधुर्य्य भक्ति — उपास्य तत्त्व (श्रीकृष्ण, राधा, गोपियाँ) — उपासना तत्त्व (मधुर भाव की उपासना और काम, प्रेम का स्वरूप, प्रेम और ज्ञानादि साधन, राधा-कृष्ण तथा गोपी-कृष्ण की विहार लीलाएँ) — उपासक तत्त्व (गोपी भाव और उसकी प्राप्ति के साधन)।

प्रमुख कवि :

(१) श्री नन्ददास : परिचय : माधुर्य्य-भक्ति
(२) श्री चतुर्भुजदास : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(३) श्री गोविन्दस्वामी : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(४) श्री छीतस्वामी : परिचय : माधुर्य्य भक्ति
(५) सुश्री गंगाबाई : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

एकादश अध्याय : माधुर्य्य भक्ति के अन्य कवि : ४३६—४४७

(१) मीराबाई : परिचय : माधुर्य्य भक्ति

द्वादश अध्याय : मधुरोपासक कृष्ण-कवियों का हिन्दी साहित्य को योगदान : ४४८—४६४

कृष्ण-काव्य की माधुर्य्य भक्ति की प्रमुख विशेषताएँ — राम काव्य की माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप — दोनों की तुलना — प्रभाव — मधुर भाव के उपासक कृष्ण-कवियों का हिन्दी साहित्य को योगदान।

परिशिष्ट : प्रमुख कवि और ग्रन्थानुक्रमणिका ४६५—५०६

भूमिका

'ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति' इस शोध प्रबन्ध का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ। इसके लेखक श्री रूपनारायण ने माधुर्य्य भक्ति की कृष्णमूलक धारा के अनुसंधान और विश्लेषण में स्तुत्य प्रयास किया है। उनकी विशेषता यह है कि जहाँ एक ओर उन्होंने उपलब्ध साहित्यिक सामग्री की छान-बीन की है, वहीं दूसरी ओर ब्रजभूमि में निवास करने वाले सम्प्रदायानुयायी आचार्यों से साक्षात् सम्पर्क स्थापित करके उनसे अपने अपने मार्ग के सम्बन्ध में सिद्धान्त, उपासना विधि और साहित्य की भी बहुत सी प्रामाणिक गूढ़ सामग्री का संकलन किया है। हिन्दी काव्य की तात्त्विक आलोचना के क्षेत्र में इस प्रकार का दृष्टिकोण और परिश्रम श्लाघनीय है।

माधुर्य भक्ति मानवीय मन की अति सहज वृत्ति है। देवतत्व की सम्प्राप्ति के लिये मन की अधीरता अथवा उसके अलौकिक आनन्द में डूबकर उसके सन्तत रसास्वादन की प्रवृत्ति देश विशेष और काल विशेष की अपेक्षा नहीं रखती। इतिहास की कड़ियों में इस प्रकार की भक्ति के पद-चिह्न पहचानने की एक शिष्ट पद्धति हमने स्वीकार कर ली है और उसका निर्वाह भी करना चाहिये। किन्तु भक्ति तत्त्व घटना से विजड़ित नहीं होता। वह तो नित्य प्रवर्धमान लीला से सम्पृक्त रहता है। घटना मानवी होती है और लीला दैवी। दैव विषयक साक्षात् प्रतीति जो सब देश और सब काल में विद्यमान हो वही लीला के दुर्धर्ष रस से परितृप्त होती है। वेदों में कहा है कि सृष्टि का मूल सोत कोई सोम का अनन्त समुद्र है। उस समुद्र से उठी हुई मधुमान ऊर्मि या आनन्दमयी लहर ही यह जीवन है—

"समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारत्" (ऋग्वेद ४। ५८। १)

सोम ही मधु है। उसका माधुर्य विश्व में सर्वत्र व्याप्त है। उससे ही मानव के प्राणों का आनन्द जन्म लेता है और उस मधुर आनन्द से प्राण तृप्त होता है। सोम का यह माधुर्यानन्द अत्यन्त सरस और स्वादुमय कहा गया है—

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।

(ऋग्वेद, ६, ४७, १)

यहां स्पष्ट ही सोम को स्वादिष्ट, मधुमान्, तीव्र और रसवान कहा गया है।

माधुर्य भक्ति की तीव्र अनुभूति के लिये जो उपकरण आवश्यक हैं वे सब इसमें आ गये हैं। इन्द्र को सोमपान प्रिय है। वह इन्द्र उस सोम को मधुर, स्वादिष्ट और रसमय मानकर उसके लिये आकुल रहता है, क्योंकि वह सोम सामान्य नहीं तीव्र अर्थात् अत्यन्त प्रभावशाली पेय है। प्रत्येक प्राणी के भीतर दहकता हुआ जो मध्य प्राण है उसे ही वैदिक परिभाषा में इन्द्र कहा है—(शतपथ ब्राह्मण—६, १, १,१)।

इन्द्र तत्व या प्राणतत्व का ही दूसरा नाम अग्नि है। अग्नि और सोम इन दोनों के द्वन्द्व या मिथुन भाव से ही सृष्टि होती है। अग्नि पुरुष और सोम स्त्री है। अग्नि पिता और सोम माता है। अग्नि द्युलोक और सोम पृथिवी है। अग्नि वृषा और सोम योषा है। वृषा और योषा के पारस्परिक सम्मिलन से ही रस की अनुभूति होती है।

प्रिय का प्रिय से संयोग या सम्मिलन ही माधुर्य है। एक का दूसरे के मण्डल में भागधेय प्राप्त करना भक्ति का लक्षण है। यह भागधेय एकांगी नहीं, किन्तु उभयनिष्ठ होता है, अर्थात् दोनों में पारस्परिक आकर्षण की सत्ता आवश्यक है। एक केन्द्र से उठी हुई धाराएँ या रश्मियाँ जब तक दूसरे केन्द्र से उठी हुई धाराओं या रश्मियों से नहीं मिलतीं तब तक माधुर्य का जन्म नहीं होता। इस प्रकार के पारस्परिक मिलन को वैदिक भाषा में दो सामों का अतिमान कहते हैं—जैसे पृथिवी का साम सूर्य की ओर जाता है वैसे ही सूर्य का बृहत् साम अपनी तरंगों से प्रतिक्षण पृथिवी की ओर अभिमुख हो रहा है। इन दोनों के सम्मिलन से ही पृथिवी और सूर्य का जीवन सकुशल है। पृथिवी पर सूर्य से प्रतिक्षण अग्नि की वृष्टि हो रही है। पर पृथिवी भी न केवल उस उष्णता को प्रतिफलित करती है, किन्तु अपने प्रत्येक हरित तृण के जलीय अंश या सोम को सूर्य के लिये समर्पित करती रहती है। इसी आदान-प्रदान से रस की धारा का जन्म होता है जिसे हम पर्जन्य वृष्टि के रूप में देखते हैं। ऐसा ही देव और मानव के बीच में भी आदान-प्रदान का ध्रुव चक्र प्रवर्तित है। देव के लिये मानव का आकर्षण एकांगी नहीं, यदि मानव-मन देव को अपनी ओर खींचता है तो देव भी उसका आकर्षण करता है। इसी आदान-प्रदान का यश माधुर्य भक्ति के तीव्र अनुभव के रूप में मानव को आक्रान्त कर लेता है। वह स्वाभाविक स्थिति होनी चाहिये। कूट कल्पना से भक्ति दुष्कर है।

मन की यह सहज, मधुर और रसात्मक प्रवृत्ति कई प्रकार के संबंधों

में प्रत्यक्ष अनुभव में आती है। पिता, पितामह, अपना, आपा, पुत्र, पौत्र, पत्नी और जन्म देने वाली माता इनके प्रति सहज, मधुर संबंध मानव को प्राप्त होता है—

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तान् उपह्वये।

(अथर्ववेद ६, ५, ३०)

इन संबंधों के अतिरिक्त सख्य संबंध भी है जिसका माधुर्य अपूर्व होता है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सख्य संबंध इनमें से प्रत्येक के भीतर ओत प्रोत रहता है और तभी वह सम्बन्ध स्वादिष्ट या मधुर बनता है। जो पिता अपने पुत्र का सखा नहीं बन सका वह केवल औपचारिक संबंध के भीतर से न स्वयं रस प्राप्त कर सकता है और न पुत्र के लिये अपने हृदय का रसमय स्रोत उन्मुक्त कर पाता है। जैसा कालिदास ने लिखा है—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ"

(रघुवंश ८, ६७)

अर्थात् अपनी प्रिय पत्नी के साथ भी उसके हृदय की पुष्कल रसालता का अनुभव करने के लिये उसके साथ सख्य संबंध आवश्यक है केवल काम-संबंध तो क्षणिक तृप्ति से निवृत्त हो जाता है, किन्तु सख्य संबंध रस का अक्षय स्रोत प्रवाहित करता है।

ईश्वर के साथ रागानुगा भक्ति अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि यह स्थिति कृत्रिमता से सदा ऊपर रहती है। यह कहने सुनने का विषय नहीं। यह तो मन की वह सहज स्थिति है जिसमें प्रियतम के लिये राग जनित प्रेम के बिना रहना सम्भव ही न हो। मन की यह स्थिति जब होती है तब स्वतः आती है। यह तो नदी के उमड़ते हुए प्रवाह की भाँति भीतर-बाहर सर्वत्र फैल जाती है। यह दूसरों के प्रदर्शन के लिये नहीं होती। इस भक्ति के धरातल पर पहुँचने के लिये मन की भारी शक्ति चाहिये। यह शक्ति अभ्यास से आती है। पर केवल अभ्यास भी इसमें पर्याप्त कारण नहीं। सच्ची रागात्मक भक्ति के लिये वैराग्य की आवश्यकता होती है। यह विरोध सा लगता है, किन्तु है यह जीवन का तथ्य। ईश्वर के प्रति राग होने के लिये संसार के प्रति विराग आवश्यक है। इन दोनों की एक साथ साधना क्लिष्ट है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिये मूल्यों का भारी परिवर्तन करना पड़ता है। या तो हम संसार को मूल्यवान् मानते हों और उसमें आनन्द लेते

हों या संसार को केवल इसलिये मूल्यवान् समझते हों कि उसमें भी देव की सत्ता का ही प्रत्यक्ष रूप है। अतएव संसार के जितने संबंध होते हैं वे सब देव के कारण ही प्रिय लगते हैं। यदि मन को यह स्थिति नहीं मिलती तो वह संसार में रहते हुए भक्ति का रस नहीं उठा पाता। भक्ति तो एक उज्ज्वल प्रकाश है, विषयों के अन्धकार से उसे मुक्त करना ही होगा।

ब्रजभाषा के कृष्णविषयक भक्ति-साहित्य का बहुत महत्त्व है, क्योंकि वह मन की उस ऊँची स्थिति से हमारा परिचय कराता है जिसमें माता, पिता, बन्धु, सखा, पति, पत्नी सब अपने केन्द्र में रहते हुए मन का इतना अधिक विकास करते हैं और देव तत्त्व के आनन्द की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेते हैं। इस साधना के विविध उपायों या युक्तियों का परिशीलन मानव के लिये स्थाई मूल्य रखता है। इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध अपना विशेष महत्त्व रखता है। भक्ति का संदेश प्रत्येक मानव के लिये है। सबके लिये वह आह्वान है—*'पिबतु सोम्य मधु'* उस मीठे सोम का पान करो जिससे परितृप्त और अमर हुआ जाता है। और रस कितने ही पीकर देखिए, मन भरता नहीं। अतएव वह रस मिलना चाहिए जिससे भीतर-बाहर छलकता हुआ आनन्द का स्रोत अनुभव में आ सके।

काशी विश्वविद्यालय
२-५-६२

वासुदेव शरण

विषय-प्रवेश

भक्ति तत्त्व विषयक जिज्ञासा का उदय मेरे भीतर एक विशेष कारण से हुआ। बचपन से मैं जिन व्यक्तियों के सम्पर्क में विशेष रूप से रहा उनके विचार में मनुष्य जन्म की सार्थकता भगवद्भक्ति में ही थी। उन्हीं के मुख से मैंने अनेक बार सूरदास, तुलसीदास और मीराँबाई के माधुर्य्य मंडित पदों का सस्वर पाठ सुना था। सौभाग्य से इसके बाद समय समय पर मेरा ऐसे अनेक महापुरुषों से समागम हुआ, जो भगवद्भक्ति द्वारा अपने जीवन को प्रेममय बनाने की साधना में तत्पर थे। इन महात्माओं से भक्ति का यत्किंचित् रहस्य मुझे विदित हुआ। जब स्वयं इन भक्त कवियों के काव्य का अध्ययन करने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ तब उनमें अभिव्यक्त भक्ति-भावना को समझने की बलवती अभिलाषा मेरे मन में जागृत हुई। फलतः एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जब अनुसन्धान का विषय चुनने का प्रश्न मेरे सामने आया तब भक्ति-साहित्य को ही मैंने अपना अनुसन्धेय विषय निर्धारित करने का निश्चय किया। इसी निश्चय को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मैं अपने गुरुवर डा० विजयेन्द्र स्नातक जी के पास गया। विद्यार्थियों की सहायता करने तथा उनका समुचित पथ-प्रदर्शन करने में वे सदा तत्पर रहते हैं—उनकी यह प्रवृत्ति एम० ए० के दो वर्ष के सम्पर्क के कारण मुझ से छिपी न थी। और फिर वे स्वयं कृष्ण-भक्ति-साहित्य का गवेषणात्मक अनुशीलन कर चुके थे। अतः उनकी विद्वत्ता और अनुसन्धान विषयक योग्यता से लाभ उठाने का लोभ मैं संवरण न कर सका। स्नातक जी ने 'ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति'—शीर्षक विषय मुझे सुझाया और पथ-प्रदर्शन का पूरा आश्वासन दिया। इस विषय की रूपरेखा तैयार कर मैं अपने प्रबन्ध निर्देशक डा० दशरथ ओझा जी से मिला और उनकी अनुमति प्राप्त होने पर मैंने अपना गवेषणात्मक कार्य आरम्भ कर दिया।

माधुर्य्य भक्ति के मूल में सन्निविष्ट तत्त्व समझने के लिए मैं समय मिलने पर वृन्दावन गया। वहाँ अनेक साधु-सन्तों से मेरा पहले ही परिचय था। उन से मैंने अपने विषय की चर्चा की और माधुर्य्य भक्ति के रहस्य को समझने का प्रयत्न किया। सभी ने अपने-अपने अध्ययन और मनन के आधार पर माधुर्य्य भक्ति के तत्त्व का उद्घाटन किया। इन साधु स्वभाव विद्वानों में श्री सेठ

रतनलाल जी ने अपनी विद्वत्ता एवं सौजन्य से मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। सेठ जी स्वयं निम्बार्कानुयायी हैं—किन्तु ब्रजमण्डल के सभी वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति का आपको अच्छा ज्ञान है। इनका किसी मत-विशेष के प्रति आग्रहपूर्ण पक्षपात नहीं है। इसी कारण इन्होंने सभी सम्प्रदायों के उपासना परक सिद्धान्तों का समुचित अध्ययन तथा मनन किया है। इनसे मिलने के बाद मैं विभिन्न सम्प्रदायों के माधुर्य्य भक्ति विषयक सिद्धान्तों को समझने में प्रवृत्त हुआ। फलतः मैंने ब्रज के सभी सम्प्रदायों के प्रकाशित एवं हस्तलिखित वाणी-ग्रन्थों के अनुशीलन का निश्चय किया। हस्तलिखित वाणियों की खोज करते हुए ही मेरा परिचय सर्वेश्वर कार्यालय के अध्यक्ष श्री ब्रजवल्लभ शरण जी से हुआ। निम्बार्क सम्प्रदाय की उपलब्ध हस्तलिखित वाणियों को देने के अतिरिक्त आपने इस सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के सिद्धान्तों को भी बहुत स्पष्ट किया। इस प्रकार वाणी-ग्रन्थों के अनुशीलन तथा सम्प्रदायी विद्वानों के सत्संग से मैं माधुर्य्य भक्ति के मर्म को समझने की दिशा में अग्रसर हुआ। इसके बाद तो मैं अपने कार्य-काल में यथासमय अनेक बार वृन्दावन आता जाता रहा और अपने विषय की उपयुक्त सामग्री संकलित करता रहा।

इस ऊहापोह के परिणामस्वरूप यह बात मेरे समक्ष स्पष्ट हो गई कि माधुर्य्य भक्ति का जो स्वरूप श्रीमद्भागवत पुराण तथा श्रीकृष्ण चैतन्य के अनुयायी श्री रूपगोस्वामी तथा श्री सनातन गोस्वामी आदि भक्तों द्वारा संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रस्फुटित हुआ था, वही ब्रजभाषा के आचार्यों द्वारा नवीन रूप में गृहीत हुआ है। माधुर्य्य भक्ति को इस नवीन रूप में स्वीकार कर वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त सूरदास और आचार्य विट्ठलनाथ, राधावल्लभ सम्प्रदाय के गो० हितहरिवंश तथा हरिदासी सम्प्रदाय के स्वामी हरिदास ने मधुर भाव की जो धारा प्रवाहित की थी वह आज भी अक्षुण्ण है। माधुर्य्य भक्ति की इस धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने में ब्रज के निम्बार्क, गौड़ीय, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी सभी सम्प्रदायों के अनेक भक्त-कवियों ने यथाशक्ति योग दिया। किन्तु इन सभी भक्त-कवियों की चर्चा करना ब्रजभाषा-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ में ही सम्भव है। इस परिमित प्रबन्ध में तो हम माधुर्य्य भक्ति-धारा की प्रथम शताब्दी का क्रमिक विकास ही प्रस्तुत कर सके हैं। वस्तुतः निश्चित रूप से यह कहना तो कठिन है कि ब्रजभाषा साहित्य में माधुर्य्य भक्ति-धारा का आरम्भ किस संवत् में हुआ। किन्तु वि० सं० १५५० के आस पास ही भक्त प्रवर सूरदास, गो०

हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि अनेक भक्त तथा महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ और इन्हीं की प्रतिभा से माधुर्य्य भक्ति की यह धारा प्रवाहित हुई। अतः सुविधा के लिए वि० सं० १५५०—१६५० को ही इस धारा की प्रथम शताब्दी स्वीकार करना उचित होगा। इस प्रथम शताब्दी का विशेष महत्त्व है। ब्रजमण्डल के प्रायः सभी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों की स्थापना इस शताब्दी के आरम्भ में हो गई थी। अतः सम्प्रदायों के माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने वाले आचार्य तथा भक्त-कवि इसी शताब्दी में हुए। इसके अतिरिक्त सभी सम्प्रदायों के अधिकांश प्रमुख कवि इसी शताब्दी की देन हैं।

माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसके प्रसार का श्रेय ब्रजमण्डल के कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों को ही है। सच तो यह है कि माधुर्य्य भक्ति का अधिकांश साहित्य इन्हीं सम्प्रदायों के भक्त-कवियों द्वारा प्रणीत है। इन सम्प्रदायों से इतर माधुर्य्य भक्ति से सम्बद्ध कृष्ण-काव्य प्रायः नगण्य-सा है। अतः स्पष्ट है कि कृष्ण भक्तों को माधुर्य्य भक्ति की उपासना का मार्ग प्रदर्शित कर ब्रजभाषा में मधुर-लीला परक कृष्ण-काव्य की सृष्टि में साम्प्रदायिक आचार्यों का सहयोग अमूल्य है। माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को सम्यक् रूप से इन्हीं सम्प्रदायों की सहायता से समझा जा सकता है। हिन्दी में ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य पर अद्यावधि लिखे गए आलोचनात्मक ग्रन्थों का आधार भी यही सम्प्रदाय रहे हैं। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विवेचन करते समय ही विद्वानों ने विशिष्ट सम्प्रदाय में माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप की चर्चा की है। अतः यहाँ इस प्रकार के प्रमुख आलोचनात्मक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दे देना उपयुक्त होगा।

विषय से सम्बद्ध उपलब्ध सामग्री

(१) डा० दीनदयाल गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' शीर्षक शोध प्रबन्ध में वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों की चर्चा विशद व्यापक धरातल पर की है। सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों की चर्चा करते हुए उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित माधुर्य्य भक्ति का भी उल्लेख किया है तथा माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अष्टछाप के कवियों की रचनाओं से आवश्यक उदाहरण भी दिये हैं। वल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के मूल तत्त्वों को समझने के लिए यह ग्रन्थ प्रामाणिक है।

(२) श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'भागवत-सम्प्रदाय' में पहली बार सभी सम्प्रदायों के भक्ति-सिद्धान्तों को एक साथ प्रस्तुत किया है। भक्ति

सिद्धान्तों की चर्चा में उनका प्रयत्न उपासना की अपेक्षा सिद्धान्त-प्रतिपादन की ओर ही विशेष रहा है। किन्तु उपासना-पक्ष की नितान्त अवहेलना नहीं है। भक्ति-सिद्धान्तों के परिचय के साथ-साथ विभिन्न सम्प्रदायों के कवियों का संक्षिप्त इतिवृत्त तथा रचनाओं का परिचय भी इन्होंने प्रस्तुत किया है।

(३) राधा वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त एवं उपासना-पद्धति पर विशेष रूप से प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ डा० विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' है। इसमें विद्वान् लेखक ने ब्रजमण्डल के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने के लिए ऐसा मार्ग प्रशस्त किया है जो साम्प्रदायिक अनुसन्धाताओं के लिए सदा सहायक रहेगा। डा० स्नातक ने इस ग्रन्थ में राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित माधुर्य्य भक्ति का बहुत सूक्ष्म ढंग से विवेचन किया है और सभी पहलुओं पर विचार करके उस के स्वरूप को अधिक से अधिक स्पष्ट किया है। इस ग्रन्थ में अन्य सम्प्रदायों की साधना-पद्धति के साथ इस सम्प्रदाय की उपासना की तुलना करते हुए इसके महत्त्व की ओर आवश्यक संकेत किये गए हैं। इसके साथ ही राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों का साहित्यिक परिचय देने का प्रयास सर्वप्रथम इसी ग्रन्थ में दृष्टिगत होता है। अतः राधावल्लभ सम्प्रदाय का गवेषणात्मक अध्ययन करने के लिये यह ग्रन्थ अपने आप में पूर्ण कहा जा सकता है। हमने राधावल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप-निर्धारण में इसी ग्रन्थ को प्रामाणिक माना है।

(४) राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाला अन्य ग्रन्थ गो० ललिताचरण का 'हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' है। इस ग्रन्थ की रूपरेखा डा० विजयेन्द्र स्नातक के ग्रन्थ के समान ही है। किन्तु विषय की स्पष्टता जितनी स्नातक जी के ग्रन्थ में है उतनी इस ग्रन्थ में नहीं आ पाई है। वृन्दावन-रस प्रकरण इस ग्रन्थ की विशेषता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य को काल विभाजन द्वारा प्रस्तुत किया है।

(५) डा० रत्नकुमारी के '१६ वीं शती के हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि' नामक ग्रन्थ में भी माधुर्य्य भक्ति की प्रसंगानुकूल चर्चा हुई है। इन्होंने माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को गौड़ीय भक्त कृष्णदास कविराज के 'चैतन्य चरि-तामृत' के आधार पर प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त वैष्णव भक्त कवियों के रूप में माधुर्य्य भक्ति के कुछ कृष्ण-भक्त कवियों की जीवनी पर दो-दो, चार-चार पंक्तियाँ लिखी हैं। शोध-प्रबन्ध होते हुए भी इसमें गवेषणात्मक दृष्टि से विषय पर विचार नहीं किया गया है।

उक्त प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त सिद्धान्त परक ग्रन्थों में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की मध्यकालीन धर्म साधना तथा परशुराम चतुर्वेदी की 'मध्य-कालीन प्रेम-साधना' में भी माधुर्य्य भक्ति का निर्देश मिलता है। गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित कल्याण (मासिक पत्र) में छपा गोपीनाथ कविराज का लेख 'भक्ति-रहस्य' तथा हनुमानप्रसाद पोद्दार का लेख 'राधा-तत्त्व' भी महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक-सामग्री की दृष्टि से ब्रह्मचारी बिहारीशरण की पुस्तक 'निम्बार्क माधुरी' और वियोगी हरि के संकलन 'ब्रजमाधुरी-सार' का उल्लेख किया जा सकता है।

अन्य भाषाओं में प्रस्तुत विषय पर लिखे गए ग्रन्थों में दो ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से प्रथम श्री सुशील कुमार डे का अंग्रेजी ग्रन्थ 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट इन बंगाल' है। डा० डे ने इस ग्रन्थ में गौड़ीय सम्प्रदाय के षट्गोस्वामियों तथा अन्य विद्वानों के प्रमुख ग्रन्थों का सारांश देते हुए उनके भक्ति-सिद्धान्त का शास्त्रीय शैली से अच्छा परिचय कराया है। यद्यपि यह ग्रन्थ सर्वांश में मौलिक नहीं है, किन्तु इसकी विषय-प्रतिपादन शैली ऐसी है कि मूल-ग्रन्थों को समझने में अत्यधिक सहायता मिलती है। दूसरा ग्रन्थ मराठी भाषा का—'मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति' है। इस ग्रन्थ के लेखक श्री प्रह्लाद नरहर जोशी ने माधुर्य्य भक्ति को मानस-शास्त्रीय कसौटी पर कसा है और इस प्रकार उसे मनोविज्ञान पर आधारित सिद्ध किया है।

प्रबन्ध की मौलिकता

ऊपर हिन्दी के जिन आलोचनात्मक या गवेषणात्मक ग्रन्थों की चर्चा की गई है, वस्तुतः माधुर्य्य भक्ति उनका मुख्य विषय नहीं था। इस कारण विद्वान् लेखकों ने अपने वर्ण्य सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के सामान्य सिद्धान्तों की विवृति तक ही अपने को सीमित रखा है। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में ब्रजमण्डलीय सभी सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को प्रस्तुत कर उनके सिद्धान्तों की पारस्परिक तुलना द्वारा ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य की माधुर्य्य भक्ति को व्यापक धरातल पर समझने का प्रयास किया है। माधुर्य्य भक्ति का प्रचार एवं प्रसार करने वाले ब्रजमण्डल के सभी सम्प्रदायों की मधुर उपासना का मूल भाव एक होते हुए भी उनमें मौलिक अन्तर है। यह अन्तर समस्त सम्प्रदायों के भक्ति तत्त्व को तुलनात्मक शैली द्वारा प्रस्तुत करने से स्पष्ट हो सकता है। अतः हमने अपने अध्ययन में

तुलानात्मक दृष्टि को प्रमुख स्थान दिया है। सिद्धान्त-प्रतिपादन में अनुवाद ग्रन्थों पर निर्भर न रहकर मूल संस्कृत और ब्रजभाषा-ग्रन्थों का विशेष रूप से आश्रय ग्रहण किया है।

माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उसके तीन आधारों की चर्चा की जाती है—(१) दार्शनिक आधार, (२) साहित्यिक आधार और (३) मानस-शास्त्रीय आधार। उपर्युक्त ग्रन्थों में से किसी में भी तीनों आधारों का समान भाव से ग्रहण नहीं किया गया। किसी में दार्शनिक दृष्टि पर विशेष बल है तो दूसरे में केवल मनोविज्ञान को प्रमुख स्थान प्राप्त है। प्रस्तुत प्रबन्ध में हमने माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये उसके दार्शनिक, साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक—तीनों आधारों का विवेचन किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की अन्य विशेषता यह है कि इसमें माधुर्य्य भक्ति के ऐसे कई कवियों का साहित्यिक परिचय दिया गया है जिनसे हिन्दी साहित्य के पाठक अभी तक सर्वथा अपरिचित हैं। इनसे अपरिचित रहने का मुख्य कारण यह है कि इनकी रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित रहीं और उन पर अधिकार रहा साम्प्रदायिक विद्वानों का। फलतः ये भक्त कवि केवल सम्प्रदाय-विशेष के ही बने रहे और साहित्य को समृद्ध बनाने का उन्हें अवसर ही नहीं दिया गया। यह हर्ष का विषय है कि अब साम्प्रदायिक विद्वानों के दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन आने लगा है और ब्रजभाषा साहित्य के ऐसे अनेक अमूल्य ग्रन्थ प्रकाश में आ रहे हैं जो सिद्धान्त और साहित्य दोनों दृष्टियों से महत्त्व-पूर्ण हैं। उपलब्ध ग्रन्थों का विवेचन केवल माधुर्य्य भक्ति के दृष्टिकोण से किया गया है। उनका विशेष रूप से साहित्यिक परिचय देना निबन्ध में विषयान्तर होता, अतः कविता के भाव और भाषा गत सौन्दर्य की ओर संकेत मात्र करके काव्य-समीक्षा का विस्तार नहीं किया गया।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत प्रबन्ध बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चार अध्याय विषय की पृष्ठभूमि के रूप में हैं। कृष्ण-भक्ति का आरम्भ दिखाने के लिये हमने प्रथम अध्याय में वैष्णव धर्म और उसके विकास पर संक्षेप में विचार किया है। द्वितीय अध्याय में कृष्ण-भक्ति के विकास और उसमें माधुर्य्य भाव की स्वीकृति पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में मधुरोपासना क्यों प्रचलित हुई इसकी सामाजिक दृष्टिकोण से व्याख्या

प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अध्याय कृष्ण-भक्ति में माधुर्य्य भक्ति के आरम्भ पर शास्त्रीय दृष्टिसे प्रकाश डालता है। कृष्ण-भक्ति विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विकसित हुई। इन सम्प्रदायों के दार्शनिक मत एवं भक्ति-सिद्धान्तों में पर्याप्त मतभेद था किन्तु सभी सम्प्रदायों की साधना का प्रमुख लक्ष्य कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति ही था। अतः सोलहवीं शताब्दी में ब्रजमण्डल के सभी कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों ने कृष्ण-प्रेम-प्राप्ति का साधन केवल माधुर्य्य भक्ति स्वीकार किया। पंचम अध्याय में विस्तार से माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप और उसके दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार किया गया है। माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए मधुर उपासना के विकास पर उचित प्रकाश डाला गया है। माधुर्य्य भाव और माधुर्य्य भक्ति का अन्तर भी इसी अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

प्रबन्ध के अगले पाँच अध्याय ब्रजमण्डल के पाँच कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक अध्याय के दो भाग हैं। प्रथम भाग में सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है और दूसरे भाग में उस सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों की रचनाओं का माधुर्य्य भक्ति परक विवेचन है। इस कवि-विवेचन में सिद्धान्त निरूपण की अपेक्षा भक्त-कवियों के लीला-गान के वर्णनात्मक रूप को ही प्रस्तुत किया गया है। आशा है लीला-गान के इन पदों के आधार पर पाठक उनके साहित्यिक मर्म को बहुत कुछ समझ सकेंगे। ग्यारहवें अध्याय में मीराँबाई की चर्चा की गई है। इनका ब्रजमण्डल के किसी सम्प्रदाय से प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं था, किन्तु माधुर्य्य भक्ति के कृष्ण-काव्य को समृद्ध बनाने में इनका पर्याप्त योगदान है। अन्तिम अध्याय में 'मधुरोपासक कृष्ण-भक्त कवियों का हिन्दी साहित्य को योगदान'—इस विषय पर विचार किया गया है। प्रस्तुत प्रबन्ध का उपसंहार भी इसी अध्याय में समाविष्ट है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में माधुर्य्य भक्ति के प्रमुख कवियों में केवल उन्हीं कवियों की चर्चा की गई है जिनकी रचनाओं में या तो मधुर भाव की लीलाओं का ही वर्णन है अथवा उनका प्राधान्य है। इसी कारण वल्लभ सम्प्रदाय के सूरदास परमानन्ददास आदि कवियों की माधुर्य्य भक्ति पर प्रबन्ध में विचार नहीं किया गया। रसखान के सम्बन्ध में भी इसीलिए यहाँ कोई चर्चा नहीं की जा सकी। किन्तु हमारा यह निश्चित मत है कि उक्त कवियों ने मधुर भाव के जो पद लिखे उनका अनुशीलन करने पर कोई भी विद्वान्, जो अपने मत के प्रति दुराग्रही नहीं है, इन कवियों को माधुर्य्य भक्ति का

कवि स्वीकार करने में सङ्कोच नहीं करेगा। ऐसा होते हुए भी, परीक्षा की दृष्टि से लिखे गए प्रस्तुत प्रबन्ध में—'माधुर्य्य भक्ति के कवि'—इस शब्दावली के कारण हम उक्त कवियों की चर्चा न करने के लिए विवश थे। पर अपने मत की पुष्टि और पाठकों का इस ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए अब हम इन कवियों की परिशिष्ट में चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है। माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझने के लिये जो उप-शीर्षक बनाए गए हैं वे प्रायः सभी सम्प्रदायों के वर्णन में समान हैं। इन उप-शीर्षकों के समान होते हुए भी विषय की पुनरावृत्ति नहीं समझनी चाहिए। भक्ति, प्रेम, काम, विधि-निषेध, उपासना तत्त्व आदि मूलभूत विषयों में सैद्धान्तिक दृष्टि से पर्याप्त भेद है और उसकी अभिव्यक्ति भी प्रत्येक सम्प्रदाय में विलक्षण है। समस्त सम्प्रदायों के कतिपय साम्प्रदायिक मौलिक विचार हैं, पद्धतियाँ हैं जिसका स्पष्टीकरण प्रत्येक सम्प्रदाय के सिद्धान्त-निरूपण में समान उप-शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

सन् १९५५ ईसवी में मैंने शोध का यह कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य की पूर्ति के लिए अनेक बार वृन्दावन जाना पड़ा। ब्रज-यात्रा का मुख्य कारण यह है कि केवल ग्रन्थों के अध्ययन से माधुर्य्य भक्ति के गढ़ रहस्य का बोध नहीं हो सकता। इसे तो साम्प्रदायिक महापुरुषों के सत्संग से ही समझा जा सकता है जिन्होंने स्वयं इस विषय के मर्म का बोध अध्ययन और मनन द्वारा किया है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण यह है कि माधुर्य्य भक्ति सम्बन्धी साहित्य भी वृन्दावन के साम्प्रदायिक विद्वानों के पास पुस्तकालयों में उपलब्ध है। वृन्दावन में मुझे वाणी-ग्रन्थों के प्राप्त करने में अनेक साधु-महात्माओं ने सहायता प्रदान की। इनमें से राधावल्लभ सम्प्रदायी बाबा कृष्णदास, हरिदासी सम्प्रदाय के साधु महात्मा विश्वेश्वरशरण और गौड़ीय सम्प्रदाय के बाबा कृष्णदास जी (कुसुम सरोवर वाले) का नाम उल्लेखनीय है। इन सभी विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ। इन महात्माओं ने अपनी सहायता और सत्परामर्श से मुझे कार्य करने के लिए सदा प्रोत्साहित किया। इनके अतिरिक्त डा० दीनदयालु गुप्त जी ने लखनऊ में मुझे अपने पास सुरक्षित अष्टछाप के कई कवियों की

रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ देखने को दीं। मैं उनकी इस उदारता के लिए हृदय से आभार प्रदर्शित करता हूँ। अपने सत्परामर्श से मेरा पथ-प्रदर्शन करने वाले श्री रतनलाल सेठ और श्री ब्रजवल्लभ शरण जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ। वस्तुतः इन उदार-हृदय विद्वानों के मार्ग-प्रदर्शन से ही मेरा यह कठिन कार्य सरल बना और मैं इसे पूर्ण कर सका।

अन्त में, अपने गुरुओं के प्रति आभार प्रकाशन मेरा परम पवित्र कर्त्तव्य है। पूज्य गुरुवर डा० दशरथ ओझा जी से, जिनके निर्देशन में मैंने यह कार्य सम्पन्न किया है, सदा विषय को समझने और उसे पूर्वापर क्रम में व्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त करने में पूर्ण सहायता मिली है। उनके साथ बैठकर समय समय पर विषय सम्बन्धी जो चर्चा करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ उससे मुझे विषय को स्पष्ट करने में विशेष सहायता मिली है। श्रद्धेय ओझा जी ने अपने व्यस्त कार्यक्रम में भी समय निकालकर इस निबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने तथा सुझाव देने का जो कष्ट किया है उसके लिए मैं उनका अत्यधिक अनुगृहीत हूँ। गुरुवर ओझा जी के अतिरिक्त डा० विजयेन्द्र स्नातक जी से मुझे विषय से सम्बन्द्ध सामग्री, सुझाव, प्रोत्साहन आदि सभी कुछ प्राप्त हुआ है। सच तो यह है कि उनके सहयोग के अभाव में मेरे लिए इस निबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत कर सकना अत्यधिक कठिन था। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

भूमिका समाप्त करने से पूर्व ब्रजभक्ति के अनुयायियों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे इस प्रबन्ध के प्रतिपाद्य पर निष्पक्ष भाव से विचार करें। ब्रजमण्डल में जिस प्रकार की रागद्वेषमयी प्रवृत्ति का बोल-बाला है, मैंने उससे सर्वथा बचकर अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया है। किसी सम्प्रदाय विशेष के साथ मेरा लगाव नहीं है। मुझे तो माधुर्य्य भक्ति के सभी ग्रन्थों में भाव-विभोर करने वाली अपार शक्ति के दर्शन हुए। सभी आचार्यों और महात्माओं की वाणी से मेरा मानस समान भाव से आन्दोलित हुआ है। मेरा विनम्र निवेदन है कि ब्रज के साम्प्रदायिक सज्जन यदि निष्पक्ष भाव से माधुर्य्य भक्ति के ग्रन्थों का अनुशीलन करें तो छोटे-बड़े का भेद-भाव दूर होकर पारस्परिक सद्भाव, प्रेम, सहानुभूति और सदाशयता का वातावरण बन सकेगा।

अन्त में मेरा यही निवेदन है कि प्रस्तुत प्रबन्ध विभिन्न सम्प्रदायों के उपलब्ध वाणी ग्रन्थों के अध्ययन-अनुशीलन तथा साधु-सन्तों के सत्संग द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर लिखा गया है। उनके सत्संग से माधुर्य्य भक्ति

के स्वरूप को जैसा मैंने अपनी सामर्थ्यानुसार समझा है उसी रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न मैंने इस प्रबन्ध में किया है। यदि कहीं किसी प्रकार की त्रुटि है तो उसका मात्र कारण मेरे समझने की कमी ही है। अतः उस त्रुटि को सुधारने के लिये मैं सदैव प्रस्तुत हूँ।

—: ० :—

प्रथम अध्याय

वैष्णव धर्म और कृष्ण-भक्ति का आरम्भ

धर्म ने अपने वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि विविध रूपों में भारतीय काव्य-धारा को उसके आदि काल से प्रभावित किया है। वैदिक ऋचाओं से लेकर मध्य युग तक की काव्य-रचनाओं के अनुशीलन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय काव्य-परम्परा धर्म-भावना द्वारा अनुप्राणित होती रही है। यह प्रभाव केवल भारत की आर्य-भाषाओं—संस्कृत, हिन्दी, मराठी, बंगला आदि के साहित्य पर ही नहीं, आर्येतर भाषाओं—तामिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के काव्यों में भी लक्षित होता है। इसका कारण यह है कि भारत एक धर्म-प्राण देश है। यहाँ की पृथ्वी के कण-कण में धर्म की भावना व्याप्त है। अतः लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों की भिन्नता होते हुए भी इस देश के प्रत्येक निवासी के जीवन का 'साध्य' एक है, जिसे ब्रह्म-साक्षात्कार, ईश्वर-प्राप्ति, विष्णु-सान्निध्य, परम-पुरुषार्थ, सिद्धि, मोक्ष आदि विभिन्न नाम दिए गए हैं। वैदिक वाङ्मय में इस 'साध्य' की प्राप्ति के लिए कर्म, ज्ञान और उपासना इन तीन मार्गों का निर्देश किया गया है। निर्देश के साथ-साथ इन तीन मार्गों के समन्वय पर भी वैदिक साहित्य में पर्याप्त बल दिया गया है। यही समन्वय-बुद्धि बाद में भक्ति-पथ को प्रशस्त करने में सहायक हुई।

भगवद्भक्ति वैष्णव-धर्म की आधार शिला है। वैष्णव-धर्म का विशाल भवन भक्ति की नींव पर ही स्थिर है। भक्ति की महत्ता केवल कर्म, ज्ञान और उपासना मार्ग के समन्वय के कारण नहीं, वरन् उसकी सरलता तथा सहजता के कारण है।

सूधे मन, सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुवर प्रेम-प्रसूति॥

इस कारण वैष्णवों ने ज्ञान, कर्म और उपासना मार्ग की दुरूह एवं कष्ट-साध्य साधना का त्याग कर श्रवण, कीर्तन, दैन्य, आत्मनिवेदन आदि के सुगम माध्यम से भगवान के समीप पहुँचने का पथ खोज निकाला। और धीरे धीरे इस पथ की महत्ता बढ़ती गई, फलतः भक्ति का सोपान मध्य युग में अपेक्षाकृत अधिक आदरणीय समझा जाने लगा।

वैदिक वाङ्मय में प्रत्यक्ष रूप से अनुराग-सूचक भक्ति शब्द का प्रयोग प्रायः नहीं हुआ और भक्ति शब्द द्वारा साक्षात् उपासना का लक्ष्य भी नहीं कराया गया। किन्तु कई वेद-मन्त्रों में अभिव्यक्त अनुराग की भावना को देखते हुए यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता कि उस काल में भक्ति की कल्पना भी नहीं हुई थी। ऋग्वेद के वे मन्त्र प्राचीन ऋषियों की अनुराग भावना को स्पष्ट सूचित करते हैं, जिनमें इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि प्राकृतिक शक्तियों को पिता, माता, सखा, भ्राता आदि स्नेह-सूचक शब्दों द्वारा सम्बोधित किया गया है।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।[1]

कुछ वेद मन्त्रों में हमें उस प्रेम-लक्षणा भक्ति का आभास भी मिल जाता है जिसका विकास मध्ययुगीन कृष्ण-भक्त रसिक कवियों के 'वाणी-ग्रन्थों' में हुआ है।

पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन् मनीषाः।[2]

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि हे बलवान् (इन्द्र)! अपने पति को चाहने वाली पत्नी जिस प्रकार पति का स्पर्श करती है उसी प्रकार हमारी भावना भी तुम्हारा स्पर्श करती है। इससे स्पष्ट है कि पत्नी पति के प्रति जिस प्रेम की अभिव्यक्ति अपने स्पर्श द्वारा करती है, उसी प्रेम की अनुभूति वैदिक ऋषियों को देवताओं की स्तुति के अवसर पर होती थी। इस प्रकार के अनुराग-सूचक सभी मन्त्रों के आधार पर विद्वानों की यह निश्चित धारणा है कि **'भारतीय भक्ति-सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मन्त्रों में आदमी और देवता के बीच गाढ़े प्रेम और मित्रता की कल्पना की गई है।'**[3]

कालक्रमानुसार वैदिक-साहित्य में यह अनुराग-भावना अन्य देवताओं से हटकर विष्णु में केन्द्रित होती गई।[4] यही विष्णु-भक्ति एवं वैष्णव-धर्म का प्रारम्भ है। वैष्णव धर्म के विकास के साथ-साथ विष्णु-भक्ति केवल विष्णु तक ही सीमित न रही वरन् वह विष्णु के राम, कृष्ण आदि अवतारों का आधार लेकर विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में देश के कोने-कोने में फैल गई।

---

१. ऋग्वेद : ८।९८।११

२. ऋग्वेद : १।५७।११

३. डा० बेनीप्रसाद रचित 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' : पृष्ठ ४२।

४. विष्णु प्रमुख देवता किस प्रकार बने, इस पर हमने इसी अध्याय के अगले पृष्ठों में विचार किया है।

इससे स्पष्ट है कि विविध वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों का मूल स्रोत विष्णु-भक्ति ही है। अतः कृष्ण-भक्ति के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिये विष्णु-भक्ति के प्रारम्भिक रूप का संधान यहाँ उचित होगा।

वैदिक देवतावाद का उद्भव

वैदिक ऋषियों ने ऋचाओं के द्वारा इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि जिन शक्तियों की स्तुति की है वे विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधिमात्र हैं। इन सभी प्राकृतिक शक्तियों का मनुष्य के सुख एवं दुःख से अथवा जीवन से अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। किन्तु मनुष्य का सूर्य, चन्द्र, मेघ आदि प्राकृतिक शक्तियों पर कोई अधिकार नहीं है। ये शक्तियाँ समयानुसार उदय होती हैं और समय पर स्वयं अस्त हो जाती है। इस कारण मानव ने इन प्राकृतिक शक्तियों को अपने से श्रेष्ठ एवं दिव्य माना। और उनकी दिव्यता के कारण उन्हें देवता कहकर पुकारा। इस प्रकार वैदिक काल में हमारे पूर्व पुरुषों ने प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों की प्रतीक रूप में पूजा की। ये प्रतीक इन्द्र, वरुण, रुद्र, मरुत आदि देव रूपों में सर्वशक्तिमान सृष्टि के आदि कारण, परब्रह्म परमात्मा के ही स्वरूप समझे गए।[1]

वैदिक देवतावाद के उद्भव में मूल भावना क्या रही थी—इस विषय में पाश्चात्य और भारतीय विद्वान् परस्पर सहमत नहीं हैं। केवल तर्क को आधार स्वीकार करने वाले पाश्चात्य विद्वान् वैदिक कालीन मनुष्यों की प्राकृतिक शक्तियों की उपासना में अज्ञान को मुख्य कारण मानते हैं। उनके अनुसार आरम्भ में मनुष्य प्रकृति से सदा डरता था—क्योंकि उसके पास उससे अपनी रक्षा का कोई उचित साधन न था। अतः उसने प्राकृतिक शक्तियों को देवताओं का रूप देकर उनसे अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार इन देवताओं के उद्भव में तत्कालीन मनुष्यों की भयवृत्ति कार्य करती है और यह वृत्ति अज्ञान का ही एक रूप है।[2]

इसके विपरीत भारतीय विद्वानों की धारणा है कि देवतावाद का उद्भव ज्ञान-मूलक श्रद्धा-वृत्ति का परिणाम है। प्राकृतिक शक्तियों के दिव्य और नियमित रूप को देखकर मनुष्य के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा जागृत हुई और उसी श्रद्धा एवं विश्वास के फलस्वरूप मानव ने उनकी देवता रूप में स्तुति की। इन स्तुति-प्रार्थनाओं में व्यंजित अनुराग की भावना इसी श्रद्धा एवं विश्वास का फल है। भारतीय विद्वानों के इस मत का समर्थन पश्चिमी विद्वान्

१. महाकवि सूरदास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृष्ठ १
२. *Vedic Mythology* : Macdonnel : Page 18.

मैक्समूलर ने भी किया है।[1] इसके अतिरिक्त वैदिक मन्त्रों में विवशता का आभास कहीं नहीं मिलता। वैदिक ऋषि पूर्ण उल्लास से अपने रक्षक, मित्र तथा सुहृद देवताओं के प्रति प्रेम-पूर्ण मन्त्रों का उच्चारण करते थे। इन दोनों मान्यताओं पर विचार करने के उपरान्त तथा वैदिक-मन्त्रों में अभिव्यक्त राग-भावना को देखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि केवल भय को देवतावाद के उद्भव का मूल कारण स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता।

वैदिक देवताओं का स्वरूप

वैदिक कालीन विभिन्न देवताओं का स्वरूप प्रायः समान है। वे सभी तेज, बुद्धि, दया, शक्ति आदि से युक्त हैं। इस स्वरूप-समानता का कारण यह है कि कार्य की भिन्नता होते हुए भी वैदिक ऋषियों ने उन्हें आदिशक्ति परब्रह्म के ही रूप में देखा।[2] अतः उनके स्वरूप-वर्णन में समानता अधिक लक्षित होती है। अन्य बात यह है कि प्रकृति की एक शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। इन विभिन्न रूपों को विभिन्न देवताओं के रूप में देखा गया है किन्तु उनका स्वरूप मूल शक्ति का ही रहा है। आदित्यों के उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी। सूर्य (आदित्य) एक प्राकृतिक शक्ति है, किन्तु उसके उदयकालीन रूप को उषा, जगत् में चैतन्य लाने वाले रूप को सवितृ, दयालु रूप को पूषन् और गतिशील रूप को विष्णु स्वीकार किया गया है।

वैदिक देवताओं की संख्या

वैदिक-देवताओं की संख्या ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों में तैंतीस मानी गई है।[3] कहीं-कहीं इस संख्या को त्रिगुण एकादश भी कहा गया है। किन्तु ये तैंतीस देवता कौन-कौन से हैं—इसका इन मन्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है। अन्य कुछ मन्त्रों से यह भी स्पष्ट होता है कि इन तैंतीस देवताओं में से ग्यारह पृथ्वी के देवता हैं, ग्यारह आकाश के और शेष ग्यारह वायु (अन्तरिक्ष) एवं जल के देवता हैं।[4] ऋग्वेद के इस विभाजनक्रम को यास्क आदि विद्वानों ने

---

१. *India What It Can Teach Us* : Page 178-79.

२. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं, यमं, मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १।२।१६४

३. पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व। ऋ० ३।६।९।

४. ये देवासौ दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ।
अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम्॥ ऋ० १।१३९।११।

भी यथारूप में स्वीकार किया है, यद्यपि संख्या के सम्बन्ध में उनका मत इससे भिन्न रहा है। फर्कुहर ने ऋक्-संहिता के प्रथम नौ खण्डों में वर्णित देवताओं को उपर्युक्त विभाजनक्रम से इस प्रकार रक्खा है[1]—

१. पृथ्वी-स्थानीय—अग्नि और सोम।

२. अन्तरिक्ष-स्थानीय—इन्द्र, मरुत्, रुद्र, पर्जन्य, वायु और ऋभु।

३. द्यौस्थानीय (आकाश-स्थानीय)—सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विन्, उषा, अदिति और उसके तीन पुत्र, विष्णु, वरुण, मित्र और अर्यमान्।

इन देवताओं में से भी पृथ्वी-स्थानीय अग्नि, आन्तरिक्ष-स्थानीय वायु और इन्द्र तथा द्यौस्थानीय देवता सूर्य का स्थान विशेष था। आरम्भ में विष्णु द्यौस्थानीय सूर्य के एक रूप में ही हमारे सम्मुख आते हैं।

वैदिक काल में विष्णु

यद्यपि विष्णु वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक प्रमुख देवता स्वीकार किए गए हैं, किन्तु वे किसी प्राकृतिक शक्ति का स्वतन्त्र रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करते। आरम्भिक वेद-मन्त्रों में वे केवल सूर्य के गतिशील रूप को ही सूचित करने वाले देवता हैं। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि आरम्भ में गतिशीलता सूर्य का अनिवार्य गुण था। और सत्य तो यह है कि इसी गतिशीलता के कारण उनका नाम विष्णु पड़ा।[2] दूसरी बात यह कि विष्णु का सूर्य से अभिन्न सम्बन्ध था। वेद-मन्त्रों में विष्णु के लिए प्रयुक्त 'शिपिविष्ट' शब्द सूर्य से उनकी अभिन्नता सूचित करता है।[3] इसी प्रकार यास्क द्वारा की गई विष्णु शब्द की यह व्याख्या कि यह (विष्णु) अपनी किरणों द्वारा पृथ्वी को चारों ओर से ढक लेता है[4]—इसी तथ्य की पुष्टि करती है।

सूर्य का हिन्दू-धर्म में वैदिक काल से ही महत्त्व रहा। वैदिक साहित्य में वह सर्वत्र मानव-हितैषी के रूप में चित्रित किया गया है। प्रातःकाल उसका उदय उसी प्रकार प्रिय माना जाता था, जिस प्रकार बछड़े के पास गाय का तथा पत्नी के पास उसके प्रिय पति का आना।[5] अतः वेद-मन्त्रों में विष्णु को भी इसी दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया गया है। विष्णु दयालु है, सत्य की

---

१. *An Outline of the Religious Literature of India* : Page 10

२. *Vedic Mythology* : Macdonnel : Page 39

३. किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्रयद्वदत्ते शिपिविष्टो अस्मि। ऋ० ७।१००।६

४. विष्णुर्विशतोर्वा व्याश्नोतेर्वा। यास्क निरुक्त, १२।१९

५. गावश्च ग्रामं युयुधिरिवश्वान्वात्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः॥ ऋ० १०।१४९।४

शक्ति से युक्त है और दैवी नियमों के लिए कार्य करने वाला है। उसका प्रत्येक कार्य मनुष्य-मात्र की बाधाओं के निवारण एवं उनका हित-सम्पन्न करने के लिए है।[1] इसी प्रकार तीन डग भरने वाली घटना का विष्णु से सम्बन्ध उनकी सूर्य से अभिन्नता के कारण है। क्योंकि वास्तव में ये तीन डग सूर्य की यात्रा के तीन विभाग हैं—चाहे यह यात्रा उदय, मध्यान्ह और अस्त के रूप में हो अथवा तीन विभिन्न लोकों की हो।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि आरम्भ में विष्णु सूर्य का एक रूप स्वीकार किए गए। किन्तु समयानुसार विष्णु में सूर्य के गुणों के अतिरिक्त अन्य दिव्य-गुणों का समावेश होता रहा। इस कारण विष्णु अपने आदि रूप को स्थिर रखकर भी अपने लिए एक स्वतन्त्र देवता का स्थान बनाने में सफल हुए। यही विष्णु के सर्वप्रमुख देवता होने का मूल रहस्य है।

वैदिक विष्णु का स्वरूप

वैदिक विष्णु के चरित्र की कई विशेषतायें हैं। ऋग्वेद में विष्णु उस काल की प्रमुख आसुरी शक्तियों को नष्ट करने में देवराज इन्द्र को पूर्ण सहयोग देते हैं। उनकी अपरिमित शक्ति तथा बल के कारण वृत्र-वध के समय इन्द्र स्वयं उन्हें सहायता के लिए बुलाता है।[3] इस प्रकार मानव एवं देव रक्षक होने के कारण विष्णु को ऋग्वेद में 'अजेय रक्षक' कहकर पुकारा गया है।[4] उक्त तथ्य विष्णु के रक्षक, सहायक तथा शक्तिमान् स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

इसके अतिरिक्त विष्णु धार्मिक हैं। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ, यजमान और यज्ञस्तूप को विष्णु का रूप स्वीकार किया गया है।[5] इससे स्पष्ट है कि धार्मिक विधि-विधानों से उनका विशेष सम्बन्ध रहा है। उनके चरित्र का यह

---

१. यो रजांसि विममे पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुर्मनवे ब धिताय। ऋ० ६।४९।१३

२. प्रथम मत निरुक्त के टीकाकार अरुणनाभ का है। ह्विटनी, मैक्समूलर, ड्यूसन आदि पश्चिमी विद्वानों ने भी इसी मत का समर्थन किया है। दूसरा मत निम्न पंक्ति से स्पष्ट है—त्रिधा निधत्ते पदम्, पृथिव्यां अन्तरिक्षे दिविति शाकपूणिः। निरुक्त टीका

३ सखे विष्णो वितरं विक्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः। ऋ० ७।१००।१२

४. 'विष्णुर्गोपा अदाभ्यः' ऋग्वेद १।२२।१८

५. 'विष्णुर्यज्ञः' (५।४।५।१), 'यद्यजते तद्यजमानस्तस्मादाह विष्णोः'
(३।२।१।१७)
'विष्णवे त्वेति वैष्णवो हि यूपो' (३।६।४।९)।

पक्ष विष्णु के विकास पर उचित प्रकाश डालता है। पश्चिमी विद्वान फर्कुहर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अध्वर्यु पुरोहितों द्वारा विष्णु की यज्ञ से एक-रूपता स्थिर करना उसके सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचने की पहली सीढ़ी थी।[1] प्रायः इसी बात की पुष्टि जे० गोन्डा ने अपने इस कथन में की है—'विष्णु, धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का देवता रहा होगा, यह बात हमें निश्चित तथ्य के रूप में स्वीकार कर लेनी चाहिए। अन्यथा बुराइयों का निवारण तथा अच्छाइयों को प्रदान करने वाली यज्ञ जैसी एक बड़ी शक्ति के साथ उसका ऐक्य कभी भी स्थापित न किया गया होता।'[2] अतः हिन्दू धर्म के देवतावाद में विष्णु का सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त कर लेना एक आश्चर्यजनक घटना नहीं मानी जा सकती। उसके लिए वैदिक साहित्य में ही आधार भूमि तैयार होती दिखाई देती है।

विष्णु के स्वरूप का अन्य गुण उनकी तेजशीलता है। यह तेजशीलता विष्णु में आरम्भ से स्वीकार की गई है—क्योंकि वे सूर्य के ही एक रूप थे। और सूर्य को स्वर्ग की अग्नि कहा गया है। किन्तु यज्ञ से विष्णु का ऐक्य हो जाने पर उनका अग्नि से, जो वैदिक साहित्य में तेज का देवता स्वीकार किया गया है, घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। और इस प्रकार विष्णु का तेजोमय रूप और भी निखर उठता है।

विष्णु वैदिक काल के लोकप्रिय देवता थे—यह उनकी अन्य विशेषता है। उनकी लोकप्रियता का आधार उनकी दयालुता, रक्षकता आदि गुण रहे होंगे। किन्तु हमारा विचार है कि विष्णु के इन लोक-हितैषी कार्यों के परिणामस्वरूप तत्कालीन जनता ने उन्हें अपने अधिक समीप लाने के लिए जो स्वरूप दिया वह भी बाद में उनकी लोकप्रियता में सहायक सिद्ध हुआ। वैदिक साहित्य में विष्णु को जीवन के आधारभूत तत्त्वों के साथ एकरूप करके देखने की चेष्टा स्पष्ट लक्षित होती है। अन्न मानवमात्र के जीवन का आधार है। अतः उसे विष्णु-रूप स्वीकार किया गया।[3] यही बात हम घृत[4] और मधु[5] के विषय में कह सकते हैं। इस प्रकार मनुष्य-मात्र से जितना घनिष्ठ सम्बन्ध विष्णु का

---

१. An outline of the Religious Literature of India : Page 21.

२. Aspects of Early Vishnuism : Page 77

३. 'यत्तदन्नमेष स विष्णुः'—शतपथ ब्राह्मण ७। ५। १। २१

४. अथर्ववेद ७। २। ७। ३

५. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।—ऋ० १। १५४। ४

हो गया—उतना अन्य देवताओं का न हो सका। इसीलिए विष्णु को अन्य देवताओं से अधिक आदर प्राप्त हुआ। लोकप्रिय होने के साथ-साथ सूर्य रूप होने के कारण विष्णु सर्वव्यापक हैं। अन्य देवताओं को सर्वव्यापकता की शक्ति जिसे शतपथ ब्राह्मण में 'विक्रान्ति' कहा गया है, विष्णु से ही प्राप्त होती है।[1] इन्हीं विशिष्ट गुणों के आधार पर विष्णु को देवताओं में श्रेष्ठ कहा गया है।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णु का स्वरूप कई गुणों से युक्त है। उसमें एक ओर अपने मूल रूप सूर्य की दयालुता, रक्षकता, सर्वव्यापकता आदि गुण हैं तो दूसरी ओर इन्द्र की युद्ध-कुशलता एवं शक्तिमत्ता, अग्नि का तेज, वरुण की धार्मिकता, सोम की पवित्रता आदि अन्य देवताओं के गुणों का भी समावेश है। और इन सबसे अधिक उसका अपना निजी गुण है—लोकप्रियता, जिसके कारण वह मानव-मात्र के हृदय में स्थान पा सका। तात्पर्य यह है कि विष्णु के चरित्र में सभी वैदिक कालीन प्रमुख देवताओं की शक्तियों और गुणों का समाहार है और इसीलिए वे वैदिक-साहित्य के प्रमुख देवता कहे जा सकते हैं।

विष्णु तथा अन्य वैदिक देवता

विष्णु का उक्त स्वरूप उनके अन्य देवताओं के साथ सम्बन्ध को भी सूचित करता है। योद्धा होने के कारण इन्द्र से उनका सम्बन्ध स्पष्ट है। वेद-मन्त्रों में कहीं-कहीं इन्द्र और विष्णु को जगत का स्वामी कहा गया है। वैसे वे इन्द्र के सखा माने गए हैं।[3] इन्द्र के अतिरिक्त विष्णु का वरुण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वरुण धर्म के देवता हैं और विष्णु के चरित्र में धार्मिक पक्ष पूर्ण रूप से है। इसी कारण यह कहा गया है कि जो कुछ भी दीप्तिमान् है, वह वरुण और विष्णु के कारण है। जहाँ विष्णु यज्ञ समुद्भूत दोषों से रक्षा करते हैं, वहाँ वरुण यज्ञ से प्राप्त धन को सुरक्षित रखते हैं।[4] इसी प्रकार अग्नि और सोम से भी विष्णु का सम्बन्ध वेद-मन्त्रों द्वारा सूचित होता है। उक्त देवताओं के अतिरिक्त प्रजापति और यज्ञ से भी विष्णु का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रजापति का उल्लेख ऋग्वेद के कई मन्त्रों में हुआ है। सर्वप्रथम प्रजापति

---

१. विष्णुः स देवेभ्यः इमां विक्रान्तिं विचक्रमे। श० ब्रा० १।९।३।९

२. 'विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति।'—श० ब्रा० १४।१।१।५

३. इन्द्रस्य युज्यः सखा।—ऋग्वेद १।२२।१९

४. अथर्ववेद, ७-१४-४

शब्द का प्रयोग 'सूर्य' और 'सवितृ' के विशेषण के रूप में किया गया है।[१] किन्तु बाद में वे सृष्टि के देवता स्वीकार किए गए। इसी रूप में विष्णु और प्रजापति को समान दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने देखा है। विष्णु गर्भ की रचना में सहायता करते हैं और प्रजापति गर्भ की रक्षा करते हैं।[२] ब्राह्मण काल में सृष्टि के देवता प्रजापति ही ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

वेदों में यज्ञ नामक किसी देवता का उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु ब्राह्मण काल में यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व रहा। शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को प्रजापति[३] और सबकी आत्मा स्वीकार किया गया है।[४] ऐसा मानने का कारण यह है कि ब्राह्मण काल में यज्ञ नामक शक्ति का विकास हुआ। तत्कालीन जनता के सभी कार्य यज्ञ पर निर्भर माने जाते थे। अतः उस काल में बार्थ के अनुसार यज्ञ-शक्ति इतनी प्रबल हो उठी थी कि उसके सम्मुख सभी दैवी शक्तियाँ नगण्य हो गई।[५] ब्राह्मण काल की इस प्रमुख शक्ति के साथ भी विष्णु को अभिन्न करके देखा गया। यह बात जहाँ दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को सूचित करती है—वहां विष्णु के महत्त्व को भी। यज्ञ-रूप होने के कारण विष्णु से यज्ञ और याज्ञिकों के लिए कई स्थलों पर धन की प्रार्थना की गई है।[६] तात्पर्य यह है कि वैदिक-साहित्य में जितने भी प्रमुख देवताओं का उल्लेख मिलता है उन सभी के साथ विष्णु का घनिष्ठ सम्बन्ध है। विष्णु ने उनसे केवल सम्पर्क-मात्र स्थापित नहीं किया वरन् उनके प्रमुख गुणों को अपनाने की भी चेष्टा की। यही कारण है कि वे ब्राह्मण काल में सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण देवताओं में श्रेष्ठ स्वीकार किए गए।

उपनिषदों में वैदिक देवतावाद को विशेष प्रश्रय नहीं मिला। यहाँ **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'**—कहकर एक ही शक्ति व देव को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार के प्रयास का संकेत हमें ऋग्वेद

---

१. दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गा द्रापिं प्रति मुंचते कविः।
विचक्षणः प्रथयन्नापृणन्नुर्वीजीजन्त्सविता सुम्नमुक्थ्यम्॥—ऋ० ४। ५३। २

२. विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिंचतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु मे॥ ऋ० १०। १८४। १

३. 'प्रजापतिर्यज्ञः'—श० ब्रा० ११। १। ८। ३।

४. 'सर्वेषां वा एष भूतानां। सर्वेषां देवानां आत्मा।'
—श० ब्रा०

५. *The Religions of India* : Page 47.

६. ऐत्तरेय ब्राह्मण—३। ३८

के इस मन्त्र—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' में मिल जाता है। अतः उसी आधार को ग्रहण करते हुए उपनिषदों में ब्राह्मणकालीन ब्रह्म नामक शक्ति को अपनी आत्मा के रूप में ढूँढने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु फिर भी उपनिषद् काल में विष्णु को सर्वथा भुला नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों की तो यह मान्यता है कि उपनिषद् काल में वैदिक देवताओं में से विष्णु ही मात्र श्रेष्ठ देवता बच रहते हैं।[1] **'इस तरह उपनिषद् में विष्णु को क्रमशः मनुष्य के अधिक सान्निध्य में रखा गया और वैष्णव भक्तों के परम देवता की स्थापना हुई।'**[2] अतः भागवत धर्म के प्रचलित होने पर समयानुसार विष्णु को उस धर्म में इष्टदेव के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

वैदिक वाङ्मय में ऊपर उल्लिखित देवताओं के अतिरिक्त नारायण नामक एक अन्य देवता का उल्लेख भी मिलता है। ऋग्वेद में सृष्टि-निर्माण की कथा के प्रसंग में नारायण की ओर संकेत किया गया है।[3] इसी प्रकार शतपथ और तैत्तरीय ब्राह्मण में इनसे सम्बन्धित घटनाएँ मिल जाती हैं। शतपथ ब्राह्मण में वह पांचरात्र सत्र के द्वारा अन्य देवताओं से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने में प्रयत्नशील दृष्टिगत होते है।[4] इस प्रकार की घटनाओं से ऐसी धारणा बनायी जा सकती है कि नारायण एक स्वतन्त्र देवता थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि विष्णु को अधिक आकर्षक रूप में अपने पास लाने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही विष्णु की नराकार भावना नारायण के रूप में की गई। इसी तथ्य की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने निबन्ध 'भक्ति का विकास' में संकेत किया है।[5] महाभारत में नारायण के रूप में विष्णु का प्रचुर मात्रा में वर्णन इसी बात की पुष्टि करता है। पुराणों में भी सूर्य रूप विष्णु और नारायण के ऐक्य को स्वीकार किया गया है।

ध्येयः सदा सवितृ मण्डल मध्यवर्ती—
नारायणः सरसिजासन सन्निविष्टः।

---

१. Religions of India : Hopkins : Page 460.

२. महाकवि सूरदास : आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : पृष्ठ ८

३. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य'
—डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ ६।

४. पुरुषो ह नारायणोऽकामयत। अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेद सर्वस्यामिति स एतं पुरुषमेधं पंचरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहत्तैनायजत।—१३।५।१।१।

५. देखिए 'सूरदास' (भक्ति का विकास)
—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ २० से ३० तक

किन्तु वैदिक विष्णु और महाभारत के नारायण में थोड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम का यज्ञादि के रूप में आराधन किया गया है वहाँ नारायण का भक्ति की ओर अधिक झुकाव लक्षित होता है। यही कारण है कि भागवत, सात्त्वत, पांचरात्र आदि वैष्णव धर्म के विविध रूपों का सम्बन्ध आरम्भ में नारायण के साथ ही रहा और तदुपरान्त धीरे-धीरे विष्णु से इन्हें सम्बन्धित करके देखा गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक विष्णु और भक्तियुगीन विष्णु में सूक्ष्म अन्तर अवश्य है—किन्तु परवर्ती विष्णु की कल्पना का आधार वही पुराना था। इसी मान्यता की पुष्टि आधुनिक भारतीय[1] और पश्चिमी विद्वानों ने की है।[2]

भागवत, सात्त्वत आदि वैष्णव धर्म

भागवत, सात्त्वत, पांचरात्र आदि वैष्णव धर्मों का, जिन्हें नारायण की उपासना का सम्प्रदाय भी कहा गया है, सर्वप्रथम वर्णन हमें महाभारत में मिलता है। महाभारत में शान्ति पर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों तथा भीष्म पर्व में वर्णित 'नारायणीयोपाख्यान' में इन वैष्णव धर्मों के विषय में चर्चा की गई है। वैष्णव भक्ति के विकसित रूप का दर्शन हमें महाभारत के इन्हीं सम्प्रदायों में तथा उनकी स्पष्ट रूप से विवेचना करने वाले नारायणीयोपाख्यान में मिलता है। उक्त आख्यान के अनुसार इस कल्प के पहले ही भागवत धर्म का उपदेश भगवान् ने नारद को किया था। एक बार नारद बद्रिकाश्रम गए जहाँ नर और नारायण, जो परमात्मा के अवतार थे, तप कर रहे थे। नारद ने नारायण से पूछा कि आप तो स्वयं परमेश्वर हैं, आप किसकी उपासना कर रहे हैं। नारायण ने कहा मैं अपनी प्रकृति की उपासना कर रहा हूँ। नारद वहाँ से मेरु पर्वत पर पहुँचे जहाँ उन्हें विचित्र आकार के श्वेत वर्ण के मनुष्य मिले जो भगवान् की भक्ति में लीन थे। उन लोगों का परिचय कराते हुए महाभारतकार ने फिर भीष्म के मुख से कहलाया है कि इस भागवत धर्म के आदि प्रवर्त्तक चित्रशिखंडीगण (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ) तथा स्वायंभुव मनु थे। फिर क्रमशः यह विद्या बृहस्पति को प्राप्त हुई जिसने इसका उपदेश वसु उपरिचर नामक धर्मात्मा भक्त राजा को दिया। राजा में पूर्ण भक्ति का आविर्भाव हुआ। एक बार उक्त राजा ने आरण्यकों के

---

१. *The Early History of Vaishnava Sect*
—Dr. Ray Chaudhary : Page 18-19

२. *Aspect of Early Vishnuism* : J. Gonda : Page 122.

अनुसार एक अहिंसात्मक अश्वमेध यज्ञ किया जिसमें कोई पशु नहीं मारा गया। इस यज्ञ में स्वयं यज्ञपुरुष भगवान् या हरि ने आकर अपना भाग लिया। पर वे वसु उपरिचर के अतिरिक्त और किसी को न दिखाई पड़े। इस पर बृहस्पति बहुत अप्रसन्न हुए पर प्रजापति के पुत्रों ने उन्हें समझाया कि बिना पूर्ण भक्ति के भगवान् का दर्शन नहीं हो सकता।

वसु उपरिचर के इस प्रसंग के उपरान्त फिर नारद की कथा है। वे मेरू से श्वेत द्वीप गए जहाँ भगवान् ने उन्हें एकान्ती (अनन्य भक्त) देखकर दर्शन दिया और वासुदेवोपासना या भागवत धर्म का उपदेश दिया। वासुदेवोपासना के इस धर्म में वासुदेव ही परब्रह्म परमात्मा हैं, वे आत्माओं के भी आत्मा हैं, वही सृष्टि कर्त्ता हैं। सङ्कर्षण वासुदेव के ही रूप हैं तथा जीवमात्र के प्रतीक हैं। मनस्तत्त्व के प्रतीक प्रद्युम्न सङ्कर्षण से तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध प्रद्युम्न से ही निकले हैं। इस तरह सङ्कर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध वासुदेव की ही मूर्तियाँ हैं। देवता, मनुष्य तथा अन्य पदार्थों की उत्पत्ति वासुदेव से ही होती है और वे उन्हीं में लीन हो जाते हैं। वासुदेव के वाराह, नृसिंह, परशुराम और रामचन्द्र—ये अवतार हो चुके है तथा कंस आदि असुरों को मारने के लिए वे फिर अवतार लेंगे।

वसु उपरिचर तथा नारद के उपर्युक्त आख्यान साधना क्षेत्र में क्रमशः दो विकासोन्मुखी सोपान हैं। वसु के आख्यान में वासुदेव और उनके तीन रूपों का कोई उल्लेख नहीं है। वहाँ सर्वशक्तिमान् परमात्मा को हरि कहा गया है, जिनकी पूजा का विधान अग्नी यज्ञ से सम्बन्धित है। द्वितीय उपाख्यान में वासुदेव, उनके बड़े भाई, लड़के तथा नाती पूजनीय बताये गए हैं। इस नये धर्म को गीता के प्रतिपादित धर्म के समान कहा गया है। इस धर्म के आद्य-प्रवर्तक स्वतः नारायण हैं। पहले उपाख्यान वाले धर्म मार्ग के प्रवर्तकों का कोई प्राचीन ऐतिहासिक उद्भव नहीं बताया गया है। इन बातों से विदित होता है कि उपर्युक्त उपासना पद्धति की स्थापना बहुत प्राचीन समय में हो चुकी थी, जिसे सुनिश्चित तथा सुव्यवस्थित स्वरूप गीता में प्राप्त हुआ। इस धर्म के मानने वाले आगे चलकर सात्वतों से मिल गए।[१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत के समय तक नारायण या नराकृति भगवान् की गूढ़ भक्ति गुह्य या रहस्य के रूप में एक विशेष समुदाय के बीच में परम्परा द्वारा चली आ रही थी। कालान्तर में भगवान् के नारायण रूप का

१. *Collected Works of Bhandārkar* : Vol. IV : Page 6.

स्थान वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया और इस प्रकार मूल नारायणी धर्म को महाभारत काल में सुनिश्चित और सुव्यवस्थित रूप प्राप्त हुआ तथा इसका प्रसार भी अधिक हो गया। भागवत धर्म लोक-कल्याण पक्ष लेकर चला हुआ प्रवृत्ति मार्ग है। इसमें उपासना के लिए ब्रह्म का वह सगुण रूप लिया गया। जिसकी अभिव्यक्ति रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप में होती है। अतः इस धर्म में उपास्य नारायण या वासुदेव हुए। किन्तु ब्रह्म के इस स्वरूप को ग्रहण करके भी उसमें सगुण-निर्गुण, व्यक्त-अव्यक्त, मूर्त-अमूर्त सभी को अन्तर्भूत किया गया। इस प्रकार भागवत धर्म के उपासकों और भक्तों के लिए सर्वसाधारण के बीच वह पाखण्ड खड़ा करने का मार्ग सदा के लिए रोक दिया गया कि हमने ब्रह्म को पूर्ण रूप से जान लिया। भगवान् के इस रूप को जानने के लिए प्रेम की परम आवश्यकता इस धर्म में स्वीकार की गई है। कृष्णोपासक वैष्णव सम्प्रदाय का विकास इसी से समझना चाहिए।

पांचरात्र, भागवत, सात्वत आदि वैष्णव धर्मों के प्रचलन का समय अधिकांश विद्वानों ने ईसा पूर्व स्वीकार किया है। डा० वूलर के अनुसार ये धर्म जैन धर्म के आरम्भ होने से बहुत पहले ईसापूर्व आठवीं शताब्दी में प्रचलित थे।[1] पालि साहित्य के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सेनार्ट ने बौद्ध-साहित्य में गृहीत विष्णु-भक्ति के तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए यह मत प्रकट किया है कि भागवत धर्म की स्थापना बुद्ध धर्म के बहुत पहले हो चुकी थी।[2] इसी प्रकार का आशय बार्थ ने भी अपनी पुस्तक 'रिलीजंस ऑफ इन्डिया' में व्यक्त किया है।[3]

उक्त भागवत, सात्वत, पांचरात्र आदि सभी वैष्णव धर्मों में नारायण या वासुदेव की उपासना का निर्देश किया गया है। विद्वानों के अनुसार वासुदेव कृष्ण ने अपनी सत्वत (यादव) जाति में सबसे पहले इस नारायणीय (पांचरात्र) धर्म का प्रचार किया था—इस कारण यह धर्म सात्वत धर्म कहलाया।[4] महाभारत के आदि पर्व में सात्वतों का वर्णन हुआ है और एक स्थल पर वासुदेव को सात्वत भी कहा गया है। अतः यह सम्भव है कि

१. *The Indian Antiquity* : Vol. 23 (1894) : Page 248

२. लोकमान्य तिलक की गीता-रहस्य नामक पुस्तक से उद्धृत : सैनार्ट—'इ० इण्डियन इंटरप्रैटर' जनवरी (१९१०) अक्टूबर (१९०९) : पृष्ठ १७७-७८।

३. *The Religions of India* : Page 290.

४. 'गीता-रहस्य'—तिलक : पृष्ठ ५४६-४७ और *Encyclopaedia of Religions and Ethics* : Ed. Hastings, Vol—2 : Page 541.

वासुदेव आरम्भ में किसी विशेष जाति के नेता रहे हों और कालान्तर में उनकी मृत्यु के उपरान्त उन्हें उपास्य का स्थान प्राप्त हो गया हो। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों का अनुमान है कि भागवत धर्म के प्रचार के साथ वैष्णव-यज्ञों में हिंसा करना वर्ज्य समझा जाने लगा था और इस प्रकार यज्ञों में सत्त्व गुण का आधिक्य रहता था। **"यज्ञ करने वाले सत्त्वगुण भूयिष्ठ होने के कारण 'सात्त्वत' नाम से प्रसिद्ध हो गए। इसलिए वैष्णव धर्म का नाम 'सात्त्वत' धर्म पड़ा।"**[1]

विद्वानों ने पाणिनी-सूत्रों के आधार पर यह स्थिर किया है कि ईसा से सातवीं शती पूर्व वासुदेव की पूजा प्रचलित थी।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वासुदेव-भक्ति के तात्त्विक निरूपण का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ भगवद्गीता है, जो महाभारत का एक अङ्ग है।[3] अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वासुदेव-भक्ति महाभारत काल तक प्रचलित हो चुकी थी।

पद्मतन्त्र के एक श्लोक के अनुसार उक्त भागवत, सात्त्वत, पांचरात्र आदि धर्म एक हैं।[4] वास्तव में जब वासुदेव भगवान् के रूप में प्रतिष्ठित हो गए तब उनकी भक्ति के धर्म को 'भागवत धर्म' की संज्ञा दी गई। क्योंकि यह धर्म आरम्भ में सत्वत (यादव) जाति में प्रचलित हुआ था, इस कारण इसे 'सात्त्वत धर्म' भी कहा गया। किन्तु ईसा की तीसरी शती के आसपास जब इस धर्म के भक्ति सिद्धान्तों को चार वेदों और सांख्य योग के आधार पर दृढ़ रूप दिया गया तब भागवत धर्म 'पांचरात्र धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तात्पर्य यह है कि पांचरात्र आदि धर्म भागवत धर्म के ही विकसित रूप हैं। भागवत धर्म के विषय में महाभारत में यह कथा आती है कि इस धर्म को नारद ने स्वयं नारायण से ग्रहण किया था। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म के इन विविध रूपों का सम्बन्ध महाभारत काल में नारायण से स्थापित हो

---

१. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार : कृष्णदत्त भारद्वाज : कल्याण वर्ष १६, अङ्क-४।

२. डा० भाण्डारकर (वैष्णविज्म और शैविज्म) और हेमचन्द्र राय चौधरी (अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सैक्ट पृष्ठ २४) ने पाणिनी के इस सूत्र 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' के आधार पर इस मत को स्थिर किया है।

३. सूरदास (भक्ति का विकास) : पृष्ठ २६।

४. सूरि सुहृद् भागवतः सात्त्वतः पंचकालविद्।
एकान्तिकस्तन्मयश्च पंचरात्रिक इत्यपि ॥—पाद्मतंत्र, ४।२।८८

चला था। और नारायण का महाभारत में विष्णु-रूप में वर्णन कई स्थलों पर हुआ है (समुद्र-मंथन की घटना)[1]। अतः भागवत धर्म से विष्णु का सम्बन्ध महाभारत में स्पष्ट सूचित होता है। इस मत की पुष्टि महाभारत के उस श्लोक से हो जाती है जिसमें भगवद्भक्तों के लिए 'वैष्णव' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] किन्तु यह बात निश्चित है कि इस समय तक भागवत धर्म में पूज्य वा उपास्य नारायण या वासुदेव थे—यद्यपि बाद में विष्णु के साथ इनका (वासुदेव का) ऐक्य स्थापित करने की चेष्टा पूर्ण सफलता के साथ की गई।

वासुदेव और कृष्ण

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भागवत धर्म के मूल प्रवर्तक नारायण थे। किन्तु कालान्तर में वासुदेव से इन्हें अभिन्न करके देखा गया। कुछ स्थानों पर वासुदेव का वासुदेव कृष्ण के रूप में भी उल्लेख किया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में एक स्थान पर यह कहा गया है कि सात्त्वत या भागवत धर्म का उपदेश सबसे पहले वासुदेव कृष्ण ने अर्जुन को दिया।[3] यहाँ वासुदेव और कृष्ण दो पृथक् व्यक्ति न होकर एक ही हैं। किन्तु सर भाण्डारकर ने इन दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। उनकी धारणा है कि प्रारम्भ में ये दो पृथक् अस्तित्व वाले देवता थे जो बाद में एक हो गये। इसके अतिरिक्त उनका कहना है कि भागवत धर्म में स्वीकृत कृष्ण केवल एक व्यक्तित्व के देवता नहीं हैं वे पृथक्-पृथक् चरित्र वाले कृष्ण नामक कई व्यक्तियों का सम्मिलित रूप हैं। पर उनके इस मत को परवर्ती विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया। महाभारत में जिस कृष्ण का वर्णन है वह एक ही है, उनके नाम चाहे अनेक हों। श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता रहस्य में इस विषय में लिखा है—**"हमारा मत यह है कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नहीं हुए वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुष थे।"** गीता-रहस्य की टिप्पणी में इस विषय को तिलक जी ने और अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि **"डा० भाण्डारकर अपने "वैष्णव शैव आदि पंथ" सम्बन्धी अंग्रेजी ग्रन्थ में इसी मत को स्वीकार किया है (कि कृष्ण कई हैं) परन्तु हमारे मत में यह ठीक नहीं है। यह बात नहीं कि गोपियों की कथा में जो शृंगार का**

१. महाभारत—१।१७।१

२. अष्टादश पुराणां श्रवणाद्यत्फलं भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवोनात्र संशयः॥ महाभारत, १८।६।६७

३. महाभारत शान्ति पर्व : अध्याय ३४७–४८।

वर्णन है वह बाद में न आया हो, परन्तु केवल उतने ही के लिए यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न भिन्न पुरुष हो गये और इसके लिए कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार भी नहीं है।'[1] हेमचन्द्र राय चौधरी ने अपने वैष्णव धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ में कृष्ण और वासुदेव का पार्थक्य स्वीकार नहीं किया है।[2] बौद्ध[3] और ग्रीक[4] (यवन) ग्रन्थों से भी कृष्ण और वासुदेव की एकता सूचित होती है। अतः स्पष्ट है कि भागवत-धर्म के उपास्य वासुदेव-कृष्ण एक ही व्यक्ति थे।

वासुदेव और विष्णु

यद्यपि वैदिक विष्णु का सम्बन्ध यज्ञों से था और वासुदेव का भक्ति से, किन्तु वैदिक विष्णु में मानव-हित, रक्षकता, दयालुता आदि गुणों के कारण लोक-मंगल का तत्त्व बराबर विद्यमान था। इसी प्रकार वासुदेव में भी आरम्भ से लोक-मंगल का तत्त्व स्वीकार किया गया था। इस समानता के आधार पर दोनों देवता काल-क्रम से एक दूसरे के समीप आते चले गए और यज्ञों के स्थान पर भक्ति-धर्म की स्वीकृति के साथ साथ विष्णु और वासुदेव को एक स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार की एकता का संकेत हमें महाभारत के इस श्लोक में मिलता है :—

सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यं विधिमास्थितः।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते॥[5]

वासुदेव और विष्णु की यह एकता ईसवी सन् के प्रारम्भ में सर्वमान्य हो चुकी थी—ऐसा इस काल के बेसनगर वाले गरुड़ध्वजीय शिला लेख से पता चलता है।[6] वासुदेव से एक हो जाने के बाद विष्णु केवल यज्ञादि द्वारा आराध्य देव नहीं रह गए, वरन् दैनिक जीवन के कार्यकलाप में भी उनकी व्यापक एवं कल्याण-कारिणी शक्ति का अनुभव किया जाने लगा। इस प्रकार वैदिक विष्णु

---

१. श्री तिलक कृत गीता-रहस्य : पृष्ठ ५४८ (पादटिप्पणी सहित)।
२. *'Early History of Vaishnava Sect'—Dr. Ray Chaudhary* : Page 36.
३. 'जातक'—सम्पादक कौवेल : ग्रन्थ—४ : पृष्ठ ५४।
४. *Ancient India As Described By Magasthenese and Aryans* : Page 201.
५. महाभारत : शान्तिपर्व अध्याय ३४७, श्लोक ४८
६. *"List of Brahmi Inscription"*—Luders : No 669

के विपरीत भक्ति युगीन विष्णु में लोकरंजन और लोकसंग्रह वाला कल्याण-कारी पक्ष ही उभरा है।

अवतारी विष्णु और अवतारवाद

वासुदेव-पूजा को स्वीकार करने वाले भागवत धर्म के दो मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) परमात्मा (वासुदेव) अपनी इच्छा से अनेक रूप धारण करते हैं और (२) दीर्घकाल पर्यन्त अनन्यचित्त होकर भगवान् (वासुदेव कृष्ण) का भजन करने से क्लेश की निवृत्ति हो जाती है और भगवत्प्राप्ति एवं मोक्ष-लाभ होता है। इनमें से प्रथम सिद्धान्त के आधार पर व्यूहवाद की कल्पना की गई। महाभारत के शान्तिपर्व में भागवत धर्म के चतुर्व्यूह का उल्लेख मिलता है। यहाँ परमात्मा को वासुदेव, जीव को सङ्कर्षण, मन को प्रद्युम्न और अहङ्कार को अनिरुद्ध कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि व्यूहवाद का आधार बिल्कुल दार्शनिक है। अतः सामान्य जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु बाद में बौद्ध और जैन धर्म के प्रचार एवं प्रसार के साथ भागवत धर्म को लोक-जीवन के अधिक निकट लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी आवश्यकता को सम्मुख रखते हुए भागवत धर्म में व्यूहवाद से इतर अवतारवाद का प्रचलन हुआ। विद्वानों का विचार है कि यद्यपि अवतारवाद का विकास बाद में हुआ, किन्तु उसका आधार वेदों में मिल जाता है। **'वेदों में ब्रह्म की निराकार रूप में पुरुष सूक्त द्वारा स्तुति की गई है। वैष्णव भक्ति में उपास्य के प्रति जिस स्वजन भावना तथा जिस परिचय-सामीप्य की आवश्यकता होती है, उसी की पूर्ति के लिए जिस अवतारवाद के सिद्धान्त का आगे आविर्भाव हुआ, उसका आधार पुरुष सूक्त में है।'**[1] 'विष्णु इन वेदाज़' नामक अपने ग्रंथ में दण्डेकर ने इसी बात की पुष्टि की है।[2] वेदों में मानव हित के लिए विष्णु का ऐच्छिक रूप धारण करने और तीन डग भरने वाली कथाएँ अवतारवाद की भावना की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं। धीरे धीरे अवतारवाद की इस भावना का विकास होता रहा और बाल्मीकि रामायण में हमें ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रामायण काल तक अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। ब्रह्म का अवतार मानव धर्म के रक्षणार्थ, दुष्टों के दलनार्थ तथा भक्तों के रंजनार्थ होता है।[3] गीता के ये श्लोक भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं—

---

१. महाकवि सूरदास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृष्ठ ३
२. *Vishnu in Vedas* : Dandekar : Page 95
३. 'नष्ट धर्म व्यवस्थानां काले काले' : बा. रा. ७-८-२७

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥[1]

भागवत धर्म में अवतारवाद का प्रचलन वासुदेव-कृष्ण और विष्णु के ऐक्य हो जाने के बाद हुआ। आरम्भ में इस प्रकार की परिस्थिति कभी उपस्थित नहीं हुई, जिसमें वासुदेव के अवतारों की आवश्यकता पड़ती। क्योंकि वासुदेव स्वयं धर्म प्रवर्तक थे—अतः उनका स्थान सदा पूज्य और आदरणीय रहा। किन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त भागवत धर्म धीरे धीरे लोक-जीवन से दूर हटता गया। इसलिए तब इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि परम देवता विष्णु को लोक-जीवन के अधिक से अधिक समीप लाया जाय। परिणामतः विष्णु-सम्बन्धित सभी घटनाओं (उदाहरण के लिए तीन डग भरना) के आधार पर, जिनका उल्लेख हमें प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है, विभिन्न अवतारों की कल्पना की गई और इन अवतारों की कथाओं में गीता के ऊपर उद्धृत श्लोकों के भाव को व्यक्त करने की चेष्टा की गई। इस प्रकार भागवत धर्म-प्रचारकों द्वारा जनता के हृदय में यह बात दृढ़ता से बिठाने की चेष्टा की गई कि भगवान् विष्णु सृष्टि के आदि से मानव के हित-चिन्तक हैं और उन्हीं का धर्म सच्चा धर्म है। अवतारवाद की इस भावना का प्रभाव भारतीय जनता पर अत्यधिक पड़ा और आज तो वह प्रायः बद्धमूल हो गया है।

अवतारवाद का सर्वप्रथम उल्लेख हमें महाभारत के नारायणीय पर्व में उपलब्ध होता है। यहाँ दो स्थलों पर नारायण या विष्णु के अवतारों की चर्चा की गई है। प्रथम स्थल पर अवतारों की संख्या छह है। इन छह अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथिराम और वासुदेव-कृष्ण। इसके कुछ ही श्लोकों के उपरान्त दस अवतारों का उल्लेख है। इनमें उक्त छह और अन्य हंस, कूर्म, मत्स्य तथा कल्कि सम्मिलित हैं। एक ही पर्व में कुछ श्लोकों के अन्तर से इस प्रकार का परिवर्तन दूसरे अवतार-वर्णन की प्रक्षिप्तता की ओर स्पष्ट संकेत करता है। पर इससे स्पष्ट है कि समय समय पर अवतारों की संख्या के विषय में विद्वानों की मान्यता बदलती रही।

ईसा शताब्दी पूर्व और पश्चात् के प्राप्त शिलालेखों से पता चलता है कि आरम्भ में अवतारवाद को भागवत धर्म में सर्व-सम्मति से स्वीकार नहीं किया

---

१. गीता : ४। ७–८

गया था। अवतारवाद के साथ साथ व्यूहवाद की भी चर्चा चलती रही। घोसुंडी और नानाघाट के शिलालेखों में वासुदेव और सङ्कर्षण की पूजा का उल्लेख है। किन्तु धीरे धीरे व्यूहवाद क्षीण होता चला गया और पुराणों के लेखन एवं प्रचलन के समय तक अवतारवाद सर्वमान्य हो गया। अवतारों का वर्णन प्रायः सभी वैष्णव पुराणों में हुआ है। किन्तु सभी पुराणों की अवतार-संख्या में पर्याप्त भिन्नता है। बाद में सर्वसम्मति से जो दस प्रमुख अवतार स्वीकार किए गए उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, दाशरथिराम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि।

अवतारवाद में वासुदेव कृष्ण का स्थान

अवतारवाद का आरम्भ यद्यपि महाभारत काल में हो गया था—किन्तु महाभारत में हमें केवल अवतारों के नामों का उल्लेख-मात्र मिलता है। अवतारवाद का सर्वाङ्गीण विकास वास्तव में पुराणों में हुआ है। विष्णु के अवतारी रूपों में जिन लौकिक तथा अलौकिक शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा हुई है—वह पुराण काल की देन है। परन्तु पुराणों का निश्चित रचना-काल क्या है—यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता। साधारणतया ईसा पूर्व दूसरी शती से लेकर ईसा की छठी शती तक इनका रचनाकाल समझा जाता है। रचना हो जाने के बाद भी इनमें तेरहवीं शती तक प्रक्षिप्त अंशों का समावेश यथासमय होता रहा।

पुराणों में जिन प्रमुख दस अवतारों का वर्णन किया गया है, उनमें से राम, वासुदेव कृष्ण और बुद्ध अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से बुद्ध का सम्बन्ध वास्तव में वैष्णव धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म से अधिक है और वैसे भी वे धर्म-उपदेशक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। इसके विपरीत राम और कृष्ण सामान्य जनता के जीवन में बिल्कुल घुल मिल गए हैं। वे उपदेश नहीं देते—वरन् अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। इसलिए भारतीय जनता के हृदय में विष्णु के विभिन्न अवतारों में से राम और कृष्ण के लिए स्थान विशेष है। राम और कृष्ण दानों के जीवन में प्रेम की प्रधानता है। किन्तु पुराणों में—विशेषतया भागवत पुराण में राम की अपेक्षा कृष्ण के जीवन में यह प्रेम-भाव अधिक निखरा है। इसीलिए भागवत में कृष्ण का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। भागवतकार की यह उक्ति **'एते चांशकला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** (१।३।२८) इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। भागवत पुराण द्वारा निरूपित माधुर्य्य पूर्ण कृष्ण-चरित्र का आधार

लेकर ही कृष्ण-भक्ति का प्रवाह आज समस्त भारत में बह रहा है।

माधुर्य्य भक्ति के कृष्ण का स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि आरम्भ में वासुदेव-कृष्ण एक लौकिक महापुरुष थे। मूल महाभारत में उनका वर्णन इसी रूप में हुआ है। पर कृष्ण को अलौकिक रूप देने के साथ साथ इस बात का भी ध्यान रखा गया कि उनका चरित्र लोक जीवन के निकट बना रहे। इस प्रकार कृष्ण के भावी-चरित्र निर्माण में दो प्रवृत्तियों का सहयोग रहा—(१) उन्हें अलौकिक बनाने की और (२) उन्हें लोक जीवन के अधिक निकट लाने की। परिणामतः कृष्ण को जो स्वरूप प्राप्त हुआ उसका पूर्ण विकास भागवत पुराण में लक्षित होता है। यहाँ कृष्ण एक ओर अति मानवीय पुरुष हैं और दूसरी ओर वे सामान्य नर की भाँति अपने माता-पिता, सखा, गोपी आदि से प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं। तात्पर्य यह है कि भागवत में कृष्ण के चरित्र के दो पक्ष हैं—(१) अतिमानवीय पक्ष और (२) माधुर्य्य भाव-पूर्ण पक्ष। मध्ययुगीन प्रेम लक्षणा भक्ति में कृष्ण-चरित्र के इस दूसरे पक्ष को ही स्वीकार किया गया है। कृष्ण-चरित्र का यह पक्ष भागवत में सख्य, वात्सल्य और मधुर आदि विविध रूपों में व्यक्त हुआ है। यद्यपि इन सभी रूपों का मूल माधुर्य्य भाव है किन्तु माधुर्य्य भक्ति का आधार केवल दाम्पत्य-भाव परक कृष्ण की मधुर लीलाएँ हैं। अतः स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति में कृष्ण दाम्पत्य-प्रेम के आलम्बन रूप में स्वीकार किए गए हैं।

भागवत धर्म का विकास

भागवत धर्म के साथ साथ बौद्ध और जैन धर्म का भी भारत में प्रचार तथा प्रसार हुआ। परिस्थितियों के अनुसार अर्थात् राज्याश्रय में इन विभिन्न धर्मों की शक्ति प्रबल एवं क्षीण होती रही। मौर्यवंशी राजाओं के राज्यकाल में भागवत धर्म को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। इस कारण उनके समय में यह धर्म उत्तरी भारत से लुप्त-प्राय रहकर गुप्त-काल में प्रबल रूप से हमारे सम्मुख आता है। गुप्त-सम्राटों ने स्वयं अपने आपको 'परम भागवत' कहा है। अतः इनके आश्रय में भागवत धर्म का विशेष प्रसार हुआ। गुप्त-साम्राज्य के समाप्त होते ही पुनः बौद्ध और शैव धर्म ने उत्तरी भारत में जोर पकड़ा। उत्तरी भारत के तत्कालीन सम्राट् हर्षवर्धन (सन् ६३० ई०) के काल में भागवत धर्म की उपेक्षा रही। बौद्ध, जैन और शैव अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों के प्रचार का मौका पाकर सारे उत्तरी भारत में फैल गए। इसी समय दक्षिण भारत

में भक्ति का वैष्णव रूप उदित हुआ और आलवार भक्तों के रूप में तामिल भाषा के माध्यम से भक्ति विकासोन्मुख हुई।

प्रथम शती ईसवी पूर्व के नानाघाट के शिलालेख से यह पता चलता है कि शिलालेख के काल तक भागवत धर्म का प्रसार दक्षिण में हो चुका था। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भागवत धर्म के उपास्य वासुदेव के मन्दिर दक्षिण में मदुरा, कविरिपड्डिनम आदि स्थानों पर थे—इस बात के प्रमाण भी विद्वानों को मिले हैं।[1] इन विद्वानों का विचार है कि उत्तरी भारत में भागवत धर्म का प्रवाह क्षीण हो जाने पर दक्षिण में आलवार भक्तों के माध्यम से यह प्रवाह पूर्ण वेग से बहता रहा। श्री राजगोपालाचार्यार के अनुसार ये आलवार भक्त उत्तरी भारत के भागवतों के ही रूप थे।[2]

उत्तरी भारत में भक्ति का यह वैष्णव रूप फिर दक्षिण से ही आया—यह निर्विवाद रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य की सम्मति में भक्ति का यह प्रवाह दक्षिण से न आकर बंगाल में उत्पन्न हुआ।[3] तथापि भक्ति-धारा के दक्षिण से आने की बात, जिसका संकेत हमें भागवत में भी उपलब्ध होता है[4] जनश्रुति में इतनी प्रसिद्ध है कि उसका खंडन सहज नहीं किया जा सकता।

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तद्वीप नवखंड॥

भक्ति की इस धारा को दक्षिण से लाने का श्रेय आचार्यों को है, जिनका स्थान आलवार भक्तों के बाद आता है। इन आचार्यों के उद्भव का कारण भक्ति-क्षेत्र में तो आलवार-भक्तों द्वारा प्राप्त वैष्णव धर्म की प्रेरणा है, और दार्शनिक क्षेत्र में इनके प्रादुर्भाव का कारण एक विशिष्ट विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। यह विशिष्ट विचारधारा शङ्कर प्रतिपादित **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार

---

१. *"Tamil Eighteen Hundred Years Ago"*
—Kanaksabhai : Page 13–26

२. *'The Vaishnvite Reformers of India'* : Page 138

३. *'History of Medieaval Hindu India* : Vol 3 : Page 413–414

४. उत्पन्ना द्रविड़े साहं वृद्धिं कर्नाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥ भागवत माहात्म्य १-४८
'An Outline of Religious Literature of India'
—By Farquhar : Page 232

जिस अद्वैत भावना का प्रचार हुआ उससे सगुणोपासना और भक्ति के प्रति पूज्य बुद्धि का अभाव हो गया। इसी भक्ति-भाव के पुनरुत्थान और भक्ति-सिद्धान्त को दृढ़ आधार देने के लिए ही इन भक्त्याचार्यों ने अपनी वाणी का स्वर मुखरित किया था। इन आचार्यों में से प्रत्येक ने उपासना एवं भक्ति के लिए विष्णु के किसी स्वरूप को स्वीकार किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति-मार्ग का प्रचार एवं प्रसार आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों के माध्यम से ही विशेष रूप में हुआ।

भागवत धर्म में, जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं, बासुदेव या कृष्ण को उपास्य के रूप में महाभारत काल में ही स्वीकार कर लिया गया था। किन्तु कृष्ण-भक्ति का साम्प्रदायिक रूप आचार्य निम्बार्क के समय से आरम्भ हुआ। महाभारत काल से आचार्य निम्बार्क के समय तक कृष्ण के चरित्र में अनेक ऐसी विशेषताओं का समावेश हुआ जिन्होंने कृष्ण-भक्ति के साम्प्रदायिक रूप को स्थिर करने में सहायता दी। इन्हीं चारित्रक विशेषताओं के परिणाम स्वरूप कृष्ण-भक्ति में मधुर उपासना का समावेश भी धीरे धीरे होता रहा, जिसका स्पष्ट संकेत सर्वप्रथम निम्बार्क के **'अंगे तु वामे बृषभानुजां मुदा'**— इस श्लोक में मिलता है। कृष्ण-भक्ति में मधुर भाव के इस क्रमिक विकास को समझने के लिए कृष्ण-भक्ति के विकास का अनुशीलन आवश्यक है। अतः द्वितीय अध्याय में हम इसी विषय पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

—: ० :—

दूसरा अध्याय

कृष्ण-भक्ति का विकास और उसके अन्तर्गत माधुर्य्य भाव का आविर्भाव

सामान्यतः कृष्ण-भक्ति का आरम्भ छठी-सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व से, वासुदेव-कृष्ण की पूजा के साथ माना जाता है। किन्तु कृष्ण-भक्ति का वह माधुर्य्यभाव प्रधान रूप, जिसका विशेष प्रचार एवं प्रसार भारत में पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में हुआ, इतना प्राचीन नहीं है। समय के साथ-साथ भक्तों ने अपनी भावनानुसार कृष्ण के चरित्र में भी परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया है। महाभारत में श्रीकृष्ण का जो रूप हमें उपलब्ध होता है—वह भागवत पुराण के श्रीकृष्ण से सर्वथा भिन्न है। इस भाव-परिवर्तन की ओर निर्देश करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'सूरदास' के 'भक्ति का विकास' नामक प्रकरण में कहा है—**"महाभारत काल के आस-पास भगवान् का जो उपास्य स्वरूप सामने रहा वह बहुत व्यापक था। वह लोकरक्षा और लोकमंगल का प्रत्यक्ष साधन करने वाली धर्म-शक्ति का स्वरूप था जिसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य और ऐश्वर्य सबका समन्वय था। उसका आकर्षण लोकधर्म में आनन्द पूर्वक प्रवृत्त करने वाला आकर्षण था।..... धीरे-धीरे भगवान् कृष्ण के भक्ति-मार्ग से लोकधर्म पक्ष या कर्म पक्ष हटता गया और उपासना में उनका लोकरक्षा और लोकमंगल वाला यह व्यापक स्वरूप तिरोहित होता गया और केवल ऐसे स्वरूप की प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति बढ़ती गई जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रम का आलम्बन हो सके। श्रीमद्भागवत इसी प्रवृत्ति का अत्यन्त मधुर फल है"**।[1] इसी भाव-परिवर्तन के अनुसार कृष्ण के अवतार सम्बन्धी उद्देश्य में परिवर्तन आ गया। गीता के **'यदा यदा हि धर्मस्य'**—इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस समय अवतार का उद्देश्य लोक में धर्म की स्थापना और सज्जनों की रक्षा था। किन्तु बाद में भक्तों ने भगवान् के प्रकट होने का सर्वोत्तम कारण लीलाओं का विस्तार और भक्तों पर कृपा एवं अनुग्रह स्वीकार किया—

---

१. सूरदास : पृष्ठ २६

स्वलीलाकीर्तिविस्तारात् भक्तेष्वनजिघृक्षया ।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्येहेतुरुत्तमः ॥[1]

कृष्ण के चरित्र का यह विकास सहसा नहीं हुआ। भारतीय साधना के अनेक रूपों ने कृष्ण के माधुर्य्य भाव पूर्ण उस चरित्र-निर्माण में सहयोग दिया है जिसका संकेत हमें हरिवंश में, कुछ स्पष्ट रूप भागवत में और विशद रूप गीत-गोविन्द में दृष्टिगत होता है। स्पष्ट है कि कृष्ण का चरित्र-विकास कई शताब्दियों का फल है। कृष्ण के चरित्र-विकास का यह इतिहास कृष्ण-भक्ति के विकास की भी कहानी है। अतः कृष्ण-चरित्र में माधुर्य्य भाव का प्रवेश किन कारणों से हुआ इस बात पर विचार करने से पूर्व हम महाभारत, पुराण और गीतगोविन्द में वर्णित श्रीकृष्ण के स्वरूप का परिचय प्राप्त कर लेना यहाँ आवश्यक समझते हैं।

महाभारत के कृष्ण

महाभारत से पूर्व कृष्ण का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में भी हुआ है। वहाँ कृष्ण को देवकी पुत्र और घोर आङ्गिरस ऋषि का शिष्य कहा गया है। वे वहाँ एक अध्येता के रूप में हमारे सामने आते हैं और अपने गुरु घोर आङ्गिरस से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते हैं।[2] कृष्ण के सम्बन्ध में इसी प्रकार का उल्लेख कौशीतकी ब्राह्मण में भी मिलता है।[3] किन्तु इसके अतिरिक्त कृष्ण के चरित्र के सम्बन्ध में उक्त ग्रन्थों में कुछ नहीं कहा गया। महाभारत ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें कृष्ण-चरित्र के सभी पक्षों को एक साथ ग्रहण किया गया है। अतः महाभारत से कृष्ण-चरित्र के विकास का आरम्भ स्वीकार किया जा सकता है।

महाभारत में श्रीकृष्ण के मुख्यतया चार रूप हमारे सामने आते हैं—(१) राजनीति विशारद, (२) कुशल योद्धा, (३) वेद-वेदाङ्ग वेत्ता और (४) धर्मोपदेष्टा।[4] इन चारों रूपों का सम्बन्ध कृष्ण के युवाकाल और उसके बाद

---

१. लघुभागवतामृत : श्री रूपगोस्वामी

२. तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकी पुत्राय उक्त्वा उवाच। अपिपास एस स बभूव। सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि
छा. उ. ३-१७-६

३. कृष्णो ह तदाङ्गिरसो ब्राह्मणान्छ्रान्तसीयः तृतीयं सवनंददर्श।—कौशीतकी (शाखायन) ब्राह्मण, अध्याय ३०।

४. वेद-वेदाङ्ग विज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा।
नृणां हि लोके कोऽन्योस्ति विशिष्टः केशवादृते।
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३८।

की अवस्था से है। इसके अतिरिक्त कृष्ण की बाल्यकालीन घटनाओं का महाभारत में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उक्त चार रूपों में से वेद-वेदाङ्ग वेत्ता कृष्ण का सम्बन्ध निश्चित ही छान्दोग्य उपनिषद् के देवकी पुत्र और घोर आङ्गिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण के साथ है। महाभारत में गीता के रूप में कृष्ण जिस धर्म का उपदेश देते हैं—वह बहुत कुछ उसी शिक्षा पर आधारित है जो उन्हें छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आङ्गिरस ऋषि द्वारा प्राप्त होती है। इस शिक्षा-साम्य से विद्वानों ने यह स्थिर किया है कि उपनिषद् के कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक हैं। किन्तु फिर भी धर्मोपदेष्टा होने के साथ-साथ राजनीतिज्ञ और सफल योद्धा होने के कारण महाभारत के कृष्ण जनता के लिए अधिक समादरणीय और भक्ति-भाजन बने। महाभारत में ही ऐसे अनेक स्थल हमें मिल जाते हैं जिनमें कृष्ण के उक्त चार रूपों को इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है कि जिससे कृष्ण के चरित्र में ईश्वरत्व की भावना का समावेश हो सके। एक स्थान पर तो महाभारतकार ने भीष्म से उनकी ईश्वर के रूप में स्तुति भी कराई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि महाभारत काल में कृष्ण-चरित्र में ईश्वरत्व की भावना का समावेश आरम्भ हो गया था किन्तु फिर भी उनके चरित्र का मानवीय पक्ष सुरक्षित था।

पुराण साहित्य में कृष्ण

परवर्ती पौराणिक साहित्य में उनके ईश्वर रूप का और भी अधिक विकास हुआ और पूतना-वध, शकट-भंजन, तृणावर्त, यमलार्जुन, माखनचोरी आदि आलङ्कारिक तथा प्रतीकात्मक कथाओं का सम्बन्ध उनके जीवन के साथ जोड़ दिया गया। ईश्वरत्व की इस भावना के विकास के साथ पुराण साहित्य में कृष्ण के चरित्र को माधुर्य्य भाव पूर्ण बनाने का यत्न भी हुआ। हरिवंश पुराण में, जो महाभारत के पश्चात् सौति उग्रश्रवा द्वारा शौनक को सुनाया गया है, कृष्ण-चरित को सर्वप्रथम गोपियों के चरित्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। गोपियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर कृष्ण के सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इस प्रकार हरिवंश पुराण में कृष्ण-चरित में सौन्दर्य को शील और शक्ति के समान स्थान प्राप्त हुआ। पर बाद के पुराणों में कृष्ण के सौन्दर्य का महत्त्व बढ़ता गया।

कृष्ण-कथा का वर्णन प्रायः सभी पुराणों में हुआ है—कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से। कृष्ण-कथा का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत करने वाले पुराणों में भागवत पुराण और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का नाम उल्लेखनीय है। ब्रह्मपुराण

विष्णुपुराण आदि अन्य पुराणों में भी कृष्ण का अवतार, पूतनावध, शकट-भंजन, यमलार्जुनपतन, गोवर्धन-धारण, रास लीला आदि अनेक बाल्य एवं किशोरकाल की लीलाओं का वर्णन है। इन सभी पुराणों में हरिवंश पुराण से एक विशेषता स्पष्ट लक्षित होती है। हरिवंश पुराण में कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में अवश्य चित्रित किया गया है, किन्तु यहाँ लेखक की दृष्टि अधिकतर लौकिक पक्ष की ओर है। अन्य पुराणों में श्रीकृष्ण को परब्रह्म स्वरूप स्वीकार किया गया है। ब्रह्मपुराण में **'आत्मस्वरूप रूपोऽसौ व्याप्य सर्व-भवस्थितः'** (८१--४२) कहकर इसी आशय को व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार भागवतकार ने **'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'**—इस उक्ति के द्वारा श्रीकृष्ण के परब्रह्मत्व को स्पष्ट किया है।

यद्यपि भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में कृष्ण को परब्रह्म स्वरूप मानते हुए उन्हें अलौकिक पुरुष कहा गया है किन्तु फिर भी यहाँ कृष्ण-चरित का माधुर्य्य भाव प्रधान पक्ष प्रमुख है। इस प्रकार इन पुराणों के कृष्ण-चरित वर्णन में उनकी बाल्यकालीन और विशेष रूप से किशोरकालीन लीलाओं को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसके विपरीत महाभारत के कृष्ण का राज-नीतिज्ञ और योद्धा रूप यहाँ बिल्कुल गौण हो गया है। भागवत में राधा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है—यहाँ केवल कृष्ण और गोपियों की मधुर लीलाओं का ही वर्णन है। किन्तु ब्रह्मवैवर्त्त पुराणकार ने राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष स्वीकार करते हुए दोनों में अभेद स्थापित किया है और सभी प्रकार की लीलाओं में राधा को प्रमुखता दी है।

सारांश यह है कि पुराण साहित्य में कृष्ण-चरित के माधुर्य्य भाव प्रधान पक्ष का पूर्ण विकास हुआ है। सर्वप्रथम कृष्ण और गोपियों की मधुर लीलाओं का रूप केवल लीलात्मक था पर राधा की स्वीकृति के साथ-साथ इन लीलाओं को दार्शनिक रूप अर्थात् प्रकृति-पुरुष की लीला का रूप प्राप्त हुआ। किन्तु पुराण साहित्य में कृष्ण की मधुर लीलाओं की प्रधानता होते हुए भी राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में, जहाँ राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं की प्रधानता है, दोनों को एक दूसरे का पूरक स्वीकार किया गया है। यहाँ राधा साधन ही है, साध्य नहीं। साध्य श्रीकृष्ण हैं।

गीतगोविन्द में कृष्ण

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में रचे गए गीतगोविन्द में कृष्ण-चरित का केवल माधुर्य्य पक्ष स्वीकार किया गया है। गीतगोविन्द पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण

का प्रत्यक्ष प्रभाव है। राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं की सामग्री जयदेव ने ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से ग्रहण की है। किन्तु इस पुराण में कृष्ण की बाल्यकालीन लीलाओं का भी सुन्दर वर्णन है। पर गीतगोविन्द केवल शृङ्गार-लीलाओं का वर्णन करता है। यद्यपि जयदेव ने शृंगार के संयोग और वियोग—दोनों पक्षों का सुन्दर वर्णन किया है—तथापि प्रधानता शृंगार की संयोग परक लीलाओं की है। गीतगोविन्द के मङ्गलाचरण का यह श्लोक इसी दिशा की ओर संकेत करता है—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः—
नक्तं भीरूरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुंजद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

अथवा

पद्मा पयोधरतटी परिरम्भलग्न—
काश्मीर मुद्रितमुरोमधुसूदनस्य।
व्यक्तानुरागमिव खेलदनङ्गखेद—
स्वेदाम्बुपूरमनुपूरयतु प्रियं वः॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि गीतगोविन्द की रचना के समय तक कृष्ण-चरित का बहुत विकास हो चुका था। महाभारत के राजनीतिज्ञ, युद्ध-कुशल और धर्मोपदेष्टा कृष्ण अब न थे। इस युग में उनका ध्यान **'गोपीपीनपयोधरमर्दन-चंचलकरयुगशाली'** के रूप में किया जाता था। उनकी अनेक प्रकार की लीलाओं में से राधा से की गई शृंगार-लीलाएँ ही श्रेष्ठ लीलाएँ स्वीकार कर ली गई थीं। कृष्ण-चरित्र में इस प्रकार के मधुर पक्ष की प्रधानता का कारण जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं, गोपियों के साथ उनका सम्बन्ध है। महाभारत में कृष्ण और गोप-गोपियों के सम्बन्ध की कोई चर्चा नहीं मिलती। इस कारण कृष्ण और गोप-गोपियों के इस सम्बन्ध की ऐतिहासिकता पर विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। उनके अनुसार कृष्ण के चरित्र का यह अंश उनके वास्तविक चरित्र का अङ्ग नहीं है वरन् बाद में कुछ अन्य परिस्थितियों के प्रभाव वश उसमें समाविष्ट कर लिया गया है। कृष्ण-चरित्र में माधुर्य्य भाव की प्रधानता के कई कारण विद्वानों ने दिये हैं जिनकी चर्चा कर लेना कृष्ण-भक्ति के विकास को समझने के लिए आवश्यक है।

आभीरों की देन

कृष्ण-चरित्र में माधुर्य्य भाव की प्रधानता कुछ विद्वानों के अनुसार आभीरों की देन है। इनके अनुसार आभीर जाति में बाल-कृष्ण की उपासना प्रचलित थी। इसी बाल-कृष्ण का महाभारत के कृष्ण से ऐक्य स्थापित किया गया जिससे कृष्ण के चरित्र में गोप-जीवन सम्बन्धी कथाओं का विकास हुआ। इस प्रकार आभीरों ने कृष्ण-भक्ति को केवल अपने बाल-देवता कृष्ण ही नहीं दिये वरन् अपनी जाति की अनेक गोप-जीवन सम्बन्धी कथाएँ भी दीं। इन्हीं कथाओं के कारण कृष्ण के चरित्र में शृंगारिक पक्ष विकसित हुआ। इस मत के सबसे पुष्ट समर्थक श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर हैं। अपने इस मत का समर्थन उन्होंने अनेक तर्कों द्वारा किया है।

भाण्डारकार के अनुसार पतञ्जलि के ग्रन्थों में अथवा महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में श्रीकृष्ण के गोपाल रूप का कोई संकेत हमें नहीं मिलता। महाभारत में कृष्ण का कंसारि के रूप में अवश्य उल्लेख हुआ है, किन्तु उसके द्वारा उन राक्षसों के वध की चर्चा कहीं नहीं की गई जो ब्रज में कृष्ण के बाल्यकाल में आते हैं। महाभारत के सभापर्व (अ० ४१) में शिशुपाल के मुख से कुछ ऐसी बातें कहलाई गई हैं, जिनसे कृष्ण के गोप-जीवन का संकेत मिलता है। परन्तु भाण्डारकर के अनुसार ये निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि शान्ति पर्व में भीष्म ने कृष्ण की जो स्तुति की है उसमें इन बातों की कोई चर्चा नहीं है। इसके अतिरिक्त भी महाभारत के उन सभी स्थलों को, जिनसे कृष्ण के गोपाल रूप का संकेत मिलता है भाण्डारकर ने प्रक्षिप्त सिद्ध किया है।[1] गीता में आये गोविन्द शब्द के सम्बन्ध में उनका कहना है कि यह शब्द भी श्रीकृष्ण के गोप-जीवन को सूचित नहीं करता। ऋग्वेद में 'गोविद्' विशेषण इन्द्र के लिए प्रयुक्त किया गया है—वही कालान्तर में कृष्ण के मुख्य देवता स्वीकार कर लिये जाने पर उनके साथ संयुक्त कर दिया गया।[2]

इन सभी तथ्यों से भाण्डारकर यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि ईसवी सन् पूर्व कृष्ण की बाल्यकाल-सम्बन्धी गोकुल की कथा प्रचलित नहीं होगी। ये कथाएँ कृष्ण के चरित्र में आभीर जाति के सम्पर्क के कारण आईं। यह जाति उनके अनुसार भारत में सीरिया से आई। आभीरों का उल्लेख महाभारत

---

१. *Collected Works of Bhandarkar*: Vol. IV: Vaishnuism Saivism: Page 50.

२. *Collected Works of Bhandarkar*: Vol IV: Page 51.

में उपलब्ध हो जाता है। वृष्णिवंश की स्त्रियों को द्वारका से हस्तिनापुर लाते समय इन्होंने अर्जुन पर आक्रमण किया था। वहाँ इन्हें म्लेच्छ, लुटेरे आदि कहा गया है और इनका निवास पंचनद, जो सम्भवतः पंजाब है, बताया गया है। हरिवंश पुराण से पता चलता है कि इन्होंने मथुरा के समीप मधुवन से लेकर द्वारका के समीपवर्ती अनूप और आनर्त तक के देश पर अधिकार किया हुआ था। आरम्भ में इस जाति की वृत्ति पशुपालन थी—जिस कारण इन्हें बाद में 'गोपाल' कहा गया। किन्तु धीरे-धीरे राजनैतिक प्रभुत्व के बढ़ने के साथ इनका ध्यान राज्य-स्थापना की ओर गया, यद्यपि कुछ अंश में यह पशुपालन वाली वृत्ति भी बनी रही। वर्तमान अहीरों को भाण्डारकर ने इन्हीं आभीरों की सन्तान स्वीकार किया है।[1] इसके विपरीत केनेडी ने उस जाति की वर्तमान सन्तान जिनके बाल-देवता कृष्ण थे अहीर, जाट और गूजर स्वीकार किये हैं।[2]

गोपी-कृष्ण लीलाओं की प्राचीनता

भाण्डारकर अपने उक्त मत में यह मानकर चले हैं कि—(१) कृष्ण-चरित्र में गोप-जीवन सम्बन्धी कथाओं का समावेश ईसा की प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुआ और (२) आभीर जाति जिनसे इन कथाओं को ग्रहण किया गया है निश्चित रूप से विदेशी जाति थी। किन्तु अब इस प्रकार के कई ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे इन दोनों बातों का खण्डन हो जाता है। काठियावाड़ में प्राप्त एक शिला लेख से पता चलता है कि शक १०२ में आभीर वहाँ राज्य करने लगे थे। इससे स्पष्ट है कि इनका भारत में आना बहुत पूर्व हुआ होगा। वायु पुराण में, जो बहुत पुराना पुराण माना जाता है, आभीर राजाओं की वंशावली का उल्लेख है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आभीर ईसवी सन् के पहले से इस देश में विद्यमान थे।

श्रीकृष्ण के चरित्र में 'गोपाल' का रूप सबसे पहले हरिवंश में मिलता है। भाण्डारकर ने इस ग्रन्थ का काल ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद माना है क्योंकि उसमें 'दीनार' शब्द का उल्लेख है।[3] आधुनिक शोधों से जाना गया है कि 'दीनार' शब्द ईसवी सन् के पूर्व में ही इस देश में पहुँच चुका था।

---

१. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol IV : Page 52.
२. *Journal of Royal Asiatic Society* : 1907.
३. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol IV : Page 52.

इसलिए कहा जा सकता है कि हरिवंश का काल और भी पुराना मानने में 'दीनार' शब्द बाधक नहीं होगा। यदि ऐसा माना जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि आभीरों के बाल-देवता श्रीकृष्ण की कहानियों का उक्त ग्रन्थ में स्थान पाना निश्चय ही यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसा शताब्दी पूर्व का है।[1]

हरिवंश पुराण के अतिरिक्त भी कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों में गोपी-कृष्ण की लीलाओं अथवा कृष्ण के बाल-जीवन का उल्लेख मिल जाता है। गाथा सप्तशती में राधा और कृष्ण का नाम स्पष्ट रूप से आया है।[2] इसी ग्रन्थ के अनुसार इसकी रचना विक्रमादित्य के राज्य में हुई थी। यह मालवा का राजा विक्रमादित्य वही है जिसने विक्रम संवत् चलाया था। गाथा सप्तशती का संग्रह इसी ग्रन्थ की अन्तः साक्षियों के आधार पर ईसा पूर्व प्रथम शतक में शालिवाहन हाल ने किया। कुछ विद्वान इस ग्रन्थ में 'राधा' शब्द देखकर इसकी प्राचीनता में सन्देह करने लगे हैं। किन्तु गाथा सप्तशती में राधा शब्द के अतिरिक्त प्राचीनता के सभी लक्षण हैं।

कृष्ण की बाल लीलाओं की प्राचीनता भास के नाटकों से भी सिद्ध होती है। भास के बालचरित नाटक में तो पूतना-वध, शकट-भंजन, कालियदमन तथा माखनचोरी जैसी लीलाओं के पूर्ण संकेत हैं। भास के नाटकों के आविष्कारक श्री गणपति शास्त्री का मत है कि ये नाटक पाणिनी के भी पूर्ववर्ती हैं।[3] अतः स्पष्ट है कि कृष्ण की इन बाललीलाओं का प्रचार भारत में ईसा पूर्व में हो चुका था। इस आधार पर भाण्डारकर का यह मत स्वतः खंडित हो जाता है कि बालकृष्ण की गाथाओं को लाने वाले आभीर लोग भारतवर्ष में ईसा की प्रथम शताब्दी में सीरिया से चलकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में बस गए थे।

आभीर विदेशी नहीं हैं

कृष्ण के चरित्र का गोपालक रूप आभीरों की देन है इसको स्वीकार करते हुए भी भाण्डारकर के इस मत से कई विद्वान् सहमत नहीं हैं कि

---

१. सूर-साहित्य : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ ६

२. मुद्ध मारुएण तं कएह गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं वल्लवीणं अंगाणवि गौरअं हरसि ॥ १-८६

३ श्री के० पी० जायसवाल के अनुसार बालचरित आदि नाटकों के रचयिता भास कण्ववंशी राजा नारायण (५३-७१ ईसवी पूर्व) के सभा कवि थे।

आभीर जाति भारत में बाहर से आई। इन विद्वानों की मान्यता है कि आभीर लोग कहीं बाहर से नहीं आये वरन् वे भारत के ही प्राचीन निवासी थे। इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया। अतः आभीरों को भारत के बाहर से आया हुआ मानना एक दुरूह कल्पना है।[१] श्री कुमारस्वामी के अनुसार 'आभीर' शब्द द्रविड़ भाषा का है, जिसका अर्थ होता है 'गो-पाल'। इस आधार पर उनका कहना है कि आभीर दक्षिण भारत के निवासी थे।[२] केनेडी ने इन आभीरों को सीथियन माना है[३] और उनका कहना है कि इन आभीरों की वर्तमान सन्तान अहीर, जाट, गूजर आदि की मुखाकृति, शरीर-गठन आदि द्रविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। इस प्रकार वे आभीरों को द्रविड़ नहीं सीथियन सिद्ध करते हैं। किन्तु उनके मत को स्वीकार करते हुए भी यह बात विद्वानों ने सिद्ध की है कि आभीर दक्षिण निवासी थे। इन विद्वानों के अनुसार आभीर तो नहीं, किन्तु कुछ सीथियन अवश्य ही इस देश में बाहर से आकर बस गये थे। बहुत सम्भव है, भागवत धर्म को स्वीकार करके इन्होंने अपने आपको यहाँ की पूर्व निवासिनी आभीर जाति में मिला दिया हो। इन विद्वानों के अनुसार ईसा से दो शताब्दी पूर्व ऐसे अनेक व्यक्ति एवं वर्ग इस देश में बाहर से आये जिन्होंने भागवत धर्म को स्वीकार कर अपने को इसी देश का निवासी मान लिया। बेसनगर के एक शिलालेख में ग्रीक राजदूत हेलियोडोरस को भागवत धर्म का अनुयायी कहा गया है, जिसका समय ईसा से दो शताब्दी पूर्व का है।[४] अतः केनेडी के मत को स्वीकार करते हुए भी इस अनुमान में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता कि आभीर नाम की कोई द्रविड़ जाति जिसका धर्म भक्ति-प्रधान और देवता बाल-कृष्ण हों पहले से इस देश में रहती हो।

इस विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के चरित्र में गोप-जीवन सम्बन्धी गाथाओं का समावेश ईसा शताब्दी पूर्व हो चुका था। कृष्ण के गोप-जीवन की घटनाएँ इतनी प्रचलित हो गई थीं कि केवल धार्मिक

---

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य : डा० मुन्शीराम शर्मा : पृष्ठ १६४

२. यह बात उन विद्वानों ने भी स्वीकार की है, जो आभीरों को ईसा की प्रथम शताब्दी में सीरिया से आया हुआ मानते हैं, कि आभीर लोग सिन्ध से होते हुए कालान्तर में दक्षिण में जाकर बस गए थे।

३. *Journal of Royal Asiatic Society ;* 1907.

४. भारतीय साधना और सूर-साहित्य : डा० मुन्शीराम शर्मा : पृष्ठ १६५ की पाद टिप्पणी—१

ग्रन्थों में नहीं काव्य-ग्रन्थों में भी इन्हें स्थान प्राप्त होने लगा था। इसके अतिरिक्त यह बात भी सिद्ध होती है कि आभीर दक्षिण भारत के निवासी थे, जिनका धर्म भक्ति-भाव सम्पन्न था। ये आभीर भारत में कहीं बाहर से नहीं आए। यदि उनका बाहर से आना मान लिया जाय तो भी हिन्दू जाति से उनका स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऊपर कृष्ण-चरित्र के विकास में सहयोग देने वाले आभीर जाति सम्बन्धी जिस अनुमान की चर्चा की गई है उसके दो कारण माने जा सकते हैं— (१) कृष्ण-चरित्र में गोपालों की कथा का समावेश और (२) कृष्ण-भक्ति का दक्षिण से उत्तर की ओर आना। इनमें से पहले कारण का आधार महाभारत, पतञ्जलि आदि के ग्रन्थ में वर्णित कृष्ण के चरित्र में गोप-जीवन का सर्वथा अभाव है। दूसरे कारण के लिये यह कहा जाता है कि वैष्णव धर्म के लगभग सभी आचार्य दक्षिण के थे। आचार्यों से पूर्व आलवार भक्तों में मधुर भाव पूर्ण कृष्ण-भक्ति का पूर्ण प्रचार था और सम्भवतः इसी भक्ति-भावना ने बाद में उत्तर भारत–विशेषतः ब्रजमण्डल में प्रसार पाया। मधुर भाव पूर्ण भक्ति को द्रविड़ देशोत्पन्न स्वीकार करने वाले विद्वानों का यह कथन भी है कि आज तक वृन्दावन के श्रीरङ्ग मन्दिर का मुख्य पुजारी दाक्षिणात्य ही होता है। बद्रीनाथ के मन्दिर में भी यही व्यवस्था है। कृष्ण का काला रङ्ग भी दक्षिण की ओर संकेत करता है।[1] किन्तु यह सब होते हुए भी मधुर भाव पूर्ण वैष्णव भक्ति के सर्व प्रथम दक्षिण में प्रतिष्ठित होने का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

कृष्ण के चरित्र का वर्तमान रूप नाना वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओं के मिश्रण से बना है—यह बात सर्वसम्मत है। पर इससे यह सिद्ध नही हो जाता कि कृष्ण-चरित्र में गोप-कृष्ण का रूप आभीर जाति की ही देन है अथवा गोपियों और कृष्ण की मधुर-लीलाओं का कृष्ण-भक्ति में प्रवेश आभीर जाति के सम्पर्क के कारण ही हुआ। ये तर्क जिस उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर चले हैं उसमें यह मान लिया गया है कि महाभारतकालीन कृष्ण के जीवन का गोपाल रूप से कोई सम्बन्ध नहीं था। ये बातें बाद में उनके चरित्र में जोड़ दी गईं। किन्तु फिर भी हमारा विचार है कि इसके विपरीत दूसरी दिशा में यदि खोज की जाय तो इस समस्या का कुछ समाधान मिल सकता है। इस दिशा की ओर बढ़ने का संकेत चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने

---

१. सूर सौरभ : डा० मुन्शीराम शर्मा : पृष्ठ ११८

ग्रन्थों में किया है।

गोपाल-कृष्ण यदुवंशी वासुदेव-कृष्ण से अभिन्न हैं

भाण्डारकर ने पतञ्जलि, महाभारत या अन्य समकालीन ग्रन्थों और शिलालेखों में बाल-कृष्ण की कथा का अभाव पाकर ही सबसे पहले इस आभीर जाति के सम्बन्ध में चर्चा की थी और कहा था कि यह आभीर सीरिया से ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत आये। इस निष्कर्ष से कुछ झल्लाकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था **'मगर यह तो कोई जरूरी बात नहीं है कि बाल-कृष्ण की कथा का पतञ्जलि या अन्य समकालीन ग्रन्थों और शिलालेखों में न पाया जाना यह सिद्ध कर दे कि ये आभीर सीरिया से ही चलकर आये थे।'**[1] इसके अतिरिक्त ऊपर उल्लिखित ग्रन्थों के अनुशीलन से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि इनमें कृष्ण की बाल्यकालीन घटनाओं की बिल्कुल उपेक्षा की गई है। अतः यह भी कैसे मान लिया जाय कि महाभारतकालीन कृष्ण की बाल्यकालीन घटनाओं का गोप-जीवन से कोई सम्बन्ध न था। इस सम्बन्ध में चर्चा करते हुए चिन्तामणि विनायक वैद्य ने कहा है कि महाभारत में कृष्ण के जिस रूप का वर्णन किया गया है वह युवाकाल और उसके बाद का रूप है। उसमें बाल्यजीवन की चर्चा बिल्कुल नहीं हुई है। फिर भी इस प्रकार के संकेत हमें अवश्य मिल जाते हैं जिनसे कृष्ण का वृन्दावन में गोपियों के बीच जीवन व्यतीत करना सूचित होता है। कृष्ण के लिए द्रौपदी द्वारा प्रयुक्त विशेषण **'गोपीजन प्रिय'**—इसी दिशा की ओर संकेत करता है।[2] इस प्रकार उन्होंने सिद्ध किया है कि कृष्ण के चरित्र का गोपालक रूप किसी अन्य जाति की देन नहीं है किन्तु यह उन्हीं के जीवन का अंश है। उनके अनुसार कृष्ण का सम्बन्ध जिस जाति विशेष से है वह आरम्भ में वस्तुतः गोपालक थी। इसीलिए बाल-कृष्ण की कथा को उन्होंने केवल कल्पना का विषय नहीं माना—उसमें ऐतिहासिकता भी स्वीकार की है।

---

१. 'सूर-साहित्य' : पृष्ठ ६

२. .....nor does the Mahabharata anywhere relate any incidents of Shri Krishna's early life with the exception of the casual mention of his having killed Kamsa.....But the epithet Gopijanpriya.....is sometimes applied to him even in the Mahabharata and it is necessary that we should refer to his early life in Vrindavan among the maidens and wives of cowherds.

—*Epic India* : *C. V. Vaidya* : page 369.

चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार श्रीकृष्ण का सम्बन्ध उस यादव वंश से है जो आर्यों के भारत-आक्रमण के समय दूसरी बार आये थे। इस आक्रमण से अन्य जातियों के साथ ये यादव वंशी यमुना की घाटी में आकर बस गये, क्योंकि गङ्गा की घाटी और पंजाब का प्रदेश प्रथम आक्रमण के समय आने वाले आर्यों के अधिकार में था। यादव जाति के लोग बड़े विनोद प्रिय और परिश्रमी थे। इनकी वृत्ति अभी तक पशुपालन थी। यह एक गोपालकों का समुदाय था—अतः यमुना तट पर इन्हें अपने मनोनुकूल विस्तृत और लाभप्रद घास के मैदान मिल गए। इस कारण ये मथुरा जिले के आसपास के प्रदेश में बस गए। यादव जाति के लोग युद्ध-प्रिय होने के साथ-साथ कसरती नौजवान भी थे—अतः उनका शारीरिक गठन उनके सौन्दर्य को और भी आकर्षक बनाता था।[१]

यादव जाति के गोपालक क्षत्रिय, जिनमें कृष्ण का पालन-पोषण हुआ, अपने सामाजिक सम्बन्धों में इतने संयत नहीं थे जितने कि उनसे पहले आने वाले आर्य थे। इनमें पर्दा-प्रथा का भी कोई प्रचार नहीं था। चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार यह भी बहुत सम्भव है कि ब्रज की स्त्रियाँ युवा और आकर्षक कृष्ण को अत्यधिक चाहती हों—और उसके प्रति उनके मन में काम-भावना शून्य सहज प्रेम हो। इसी कारण कृष्ण जब अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के निमित्त उन्हें छोड़कर मथुरा जाने लगे तो उन्हें विशेष दुःख हुआ हो।[२]

कृष्ण का बचपन में गोपों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा—यह बात कई अन्य तथ्यों से भी सिद्ध होती है। कृष्ण की बहन सुभद्रा ने, अर्जुन से विवाह के

---

१. *Epic India* : *C. V. Vaidya* : page 367.

२. The pastoral Kshatriyas among whom Krishna was brought up were probably more unrestrained in their social relations than the older and more civilized urban Kshatriyas, and their women were not hampered by the purdah system which, as we have shown, dates from very ancient times in India. The women of Vraja might have been deeply fond of the young bewitching boy prince without the slightest idea of an amourous feelings disturbing their minds. And they may have bewailed his departure from Vraja most vehemently when ambition led him away from among them to wide fields of action in his young age. —*Epic India* : page 369.

उपरान्त एक गोपी की वेशभूषा धारण की थी।[1] इसी प्रकार महाभारत के युद्ध के समय श्रीकृष्ण ने अपने स्थान पर युद्ध करने के लिए गोपों की एक विशाल सेना दुर्योधन को दी। ये सभी घटनाएँ महाभारत में वर्णित हैं—जिनकी प्राचीनता के सम्बन्ध में किसी विद्वान् ने अभी तक सन्देह व्यक्त नहीं किया है। इसी प्रकार सुभद्रा तथा यदुवंश की अन्य स्त्रियाँ जिस स्वतन्त्रता से महाभारत में रैवतक पर्वत पर परिभ्रमण करती हुई वर्णित की गई हैं—उससे उनके सामाजिक सम्बन्धों की शिथिलता स्वतः स्पष्ट हो जाती है[2] और कृष्ण का बहुपत्नीक होना तो ईसा से तीन शताब्दी पूर्व मेगस्थनीज़ ने भी स्वीकार किया था।[3]

चिन्तामणि विनायक वैद्य के उक्त मत से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) यादव कुल मूलतः गोपालक था और (२) उनके सामाजिक सम्बन्ध काफ़ी शिथिल थे—जिनसे कृष्ण के चरित्र में शृंगार-भावना के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। फिर भी श्री वैद्य ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि श्रीकृष्ण के चरित्र की वह शिथिलता जो बाद के भक्ति-ग्रन्थों में लक्षित होती है—ऐतिहासिक नहीं मानी जा सकती। उसमें सत्य का अंश बिल्कुल नहीं है—वह गोपी-कृष्ण के सहज प्रेम सम्बन्ध को विकृत रूप देने का परिणाम है।[4] इस विवेचन के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि कृष्ण के चरित्र में प्राप्त होने वाले गोप-जीवन सम्बन्धी अंश महाभारतकालीन कृष्ण से सर्वथा असंबद्ध नहीं हैं। इधर कुछ प्रमाण ऐसे भी मिले हैं जिनसे आभीर और यादवों का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध सूचित होता है। डा० मुंशीराम शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय-साधना और सूर-साहित्य' में 'यदुकुल प्रकाश' नामक ग्रन्थ से जो पंक्ति उद्धृत की है वह आभीरों को यदुवंशी आहुक की सन्तान सिद्ध करती है।[5] अतः स्पष्ट है कि गोपालन यादव और आभीर—

---

१. सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवसिनीम्।
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः॥ महाभारतः आदिपर्व २२०—१६।

२. महाभारत : आदिपर्व : अध्याय २१८

३, "The Heracles like his Thoeban namesake, has married many wives and was worshipped by the Shouraseni people whose chief town were Mathora and Cleisobora."

—*Quoted from Epic India* ; Page 366.

४. Epic India : C. V. Vaidya : Page 369–70

५. 'आहुकं वंशात् समुद्भूता आभीरा इति प्रकीर्तिता' पृष्ठ १६४

दोनों की सहज वृत्ति थी और आभीर बाहर से आई हुई जाति नहीं भारत के ही आर्य क्षत्रिय थे।

सारांश यह है कि कृष्ण के गोप-जीवन के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में कोई उल्लेख न पाकर इस प्रकार की कथाओं का स्रोत ढूंढना स्वाभाविक है। और यह सत्य है कि इस प्रकार की कथाओं का सम्बन्ध निश्चित रूप से गोपालक जाति से हो सकता है चाहे वह आभीर हों अथवा कोई अन्य। किन्तु फिर भी इन आभीरों को विदेशी मान लेना अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में कृष्ण के बाल्यकालीन जीवन के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः निश्चित रूप से यह कह सकना अत्यधिक कठिन है कि कृष्ण का बाल्यकाल गोपालन में व्यतीत हुआ अथवा राजप्रासाद में। इस प्रकार के ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाणों का भी अभाव नहीं है जिनसे यह सिद्ध होता है कि आभीर भारत की ही एक प्राचीन जाति है। पर आभीर जाति का सम्बन्ध यादव वंश से है अथवा यह एक स्वतन्त्र जाति है—इसका निर्णय तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि इस विषय पर और अधिक ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में नहीं आ जाती। पर इतना निश्चित है कि कृष्ण-चरित का शृंगारिक पक्ष अवश्य ही बाद की देन है चाहे उसका उद्देश्य कुछ भी रहा हो।

कृष्ण, क्राइस्ट का रूप नहीं है

भाण्डारकार ने आभीरों का प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में सीरिया से आना एक अन्य उद्देश्य से भी सिद्ध करना चाहा है। इसी उद्देश्य के फलस्वरूप उन्हें कई पश्चिमी विद्वानों का समर्थन प्राप्त हुआ। उनके अनुसार आभीर जाति द्वारा जिस बाल-कृष्ण की कथा का प्रचार भारत में हुआ वह ईसा-मसीह की कथा का भारतीय रूप है। भाण्डारकार का कहना है कि 'आभीर ही सम्भवतः बाल-देवता की जन्म-कथा, पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय में यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधों के वध की कथा अपने साथ ले आये।' उनका अनुमान है कि 'आभीर संभवतः क्राइस्ट का नाम भी अपने साथ ले आये हों और यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष में बाल-देवता के एकीकरण का कारण हुआ हो। गोआनीज और बंगाली प्रायः कृष्ण शब्द का 'क्रिष्टो' अथवा 'कुष्टो' के रूप में उच्चारण करते हैं। इसी से प्रतीत होता है कि आभीरों का क्राइस्ट शब्द ही संस्कृत भाषा में कृष्ण हो गया है।'[१] भाण्डारकार के इस मत का समर्थन वेबर, ग्रियर्सन, केनेडी आदि

१. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol. IV : Page 53

विद्वानों ने किया है। किन्तु कीथ ने यह बात सिद्ध की है कि बाल-कृष्ण की कथा सम्भवतया ईसा से भी पूर्व प्रचलित थी।[१] ऊपर की पंक्तियों में हम इस विषय की विस्तार से चर्चा कर आये हैं। अतः यहाँ इस विवाद में न पड़ते हुए कि कृष्ण पर क्राइस्ट का प्रभाव पड़ा या क्राइस्ट पर कृष्ण का प्रभाव पड़ा हम भाण्डारकार के उक्त अनुमान के बारे में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में यह अवश्य कहना चाहेंगे—**'भाण्डारकर का यह अनुमान निःसन्देह असंगत है। जिन्होंने भाषा-शास्त्र से कुछ परिचय प्राप्त किया होगा वे आसानी से इसकी असंगति समझ सकते हैं। भाण्डारकर जैसे पण्डित ने कैसे इस प्रकार का अनुमान किया, यह सोचकर आश्चर्य होता है।..... यूरोपियन पण्डितों से अधिक इस बात को कोई नहीं जानता कि 'क्राइस्ट' का मूल उच्चारण वही नहीं है जो आज अंग्रेजी में प्रचलित है और उस पर से बंगाली या गोआनीज उच्चारण क्रिष्टो या कुष्टो होना एकदम असम्भव है।'**[२]

ऊपर गोपाल-कृष्ण के सम्बन्ध में किये गये विवेचन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है वह इस प्रकार है : महाभारत और उस काल के ग्रन्थों में कृष्ण का जो चरित्र वर्णित है उसमें कृष्ण के बाल्य-जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया। उसका जो रूप हमें यहाँ उपलब्ध होता है वह एक कुशल योद्धा, राजनीतिज्ञ, परम धार्मिक, तत्त्व-वेत्ता और उपदेशक का ही रूप है। आगे हरिवंश, विष्णु पुराण आदि में कृष्ण के चरित्र में उक्त घटनाओं के साथ-साथ उनके उस बाल्यजीवन का समावेश भी कर लिया गया जो उन्होंने वृन्दावन में गोप-गोपियों के बीच नाना प्रकार की मधुर क्रीड़ाएँ करते हुए व्यतीत किया था। श्रीकृष्ण के चरित्र में इन घटनाओं का प्रवेश सम्भवतः ईसा सन् से पूर्व ही आरम्भ हो गया था और विष्णु पुराण के समय तक, जिसे पार्जिटर ने ईसा की चौथी शताब्दी की रचना माना है,[३] इन घटनाओं को विशेष महत्त्व प्राप्त हो चुका था। यह बात जोधपुर के निकट मांडोर ग्राम में पाये गये एक स्तम्भ से भी सिद्ध होती है जिसमें श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाओं को चित्रित किया गया है।[४] भाण्डारकर के अनुसार इस स्तम्भ का समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के पहले नहीं हो

---

१. *Journal of Royal Asiatic Society* : 1907.

२. सूर-साहित्य : पृष्ठ ७-८ की पाद टिप्पणी

३. *Dynasties of Kali Age* : Introduction 12-13.

४. *Archaeological Survey of India* : Annual Report 1905-6 : Page 135.

सकता।[1] इसके बाद तो, जैसा हम आगे देखेंगे, इस प्रकार की कृष्ण-लीलाओं का उल्लेख अनेक साहित्यिक ग्रन्थों और शिलालेखों अथवा स्तम्भों में पाया जाता है। श्री भगवतशरण उपाध्याय का विचार है कि कुशाणों के काल में ही वासुदेव-कृष्ण की अधिकांश पौराणिक कहानियों ने अपनी रूप-रेखा पायी। इस सम्बन्ध में उन्होंने मथुरा-संग्रहालय में प्राप्त एक प्रस्तर-पट का भी उल्लेख किया है जिस पर कृष्ण के पिता वासुदेव की उस अवस्था का दृश्य उत्कीर्ण है, जब वह नवजात शिशु को कंस के क्रोध से सुरक्षित रखने के लिए लेकर जाते हुए यमुना पार कर रहा है।[2] इस प्रकार यह बिल्कुल स्पष्ट है कि ये घटनाएँ चौथी शताब्दी तक श्रीकृष्ण के चरित्र का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग बन चुकी थीं।

गोपी-कृष्ण लीला केवल आध्यात्मिक

कृष्ण-चरित्र में गोपाल रूप के प्रवेश के सम्बन्ध में ऊपर जिन अनुमानों की चर्चा की गई है, उन सभी का आधार किसी न किसी रूप में ऐतिहासिक रहा है। डा० मुंशीराम शर्मा ने गोपीकृष्ण-लीला के सम्बन्ध में एक अन्य—आध्यात्मिक दृष्टि—से भी विचार करना उपयुक्त समझा है। उनके मत का संक्षेप में उल्लेख करना यहाँ असंगत न होगा। डा० मुंशीराम शर्मा का कहना है कि ऋग्वेद में ऐसे कई मन्त्र हैं जिनमें राधा, गौ, गोप, ब्रज, अहि, वृषभानु, कृष्ण, रोहिनी आदि नाम पाये जाते हैं। यह नाम यहाँ उसी अर्थ में प्रयक्त नहीं हैं जिस अर्थ में इनका प्रयोग पुराण ग्रन्थों में हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि पुराणों के इन नामों का कुछ न कुछ सम्बन्ध वैदिक नामों से अवश्य है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि निरुक्त के कई उल्लेखों से पता चलता है कि वेद-धर्म को जनता पर स्पष्ट करने के लिए ऋषियों ने वेदाङ्गों का निर्माण किया। जब इस प्रकार से वैदिक वाङ्मय का आरम्भ होने लगा तो धीरे-धीरे इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों की रचना शुरू हुई। ये इतिहास और पुराण वेद की ही वृद्धि अथवा व्याख्या करने वाले है। इतिहास-ग्रन्थों में वेद की व्याख्या करने वालों को सूत कहा गया। इनका कार्य प्राचीन इतिहास, गाथा आदि की रक्षा के साथ वेद की व्याख्या करना भी था। वैदिक अलंकारों को, जिनका समझना साधारण जनता के लिए दुरूह था, ये सूत गाथाओं द्वारा समझाया करते थे। पुरूरवा, उर्वशी,

---

१. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol. IV : Page 57.

२. कालिदास का भारत : भगवतशरण उपाध्याय : पृष्ठ १३८

त्रिशङ्कु, नहुष, इन्द्र, वृत्र, गौतम, अहिल्या आदि की कथायें वैदिक अलंकारों के आधार पर ही निर्मित हुई हैं। यही बात राधा, कृष्ण, गोप आदि के बारे में भी हुई।

डा० मुशीराम शर्मा के अनुसार वेदों की आलंकारिक गाथाओं द्वारा व्याख्या का यह क्रम पुराण काल तक चलता रहा। पुराण काल में वेद के गोपा और व्रज शब्दों को लेकर गोपलीला प्रारम्भ होती है। सूतों की कवि-कल्पना इस गोपलीला का कृष्ण के बाल जीवन से सम्बन्ध स्थापित करती है। गोपलीला अध्यात्म-पक्ष में मानव की चित्तरंजिनी वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चित्तरंजिनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है।[1] इस कवि-कल्पना का विकास भी एक साथ नही हुआ, समयानुसार धीरे-धीरे हुआ है। पहले गोपियों और कृष्ण की लीलाएँ आई और फिर बाद में राधा का प्रादुर्भाव हुआ।

डा० मुशीराम शर्मा के विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे ऐतिहासिक मान्यताओं की सर्वथा अवहेलना नहीं करना चाहते। इस सम्पूर्ण व्याख्या में उनका उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि—(१) गोपी कृष्ण की लीलाओं के परिघटन में सूतों की कल्पना का विशेष सहयोग रहा। और (२) बाह्य प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी (यदि उन्होंने ग्रहण किया है तो) सूतों ने सदा वेदों के नामों और तथ्यों एवं उपदेशों का ध्यान में रखा। इस प्रकार हमारे विचार से डा० मुशीराम शर्मा ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भागवत में कृष्ण के जिस स्वरूप का वर्णन हमें उपलब्ध होता है—वह केवल बाह्य प्रभाव द्वारा गृहीत रूप नहीं है। उसके मूल में निश्चित ही वैदिक रूप सुरक्षित है और उसका विकास बाह्य प्रभाव का ग्रहण करते हुए सहज रूप से हुआ है।

उपास्य को उपासक के निकट लाने का प्रयत्न

कृष्ण के चरित्र में माधुर्य्य भाव के विकास के सम्बन्ध मे ऊपर दो मान्यताओं की चर्चा की गई है। इस दिशा में इन दोनों का सहयोग महत्त्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त उपास्य को उपासक के निकट लाने की इच्छा ने भी कृष्ण-चरित्र में माधुर्य्य भाव के समावेश के लिए पथ प्रशस्त किया। पिछले अध्याय में हमने इस बात का उल्लेख किया था कि कृष्ण-चरित्र का विकास दो दृष्टियों को सम्मुख रखकर किया गया—(१) अलौकिक रूप देने की

१. सूर-सौरभ : पृष्ठ ११६-१२४.

चेष्टा से और (२) उन्हें लोक जीवन के अधिक निकट लाने की इच्छा से। इनमें से दूसरी प्रवृत्ति ने विशेष रूप से श्रीकृष्ण के चरित्र में माधुर्य्य भाव लाने में सहयोग दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार उपास्य को लोक जीवन के अधिक निकट लाने की यह प्रवृत्ति नई नहीं थी। इस प्रवृत्ति का उदय हमें उपनिषत् काल से ही लक्षित होने लगता है। गीता के श्लोकों में इसी भाव को स्पष्ट रूप देने का प्रयत्न हुआ है। शुक्ल जी के शब्दों में—**'गीता द्वारा उपासना के क्षेत्र में जिस तथ्य का प्रकाश हुआ उसकी ओर हमारे देखने में कम ध्यान दिया गया है। श्रीकृष्ण ने कहा है इस जगत में जो कुछ श्रीमत् और ऊर्जित दिखलाई पड़े उसमें मुझे समझो। इसका अर्थ कहाँ तक जाता है, यह विचारना चाहिए। इस वचन में इस बात का संकेत है कि उपास्य को बिल्कुल परोक्ष रखकर उपासना करने की आवश्यकता नहीं। यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है अतः इसी में उपासना और भक्ति करने के लिये भगवान् की प्रत्यक्ष कला मिल जायेगी। आगे चलकर भागवत में हम इसी तथ्य का स्पष्टीकरण पाते हैं।**

'पूजा से आगे 'उपासना' और 'भक्ति' के लिए भी इसी 'अंजस-मार्ग', 'सीधे मार्ग' का अवलम्बन हमारे यहाँ हुआ। उपास्य को अज्ञात रखकर उपासना करने की पद्धति, 'अविद्योपासना' की पद्धति को, हटाने का प्रयत्न तो उपनिषदों ने किया। उसी विचारसूत्र को पकड़े हुए और आगे बढ़कर भक्ति-मार्ग में 'परोक्षता' का भी परिहार किया गया और प्रेम लक्षणा भक्ति के लिए भगवान् की पूर्ण प्रत्यक्ष कला के अधिष्ठान अवतार लिए गए।'[१]

तात्पर्य यह है कि कृष्ण-चरित्र में माधुर्य्य भाव के प्रति आगे जो झुकाव हमें लक्षित होता है वह केवल बाह्य प्रभाव नहीं है। इस बाह्य प्रभाव को ग्रहण करने के लिए भक्ति-मार्ग में लौकिक जीवन की ओर झुकाव की प्रवृत्ति पहले से जागृत हो चुकी थी। अतः गोपाल-कृष्ण और उसकी विभिन्न लीलाओं को कृष्ण-भक्ति में सहज ही स्थान प्राप्त हो सका। इस बात की पुष्टि हरिवंश, विष्णु पुराण आदि में उपलब्ध गोपाल-कृष्ण की कथाओं के ऋग्वेद के सूत्रों में प्राप्त संकेतों से भी हो जाती है। हेमचन्द्र राय चौधरी तो गोपाल-कृष्ण के मूल भाव और तत्सम्बन्धित कुछ पौराणिक कथाओं को वैदिक साहित्य की विष्णु सम्बन्धी कथाओं से गृहीत स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों का उल्लेख किया है।[२] इसी आशय का

१. सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ ६४–६५

२. *Early History of Vaishnava Sect* : Page 45

समर्थन डा० रामरतन भटनागर ने किया है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कृष्ण-चरित्र का माधुर्य्यभाव पूर्ण विकास सहज स्वाभाविक रूप में हुआ और गोपाल-कृष्ण की लीलाओं की प्रधानता हो जाने पर भी उसका सम्बन्ध किसी भी तरह महाभारतकालीन कृष्ण से विच्छिन्न नहीं हुआ। विष्णु के साथ एकीकरण हो जाने पर तत्सम्बन्धी कथाओं को कृष्ण के चरित्र-विकास में अवश्य ग्रहण किया गया होगा। किन्तु अपने इस कथन के द्वारा हम गोपाल-कृष्ण की लीलाओं के विकास में आभीर जाति द्वारा दिए गए सहयोग के महत्त्व को किसी भी प्रकार कम नहीं करना चाहते। हमारा मात्र उद्देश्य पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करना है कि कृष्ण के चरित्र में आगे जो कुछ भी विकास हुआ, उसके कारण कृष्ण के मूल रूप को सर्वथा छोड़ नहीं दिया गया। इसी बात की पुष्टि श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थ में की है।[2]

कृष्ण-चरित्र के विकास के सम्बन्ध में ऊपर जिन कारणों का उल्लेख किया गया है उनमें से सभी का सहयोग किसी न किसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इतना निश्चित है कि कृष्ण-चरित में परिवर्तन चाहे किसी कारण हुआ हो, पर वह परिवर्तन ईसवी शताब्दी से पूर्व हो चुका था। इस बात का उल्लेख हमें उस काल की मूर्तियों, शिलालेखों और साहित्यिक ग्रन्थों में मिल जाता है। और इस प्रकार के उल्लेख आगे की शताब्दियों के भी उपलब्ध हो जाते है।

गोपी-कृष्ण लीलाओं सम्बन्धी उल्लेख

चतुर्थ शताब्दी के बाद साहित्य-ग्रन्थों तथा शिलालेखों में इस प्रकार के उल्लेख मिल जाते हैं जिनसे कृष्ण और गोपियों की लीलाओं के प्रसार की स्पष्ट सूचना मिलती है। कालिदास ने जिनका समय भाण्डारकर ने ईसा की पाँचवीं शताब्दी का आरम्भ स्वीकार किया है,[3] मेघदूत में एक इन्द्रधनुष शोभी मेघ की तुलना मयूर पंखधारी विष्णु-गोप से की है।[4] इससे पता चलता है

---

१. 'सूर-साहित्य की भूमिका' : पृष्ठ २७०

२. पृष्ठ ५४८ की पाद-टिप्पणी

३. *Collected Works of Bhandarkar* : *Vol IV* : Page 61

४. रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
बल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।'१५॥

कि कालिदास के समय तक विष्णु और गोपाल-कृष्ण के ऐक्य की स्थापना बहुत कुछ स्वीकार कर ली गई थी। मेघदूत के ही अन्य श्लोक में कृष्ण के भाई बलराम का [redacted] आता है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में विष्णु की पत्नी का नाम [redacted] कहा गया है,[1] जो सम्भवतः रुक्मिणी का संकेत करता है। कृष्ण-सम्बन्धित कालिय नाग तथा कौस्तुभ मणि सम्बन्धी घटनाओं के भी संकेत हमें कालिदास में उपलब्ध हो जाते है। किन्तु फिर भी यह बात विशेष ध्यान देने की है कि कालिदास ने अपने किसी भी ग्रन्थ में राधा का उल्लेख नहीं किया। इसी से भगवतशरण उपाध्याय ने अनुमान लगाया है कि सम्भव है, कृष्ण के राधा-प्रेम की कहानियाँ अभी गढ़ी जा रही हों।[2]

इलाहाबाद के बत्तीस मील दक्षिण-पश्चिम मे पभोसा की गुफा में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें एक मानवी आकृति के नीचे यह लिखा पाया जाता है—'श्रीकृष्ण और गोपियों की मूर्तियों का निर्माता'। इसका समय बूलर ने सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी स्वीकार किया है। आठवी शताब्दी में निर्मित ऐलोरा के दशावतार मन्दिर और कैलाश मन्दिर मे कृष्ण की बाल जीवन सम्बन्धी अनेक घटनाएँ चित्रित हैं। गोवर्धन-धारण, कालिय-नाग-नथन आदि घटनाएँ इसी प्रकार की है।

इसी समय अथवा इससे कुछ पहले रची गई कुछ पुस्तकों में भी श्रीकृष्ण-लीलाओं के चित्रण का निर्देश है। नारदपांचरात्र पुस्तक में बालकृष्ण की महिमा गाई गई है। इस पुस्तक का एक अंश ज्ञानामृतसार संहिता है। इसके अनुसार नारद कृष्ण-माहात्म्य सुनने के लिये कैलाश पर शिव के पास जाते हैं, वहाँ उनके महल के सात फाटकों पर यमुना, कदंब पर गोपियों के वस्त्र लेकर बैठे हुए श्रीकृष्ण, गोपियों का नग्नावस्था मे यमुना से बाहर निकलना, कालिय-नाग-नथन, गोवर्धन-धारण, कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय गोपियों का विलाप आदि चित्र चित्रित है। इस प्रकार के दृश्यों के उत्कीर्णन का सर्वप्रथम प्रमाण जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं ईसा की चतुर्थ शताब्दी में जोधपुर के समीप माण्डोर से प्राप्त स्तम्भ में मिलता है।[3] अतः स्पष्ट है कि चौथी शताब्दी से पहले ही गोपी-कृष्ण लीलाओं का प्रसार आरम्भ हो

---

१. विष्णोः च [redacted] : मा० ५-२

२. कालिदास का भारत : भगवतशरण उपाध्याय : पृष्ठ १३८

३. पुरातत्त्व-विभाग, राजस्थान के अध्यक्ष डा० रत्नचन्द अग्रवाल के अनुसार बीकानेर म्युजियम में सुरक्षित गोवर्धन धारण के चित्र कुशाण काल के हैं।

चुका होगा। किन्तु फिर भी भाण्डारकर ज्ञानामृतसार-संहिता का रचना काल सोलहवी शताब्दी स्वीकार करते हैं। इसके लिए उनका मुख्य तर्क यह है कि इसमें व्यूहवाद का जो पांचरात्र मत का प्रमुख सिद्धान्त है, कोई उल्लेख नहीं मिलता। पर केवल इसी आधार पर ज्ञानामृतसार-संहिता को इतना अर्वाचीन मानना बहुत संगत प्रतीत नहीं होता। गोपी-कृष्ण लीलाओं की पूर्णता हमें गीत गोविन्द में लक्षित होती है। इससे बहुत समय पूर्व भागवत में भी गोपी-कृष्ण लीलाओं का विस्तार से वर्णन है। किन्तु तब राधा का विकास न हुआ था। राधा के विकास के साथ-साथ मधुर लीलाओं का भी विकास हुआ। अतः कृष्ण-चरित की मधुर लीलाओं के विकास को समझने के लिए यहाँ संक्षेप से राधा के विकास की चर्चा कर लेना असंगत न होगा।

राधा का विकास

कृष्ण-भक्ति में राधा को अत्यधिक प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ। राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदाय में तो उसे कृष्ण की आराध्या तक भी स्वीकार कर लिया गया। किन्तु फिर भी आज तक इस सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं हो सका है कि राधा किस युग की देन है। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि सर्वप्रथम राधा का उल्लेख गाथा सप्तशती में लक्षित होता है, पर विद्वान उसे प्रक्षिप्त कहकर राधा का इतने प्राचीन काल में अस्तित्व स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि राधा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं—वह कवियों की अथवा दार्शनिकों की कल्पना मात्र है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण : राधा के उद्भव के सम्बन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दो संकेत प्रस्तुत किये हैं। प्रथम यह कि **'राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होंगी, जिनका सम्बन्ध बालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसीलिये आर्य-ग्रन्थों में राधा का नामोल्लेख नहीं है। पीछे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर इस बालक देवता की सारी बातें आभीरों से ले ली गई होंगी और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।'** उनके दूसरे संकेत का आधार कल्पना पर आश्रित है। आपका अनुमान है कि **'राधा इसी देश की आर्य जाति की प्रेम-देवी रही होगी। बाद में आर्यों में इसकी प्रधानता होने पर कृष्ण के साथ भक्ति के लिये इसका सम्बन्ध जोड़ दिया गया।'**[1] इनमें से पहले मत को

१. सूर-साहित्य—पृष्ठ १६-१७

द्विवेदी जी ने भाण्डारकर से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है और दूसरा कल्पना तथा अनुमानाश्रित है।

दार्शनिक दृष्टिकोण : डा० मुंशीराम शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' में राधा के आविर्भाव का दार्शनिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके विचार में राधा-कृष्ण की कल्पना का आधार सांख्य-शास्त्र का पुरुष-प्रकृतिवाद है। निखिल विश्व स्वतः पुरुष एवं प्रकृति का युग्म है। अनासक्त पुरुष अपनी शक्ति प्रकृति के साथ क्रीड़ा कर रहा है। यह पुरुष ही कृष्ण है और प्रकृति राधा है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने तंत्रवाद के अनुसार कृष्ण और राधा को आदि नाथ शिव और पराशक्ति का रूप भी माना है।[2] शक्तिवाद के आधार पर राधा के आविर्भाव को स्वीकार करने वाले अन्य विद्वान भी है। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने स्पष्ट लिखा है—**'राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है, वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न-भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न-भिन्न युगों और भिन्न-भिन्न देशों में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है। जो थीं शुद्ध शक्तिरूपिणी, क्रम परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्हीं ने आकर रूप परिग्रह किया है परम प्रेम-रूपिणी मूर्ति में।'**[3] किन्तु राधा के स्वरूप विधान में साँख्य के पुरुष-प्रकृतिवाद और शाक्तों तथा शैवों के शक्तिवाद का सहयोग स्वीकार करते हुए भी, हमें डा० शशि-भूषणदास गुप्त का यह विचार उचित प्रतीत होता है कि **"राधा के बारे में हमारे सामने जितने प्राचीन तथ्य हैं, उससे लगता है कि साहित्य का आलम्बन करके ही राधा का आविर्भाव और क्रम-प्रसार हुआ है, साहित्य आदि में उज्ज्वल रस के माध्यम से राधा का धर्ममत में प्रवेश हुआ है। धर्म के मत में एक बार प्रवेश करने के बाद राधा का तत्त्वरूप थोड़ा थोड़ा करके विकसित होने लगा।"**[4] पर राधा के आविर्भाव के सम्बन्ध में यह सब स्वीकार कर लेने पर भी राधा के आरम्भिक समय की समस्या नहीं सुलझ पाती।

शिलालेखों में राधा का उल्लेख

श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का प्रचलन ईसवी पूर्व शताब्दी में हो चुका

१. 'भारतीय साधना और सूर-साहित्य' : पृष्ठ १२२
२. भारतीय साधना और सूर-साहित्य : पृष्ठ २००
३. श्री राधा का क्रम विकास : पृष्ठ ३
४. श्री राधा का क्रम विकास : पृष्ठ १००

था, जिसका उल्लेख हमें भास के बाल चरित नाटक में उपलब्ध होता है।[1] शककाल के आरम्भ में अर्थात् विक्रमी संवत् १३६ के लगभग अश्वघोष विरचित बुद्धचरित में भी गोपियों का उल्लेख मिलता है।[2] जिससे यह स्पष्ट होता है कि ईसवी सन् के आरम्भ में गोपियों और कृष्ण की लीलाओं का जनता में प्रचार हो चला था। किन्तु इन गोपियों में किसी प्रधान एवं प्रमुख गोपी की चर्चा हमें पाँचवीं शताब्दी तक उपलब्ध नहीं होती। जोधपुर के समीप माण्डोर में मिले एक स्तम्भ में गोपी-कृष्ण लीलाओं की सामान्य चर्चा है। प्रमुख गोपी का सर्वप्रथम संकेत पाँचवीं शताब्दी में बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में प्राप्त श्रीकृष्ण-लीला सम्बन्धी एक युगल मूर्ति से मिलता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार इस युगल मूर्ति में श्रीकृष्ण के साथ अंकित गोपी राधा ही है। किन्तु इस अनुमान का कोई निश्चित कारण नहीं बताया गया। इसी प्रकार आलवारभक्तों के पदों में, जिनका काल ईसा की पाँचवी शती से नवम शती तक स्वीकार किया जाता है, श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ प्रेम-लीलाओं का वर्णन उपलब्ध हो जाता है। यहाँ पर भी श्रीकृष्ण के साथ किसी प्रमुख गोपी का लक्ष्य किया जा सकता है। विद्वानों ने कल्पना की है कि यह प्रधान गोपी राधा है। यद्यपि स्पष्ट तथ्यों के अभाव में निश्चित रूप से इस विषय में कुछ कह सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है—पर इतना तो कहा जा सकता है कि विशिष्ट गोपी को प्रधानता देकर राधा के आविर्भाव की पृष्ठभूमि इस युग में आरम्भ हो चुकी थी और श्रीकृष्ण की गोपियों के साथ प्रेम-लीलाओं का विशेष प्रचार हो जाने पर किसी गोपी को प्रमुखता प्राप्त होना स्वाभाविक था। इसी मानवी प्रवृत्ति ने राधावाद को आगे जन्म दिया।[3]

साहित्य-ग्रन्थों में राधा का उल्लेख

श्रीकृष्ण की रास लीलाओं के सम्बन्ध में राधा का उल्लेख भट्ट नारायण कृत वेणी संहार (रचनाकाल ८वीं शती) में मिलता है। वेणीसंहार के श्लोकों में कालिन्दी के पुलिनों में रासलीला परायण श्रीकृष्ण से कुपित होकर केलि-क्रीड़ा का त्याग करके जाती हुई राधिका का कृष्ण जिस भाव से अनुसरण

---

१. नन्द गोप पुत्रः एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति, नवनीतं गिरति। –भास नाटक चक्रम्, पृष्ठ ५३६–५३७

२. बुद्ध चरित : ४–१४

३. *History of Mediaeval Hindu India* : C. V. Vaidya : Vol 3 : Page 415

करते हैं वह परवर्ती साहित्य का विषय रहा है।[१] अतः इस उल्लेख का विशेष महत्त्व है। इसके उपरान्त आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक'[२] त्रिविक्रम भट्ट के 'नलचम्पू'[३] (दसवीं शताब्दी), क्षेमेन्द्र के 'दशावतार चरित'[४] आदि अनेक साहित्यिक ग्रन्थों में राधा का उल्लेख श्रीकृष्ण-लीला के प्रसंगों में हुआ है। इन तथ्यों के आधार पर डा० विजयेन्द्र स्नातक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राधा-कृष्ण की भक्ति पाँचवी शताब्दी के आस पास फैलने लगी थी।[५]

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का विचार है कि राधावाद का आरम्भ दसवीं शताब्दी तक नहीं हुआ था, यद्यपि गोपी-कृष्ण की शृङ्गार-लीलाओं का प्राधान्य हो चला था। उनके अनुसार राधावाद का प्रथम प्रकाश लक्ष्मणसेन के सभा कवि जयदेव के गीत गोविंद में ही उपलब्ध होता है।[६] श्री वैद्य के इस विचार का आधार भागवत में, जिसका समय उन्होंने ईसा की दसवीं शती स्वीकार किया है, राधा का उल्लेख न होना है। पर ऊपर उद्धृत उल्लेखों पर ध्यान रखते हुए यह बात भी अस्वीकार नहीं की जा सकती कि राधा और कृष्ण के प्रेम सम्बन्ध का विकास तथा वर्णन दसवीं शताब्दी से काफ़ी पहले हो चुका था। बहुत सम्भव है वैष्णव धर्म के प्रमुख ग्रन्थों में उस समय तक राधा के वास्तविक स्वरूप का निर्णय न होने के कारण, राधा का वर्णन न किया गया हो। परन्तु राधा-कृष्ण की लीलाओं का प्रचलन असंदिग्ध है। इस सम्बन्ध में डा० शशिभूषण दास गुप्त ने भी यही मान्यता प्रकट की है। उनका कहना है कि **'हमारा वक्तव्य यह है कि भारतीय साहित्य के अन्तर्गत राधा-प्रेम का जो प्रथम प्रकाश है, वह रस-विदग्ध कवियों की प्रेम-कविताओं में ही है। उस प्रेम-कविता के अन्तर्गत प्राकृत प्रेम और अप्राकृत प्रेम में लोहे और**

---

१. कालिन्याः पुलिनेषु केलि कुपितामुत्सृज्य रासे रसं
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्॥
तत्पादप्रणिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रत्नुग्नोऽनुनयं प्रसन्न दयितादृष्टस्य पुष्णातु वः॥—वेणीसंहार अ० १, दृश्य १.

२. तेषांगोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम्।
ज्ञेमं भद्र कलिन्दराजतनया तीरे लत वेश्मनाम्॥—ध्वन्यालोक

३. शिक्षितवैदग्धकलापराधात्मिका पर पुरुषे
मायाविनी कृतेशिवधे रागं वध्नाति॥—नलचम्पू

४. दशावतार चरित, काव्यमाला पृष्ठ ८२, ८३ और ९०

५. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ २

६. *History of Mediaeval Hindu India* : Vol. 3 : Page 415

सोने का सा स्वरूप भेद नहीं था। यह स्वरूप-भेद तो आया है बहुत बाद में चलकर, विशेषतः चैतन्य महाप्रभु के आविर्भाव के समय या उससे कुछ पहले।'[1] इसके अतिरिक्त भागवत का रचना काल भी अब विद्वान् सन् ६०० ईसवी से पूर्व मानते हैं। इस कारण उसमें राधा का वर्णन न होना कुछ आश्चर्य-जनक नहीं है।[2] अतः यदि अनुमानतः राधा-कृष्ण की प्रेम-कथाओं का प्रथम-प्रकाश ईसा की छठी शताब्दी के आस पास स्वीकार किया जाता है तो इसमें कोई दोष नहीं है।

पाञ्चरात्र मत

कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में किये गये उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्ण द्वारा महाभारत काल में प्रसारित भागवत धर्म में, जिसका सर्वप्रथम प्रकाश हमें गीता में उपलब्ध होता है, धीरे-धीरे गोपी-कृष्ण-लीलाओं की प्रधानता होती गई। इन लीलाओं की प्रधानता के साथ-साथ कृष्ण-चरित में शृङ्गारिकता बढ़ती गई और गीतगोविन्द के रचना काल तक कृष्ण-भक्ति में राधा अथवा गोपियों से रति-लीला में संलग्न कृष्ण का ध्यान उपासना का प्रमुख अंग

---

१. श्री राधा का क्रम-विकास : पृष्ठ १४१

२. वस्तुतः भागवत का निश्चित समय क्या है—इसका निर्णय दे सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है। क्योंकि विद्वानों में इस विषय पर अभी विवाद चल रहा है। भागवत का समय विद्वानों ने अपने अपने विचारानुसार ईसा की तृतीय शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी तक की परिधि में रखने का प्रयत्न किया है। डा० मुन्शीराम शर्मा की सम्मति में श्रीमद्भागवत का निर्माण ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग हुआ। अपनी धारणा की पुष्टि में उन्होंने अनेक तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो सर्वथा अवहेलनीय नहीं हैं। इनके अनुसार पांचवी शताब्दी में भागवत का अस्तित्व सांख्य-कारिका पर बनी हुई पांचवी शताब्दी की माठर वृत्ति से सिद्ध हो जाता है। इस वृत्ति में भागवत के प्रथम स्कन्ध के छठे अध्याय का ३५वां तथा प्रथम स्कन्ध के आठवें अध्याय का ५२वां श्लोक उद्धृत है (सूर-सौरभ : परिशिष्ट-१)। 'भागवत-सम्प्रदाय' के लेखक बलदेव उपाध्याय भी भागवत को कई प्रमाणों के आधार पर षष्ठ शतक से अर्वाचीन कथमपि नहीं मानते (पृष्ठ-१५३)। भागवत को दसवीं शताब्दी की रचना स्वीकार करने वाले विद्वानों में चिन्तामणि विनायक वैद्य और फर्कुहर का नाम उल्लेखनीय है। पर राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का उल्लेख साहित्यिक ग्रन्थों में छठी-सातवीं शती में आरम्भ हो चुका था—ऐसा हम ऊपर देख आए हैं। अतः यदि भागवत को दसवीं शती की रचना माना जाय तो राधा के नाम का उसमें उल्लेख अवश्य होना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि भागवत की रचना छठी सातवीं शताब्दी से पूर्व ही हुई होगी। इस सम्बन्ध में रामचन्द्र हाजरा की पुस्तक "*Puranic Records on Hindu Rites and Customs*" द्रष्टव्य है।

स्वीकार कर लिया गया। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य का अनुमान है कि कृष्ण-चरित में शृङ्गारिकता का समावेश सर्व प्रथम पांचरात्र मतावलम्बियों द्वारा हुआ।[1] प्रो० विल्सन ने भी पांचरात्र मत के अनुयायियों को "वैष्णव-शाक्त" की संज्ञा उनमें शृङ्गारिक-पक्ष की प्रधानता देखकर दी थी।[2] यद्यपि उक्त दोनों विद्वानों ने अपनी इस धारणा के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया, किन्तु ऐसा प्रतीत है कि उनके इस अनुमान का आधार पांचरात्र संहिताओं में से कुछ में गोपी-कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण की शृङ्गार-परक लीलाओं का उल्लेख है। पर इन एक दो संहिताओं के कारण पांचरात्र मत को ही शृंगार प्रधान कह देना युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। इसी बात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से हम यहाँ पांचरात्र मत के स्वरूप की संक्षेप में चर्चा कर रहे हैं। भागवत धर्म के वास्तविक उपदेष्टा नारायण पांचरात्र यज्ञ द्वारा सब भूतों से श्रेष्ठ अर्थात् पंचरात्रियों, आवरणों या कोषों का अतिक्रमण करके सबसे ऊर्ध्व स्थान के अधिकारी बने। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट भागवत धर्म को पांचरात्र कहा जाता है। पांचरात्र शब्द की व्याख्या कई प्रकार से की गई है। महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय ३४८ श्लोक ८१, ८२) के अनुसार वेद, आरण्यक, साँख्य तथा योग को एक कर देने से इसकी (भागवत धर्म की) पांचरात्र संज्ञा हुई। ईश्वर संहिता, अध्याय २१ के अनुसार शांडिल्य, औपगायन, मौंजायन, कौशिक तथा भारद्वाज पाँच ऋषियों को पाँच रात्रियों में इसका उपदेश दिया गया था। अतः ये पांचरात्र कहलाये। पद्म संहिता, ज्ञानपाद, अध्याय १ के अनुसार अन्य पाँच शास्त्र इसके समक्ष रात्रि के समान मलिन पड़ गये। अतः इसे पांच-रात्र कहा गया है। नारद पांचरात्र (१–४४,४५) तथा अहिर्बुध्न्य संहिता (११/६४) के अनुसार रात्र का अर्थ है ज्ञान। ज्ञान पाँच प्रकार का है—परम तत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (संसार)। इन्हीं पाँच विषयों का प्रतिपादन करने से इस शास्त्र का नाम पांचरात्र पड़ा।[3] पांचरात्र शब्द की इन व्याख्याओं से जहाँ पांचरात्र मत के स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है—वहाँ इन से उसकी प्राचीनता भी सूचित होती है। पांचरात्र मत का आरम्भ हमें महाभारत काल से स्वीकार करना चाहिए। उस समय कृष्ण-चरित में शृङ्गारिक भावना का विकास ही नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त पांचरात्र मत के मूल सिद्धान्तों में, जैसा कि ऊपर दी गई व्याख्याओं से स्पष्ट होता है, वेद, आरण्यक, साँख्य

---

१. *Epic India* : Page 413

२. *Religious Sects of Hindus* : Page 7

३. भक्ति का विकास : डा० मुंशीराम शर्मा पृष्ठ २५८

तथा योग के सिद्धान्तों को समन्वित रूप में ग्रहण किया गया है। इसीलिये पांचरात्र मत के सिद्धान्तों को रामानुज आदि आचार्यों ने अपने भाष्यों में उद्धृत किया है और उसे साँख्य, योग, पाशुपत और वेदों के समान प्रामाणिक माना है—

सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि पांचरात्र मत का मूल-स्वरूप भागवत धर्म के सर्वथा अनुकूल था। किन्तु कालान्तर में पांचरात्र मत में अन्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को भी ग्रहण कर लिया गया। इसी के परिणाम स्वरूप हमें बाद के पांचरात्र साहित्य में निरूपित सिद्धान्तों में शैव, शाक्त और तान्त्रिक सिद्धान्तों का मिश्रण मिलता है।[2] अतः पांचरात्र मत के कारण ही कृष्ण-चरित में शृंगार भाव का समावेश हुआ—ऐसा मानना संगत प्रतीत नहीं होता।

तंत्रवाद

भागवत धर्म का मधुर भाव की ओर झुकाव तंत्रवाद के कारण भी हुआ होगा, जिसमें भगवान के स्त्री रूप की पूजा साधना का आवश्यक अंग थी। यह साधना सातवीं शताब्दी के आरम्भ तक बौद्ध और ब्राह्मण धर्म में प्रवेश कर चुकी थी, और इसका प्रचार इतना बढ़ा कि तत्कालीन मूर्तियों में बहुत सी मिथुन रूप में ही है। यह शक्ति और शक्तिमत् का अभेद कुछ बुरा न था, किन्तु विकृत आचारभ्रष्ट व्यक्तियों के हाथों में इस साधना का भ्रष्ट होना अवश्यम्भावी था। वैष्णव धर्म में भी सम्भवतः यह स्थिति कुछ समय तक रही हो।

सामान्य रूप से तंत्रवाद का उद्भव ईसा सन् के आरम्भ के साथ स्वीकार किया जाता है। इस समय भारतवर्ष में एक विचित्र धार्मिक स्थिति थी। हिन्दू धर्म सिर उठा रहा था और बौद्ध धर्म गिर रहा था। बाहर से आई हुई अनेक जातियों से विविध विचार समाज में प्रविष्ट होकर नाना सम्प्रदायों और मतवादों के उद्भव का कारण हो रहे थे। पतनशील बौद्ध धर्म भी जनता की हटती हुई श्रद्धा को फिर से प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील था। तंत्रमत इसी प्रयत्न का परिणाम है। इस मत के अनुसार आत्मा ही शिव है, जो अपनी शक्ति के रस को ग्रहण करता है। तन्त्रवाद में स्त्री-पूजा इसी शक्ति

---

१. श्रीभाष्यः २-२-४२

२. भक्ति का विकास : डा० मुंशीराम शर्मा पृष्ठ २७४

का प्रतीक मानी जाती है। स्पष्ट है कि ये शक्तिवादी व्यभिचारी नहीं है—उनका अपना स्वतन्त्र दर्शन है। इस मत में पराशक्ति की उपासना का विशेष प्रचलन हुआ जिसे इन्होंने त्रिपुर सुन्दरी के नाम से अभिहित किया। तन्त्रवाद के इस उच्च सिद्धान्त ने तत्कालीन पण्डितों को आकर्षित किया। फलतः कालान्तर में भागवत धर्म पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

स्पष्ट है कि तंत्रवाद का दार्शनिक और आध्यात्मिक पहलू बहुत ऊँचा था। यह सत्य है कि तंत्रमत अपेक्षाकृत असंस्कृत लोगों में बहुत विकृत हो गया। पर उसी विकृत रूप को सम्मुख रखते हुए तंत्रमत के महनीय रूप को भूल जाना सर्वथा संगत नहीं है। वुडरॉफ ने अपने ग्रन्थ 'शक्ति और शाक्त' में तंत्रमत के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'सच्ची तांत्रिक साधना मन में ही सम्भव है।'[१] जब साधक साधना के सच्चे स्वरूप को न समझ कर केवल बाह्याचारों में अपने को सीमित कर देता है तभी विकृति आरम्भ होती है। अतः विकार का कारण मत वा साधना नहीं मानी जा सकती।

विद्वानों की मान्यता है कि तंत्रवाद के उद्भव का कारण आदर्श भ्रष्ट बौद्धसंघ था। भिक्षु और भिक्षुणियों के अबाध व्यभिचार से जब लोग संघ की ओर से उदासीन हो रहे थे उस समय इस व्यभिचार को धार्मिक और दार्शनिक रूप दिया गया। पर तथ्य यह है कि संसार के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में तन्त्रवाद का अस्तित्व है। तन्त्रवाद के मूल सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं जितनी स्वयं मनुष्य जाति। यह हो सकता है कि उस युग में बौद्ध संघों के कारण इस मतवाद का जोर बढ़ गया हो पर इसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसका उद्भव भी उसी से हुआ हो।[२] श्री मणीन्द्र मोहन बोस ने तन्त्रवाद के मूल भाव को सहज सामाजिक अभिव्यक्ति स्वीकार किया है। उनके अनुसार ऋग्वेद में ऐसे अनेकों मंत्र मिल जाते हैं जिनमें अच्छी वर्षा और संतति के लिए प्रार्थना की गई है। संतति के इसी भाव को लिंग पूजा का रूप दिया गया और धीरे-धीरे इसी भाव का विकास शक्ति-पूजा के रूप में आज हमें दृष्टिगत होता है।[३] इस प्रकार तन्त्रवाद का मूल भाव अपने आप में विकृत नहीं—वह सर्वथा सहजिक है।

---

१. *Shakti and Shakta* : Page 21

२. सूर-साहित्य : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ २५

३. *Post Chaitanya Sahjia Cult* : Page 103

प्रायः दसवीं शताब्दी के आसपास तन्त्रवाद अपनी अनेक यौगिक क्रियाओं के साथ खूब फैल चुका था। इसके साथ ही साथ नाथपन्थ का भी प्रचार प्रारम्भ हुआ, जिन्होंने तान्त्रिकों की यौगिक क्रियाओं को स्वीकार करते हुए भी उसमें सुधार कर उस पक्ष को छोड़ दिया जो विकार का कारण हो सकता था। इस प्रकार अत्यधिक संयम की साधना का प्रचार हुआ। संयम का बाँध कालानुसार टूट गया और उन असंस्कृत लोगों में, जिन्होंने इस प्रकार की साधना को विशेष रूप में अंगीकार किया था, नाना प्रकार के व्यभिचारों का प्रसार होने लगा। पर यह दशा उन्हीं तक सीमित न रही। फलतः राजाओं के दरबार ही नहीं तत्कालीन कला, कविता आदि सभी शृंगार के विकृत रूप में पूर्णतया निमज्जित हो गये।[1] इस काल में रचे गये राधा-कृष्ण के लीला सम्बन्धी गीतों में भक्ति-भावना नाम-मात्र को नहीं है। वे केवल बाह्य आवरण मात्र प्रतीत होते है। 'राधा-तन्त्र' और 'राधा-चक्र' का प्रवर्तन कर तांत्रिकों ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का अच्छा प्रसार किया। श्री कन्हैया लाल माणेक लाल मुन्शी ने कल्याण के भक्ति अङ्क में लिखे अपने एक लेख में इसी बात की पुष्टि की है। उनका कहना है—**'ईसा की दसवीं शताब्दी में काह्नभट्ट के प्रभावान्तर्गत बंगाल में बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ। काह्नभट्ट वैसे बहुत बड़े विद्वान् और कवि थे और बंगाल मे उनका बड़ा नाम था, परन्तु उन्होंने अवैध प्रेम का उपदेश दिया और यह भी कहा कि गुरु के प्रति शारीरिक और मानसिक दोनों ही रीतियों से पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देना मुक्तिमार्ग है। लोक-गीतों और त्यौहारों के द्वारा राधा-कृष्ण के प्रेम की गाथायें पहले ही स्थान पा चुकी थीं। इन दोनों की संयुक्त शक्ति से श्रीकृष्ण-भक्ति का मार्ग अधिकाधिक रूप में प्रशस्त होता गया।'**[2]

इस प्रकार की घोर व्यभिचारपूर्ण स्थिति हमें चौदहवीं शताब्दी तक दिखाई देती है। किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी में चण्डीदास ने अपने संकीर्तन के पदों में राधा-कृष्ण की उन्हीं लीलाओं को स्वीकार कर उनमें इस प्रकार की भावना को अभिव्यक्त किया है जो पाठक के सामने भक्ति का एक आदर्श उपस्थित कर सकें। यहीं से वैष्णव भक्ति की कविता में सुधारवाद का आरंभ होता है।[3] इस प्रकार की आदर्श मधुर भावना सम्पन्न भक्ति-धारा के प्रवाहित होने पर धीरे-धीरे विकृत तंत्रवाद का प्रचार कम होने लगा और चैतन्य

१. *Chaitanya and His Age* : *D. C. Sen.* : Page 6-8

२. भक्ति अङ्क : भारत में भक्ति-रस का प्रवाह : पृष्ठ १०२

३. *Chaitanya and His Age* : D. C. Sen : Page 18

के समय तो शक्तिवाद या तंत्रवाद सुदूर जंगलों की जातियों में ही अवशिष्ट रह गया।[1]

यद्यपि वृन्दावन में राधा-कृष्ण की मधुर भक्ति भावना का बारहवीं शताब्दी में निम्बार्क द्वारा प्रवर्तन हुआ। किन्तु वृन्दावन में इसकी परिपुष्टि चैतन्य के आविर्भाव के बाद ही हुई। आरम्भ में यह मधुर धारा विकार शून्य रही। विभिन्न आचार्यों ने अपने आदर्शपूर्ण तथा संयमित जीवन के प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा इसे पोषित किया। अतः तत्कालीन समाज पर इस भाव-धारा का प्रभाव अत्यधिक वेग से हुआ और भारत का अधिकांश भाग इस भाव की भक्ति में बहने लगा। किन्तु भावपूर्णभक्ति में विचार की क्षीणता के साथ-साथ विकार की सम्भावना भी बढ़ती है। तदनुरूप समयानुसार इस उच्च भाव-सम्पन्न कृष्ण-भक्ति में भी विकृति आई होगी। पर उसी विकृति को इस धारा का मूल कारण स्वीकार करना संगत नहीं है। वैष्णव भक्ति में राधा-कृष्ण के जिस रूप को स्वीकार किया गया, वह इन कलुषित भावों से सर्वथा निर्लिप्त था। यदि वह जनप्रिय हुआ तो उसका कारण मनुष्य की दूषित वृत्ति न थी। उसके ईश्वर रूप में एक अन्य ही आकर्षण था। हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने इसी विचार की पुष्टि करते हुए ब्रजभाषा-काव्य में स्वीकृत उपास्य के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है—**'कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रजभाषा-काव्य के प्रारम्भ काल में राधा और कृष्ण इतिहास या तत्त्ववाद की चीज नहीं रह गये थे। वे सम्पूर्णतः भाव-जगत् की चीज हो गये थे। भक्ति, प्रेम और माधुर्य की नाना सम्पदाओं से विचित्र यह युगल-मूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उस ईश्वर में वैदिक देवताओं का संभ्रम नहीं था, ग्रीक ओपोलो की भीति नहीं थी, इस्लामी खुदा की तटस्थता नहीं थी, दार्शनिक ईश्वर की अद्भुतता तो एकदम नहीं थी, था एक सहज, सरल, घरेलू सम्बन्ध। तन्त्रवाद के ससीम रस से सीमा-हीन की उपलब्धि के सिद्धान्त ने तात्कालीन जन-समुदाय को, सखारूप से, प्रिय रूप से, स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति अग्रसर कर दिया था। भागवत सम्प्रदाय के देवदेव देवकी-पुत्र वासुदेव-कृष्ण इसके उपास्य अंश थे और आभीरों के बाल-देवता इसके प्रेय रूप थे। इन दोनों रूपों में आरोपित सहजवाद, तन्त्रवाद और बौद्ध-विनय ने एक इतःपूर्व अननुभूत, अज्ञात भाव-देव की सृष्टि की जो ब्रज-भाषा काव्य का उपास्य हुआ।'**[2] द्विवेदी जी के इस विचार से हम सर्वथा सहमत हैं।

१. *History of Bengal* : Jadunath Sarkar : Vol. 2 : Page 221

२. सूर-साहित्य : पृष्ठ २१

कृष्ण-भक्ति के विकास का जो विवेचन ऊपर किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-चरित्र में मधुर भावना का समावेश किन विभिन्न कारणों से हुआ। कृष्ण-चरित में मधुर भावना के विकास के परिणामस्वरूप कृष्ण-भक्ति में माधुर्य्य भक्ति का उदय हुआ। किन्तु उदयकाल से प्रायः पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक माधुर्य्य भक्ति का रूप केवल लीलापरक रहा। उसके बाद भक्त्याचार्यों ने तत्कालीन परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए इसे सम्यक् शास्त्रीय आधार दिया और उसे उपासना के रूप में स्वीकार कर लिया। जिन परिस्थितियों के कारण भारत में मधुर उपासना का प्रसार हुआ उन्हीं का अनुशीलन हम तृतीय अध्याय में करेंगे।

—: ० :—

तृतीय अध्याय

माधुर्य्य भक्ति परक कृष्ण काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

किसी काव्य की मूल प्रवृत्ति अथवा विचार-धारा का उत्स समाज ही है। तत्कालीन समाज में जिस विचार-धारा का प्राबल्य होता है वही कवि की रचना में प्रतिफलित हो जाती है—इसीलिये साहित्य को समाज का प्रतिबिम्ब कहा गया है। किन्तु समाज के स्वरूप-निर्माण व उसकी विचार-धारा को निश्चित रूप देने वाली कई परिस्थितियाँ हैं। किसी भी समय के समाज के स्वरूप को समझने के लिये इन्हें ध्यान में रखना अत्यावश्यक है। सामान्यतः 'सामाजिक दशा' से अभिप्राय किसी समाज में प्रचलित रीति-रिवाज, पुरुष और स्त्री के परस्पर सम्बन्ध, उनकी मनोवृत्तियाँ एवं व्यवहार, मनुष्यों के विभिन्न वर्ग आदि कुछ स्थूल बातों से है। किन्तु समाज का वास्तविक स्वरूप इतना ही नहीं है। ये बातें अन्य कुछ परिस्थितियों की सापेक्ष है जिनको जाने बिना इनकी चर्चा अधूरी रह जाती है। ये है राजनैतिक और धार्मिक परिस्थितियाँ। समाज की विचार-धारा में परिवर्तन लाने में इन दोनों परिस्थितियों का योग महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों परिस्थितियाँ समाज की विचार-धारा को सदा प्रभावित करती हैं, जिसका परिणाम हमें समाज के रीति-रिवाज, उनकी मनोवृत्ति, पारस्परिक सम्बन्ध आदि में लक्षित होता है। यह सत्य है कि यह प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता है और इसका स्पष्ट रूप हमें तीन-चार शताब्दियों के बाद ही दिखाई देता है—विशेष रूप से उन देशों में जिनकी सांस्कृतिक चेतना अत्यधिक दृढ़ है। इस प्रकार के देश अपनी मूल विचार-धारा को सुरक्षित बनाये रखने का अत्यधिक प्रयत्न करते हैं किन्तु फिर भी परिस्थितियों के प्रभाववश इन्हें अपनी विचार-धारा में कुछ न कुछ परिशोधन करना पड़ता है। भारत का मध्यकालीन इतिहास इसी बात का साक्षी है। अतः समाज की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिय उक्त परिस्थितियों का अनुशीलन आवश्यक है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति परक कृष्ण-काव्य की सामाजिक पृष्ठभूमि को हृदयंगम करने के लिये हमें चार-पाँच शताब्दियों के इतिहास को

दखना होगा। इन शताब्दियों के राजनैतिक तथा धार्मिक इतिहास के परीक्षण द्वारा हमें वह तत्त्व खोजने होंगे, जिन्होंने माधुर्य्य भक्ति की धारा को इतने प्रबल रूप में प्रवाहित कर दिया कि जिससे प्रायः समग्र भारत—उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक—उसी एक धारा में डुबकियाँ लेने लगा। माधुर्य्य भक्ति-धारा हमारे साँस्कृतिक तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष को सूचित करती है अथवा पतन को—इस बात का निर्णय भी इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर किया जा सकता है।

राजनैतिक परिस्थिति

सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु (ई० स० ६४७) के बाद भारत में किसी विशाल राज्य की स्थापना न हो सकी। सम्पूर्ण राज्य-सत्ता छोटे-बड़े राजवंशों में बँट गई। इस प्रकार से राज्यशक्ति की एकता का तो ह्रास हुआ, किन्तु उसके साथ एक अन्य हानि यह भी हुई कि ये सभी छोटे-बड़े राजवंश अपनी अपनी सत्ता को बढ़ाने के लिये एक दूसरे से युद्ध करने लगे। इन समय समय पर होने वाले युद्धों ने हिन्दू जाति की एकता और उनकी शक्ति—दोनों को समाप्त-प्राय कर दिया। ऐसे समय में देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हुए। केन्द्रीय राज्यसत्ता के अभाव में सभी राजाओं ने स्वतन्त्र रूप से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उनका सामना किया और कुछ अंश में सफलता प्राप्त की। किन्तु उनके पारस्परिक भेद-भाव ने उनका सर्वनाश कर दिया। तत्कालीन इतिहास लेखकों का कहना है कि इस समय के हिन्दू राजाओं में वीरता, शारीरिक शक्ति, आत्मत्याग, कष्ट-सहन आदि गुण मुसलमानों से किसी प्रकार कम न थे। वे उस समय भी वीरों की भाँति मरना जानते थे। हिन्दुओं का युद्ध कौशल भी किसी प्रकार मुसलमानों के युद्ध कौशल से कम न था। उनमें स्वदेश और स्वधर्म के प्रति श्रद्धा और प्रेम की भी कमी नहीं थी। परन्तु अभाव था तो केवल राष्ट्रीय एकता का।[1]

राजपूत राजाओं के अतिरिक्त साधारण हिन्दू जनता ने देश की इस राजनैतिक उथल-पुथल के प्रति उपेक्षा का भाव स्वीकार कर लिया था। दार्शनिक विचारों की ऊहापोह ने उन्हें एक प्रकार से अकर्मण्य बना दिया था। कर्मवाद के सिद्धान्त में उनकी इतनी आस्था हो गई थी कि वे मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचारों को अपने कर्मों का फल मानकर सन्तोष कर लेते थे। पुरुषत्व की अपेक्षा भाग्य पर उनका विश्वास अधिक था, इहलोक की

१. *History of Muslim Rule* : Ishwari Prasad : Page 53

अपेक्षा परलोक पर उनका ध्यान अधिक था—जो समय को देखते हुए उचित न था और इसीलिये इसका परिणाम घातक सिद्ध हुआ।

एक बार मुस्लिम राज्य की स्थापना हो जाने पर धीरे-धीरे उसका विस्तार हो चला। किन्तु राज्य-विस्तार के साथ-साथ बाह्य आक्रमण, आंतरिक विद्रोह, सरदारों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा आदि अनेक समस्यायें उनके सामने आई। अतः मुस्लिम शासकों का अधिक समय युद्ध एवं कलह में व्यतीत होता रहा। इस कारण सामाजिक व्यवस्था की ओर ये बादशाह अधिक ध्यान न दे सके। गुलाम वंश के बाद क्रमशः खिलजी, तुग़लक और लोदी वंश का राज्य हुआ। किन्तु भारत में राजनैतिक स्थिरता मुगल वंश के अकबर के काल में ही आ सकी। सारांश यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक का काल राजनैतिक दृष्टि से मुसलमानों के उत्थान और हिन्दुओं के पतन का काल है। और सामान्य रूप से इस युग में अस्थिरता और अशान्ति का ही साम्राज्य रहा।

मुसलमानों के अत्याचार

मुसलमान सैनिकों और शासकों को युद्ध करते समय दो बातों का ध्यान रहता था। प्रथम तो उन्हें धन का लोभ था। दूसरा उनके मन में यह धारणा थी कि वे इस्लाम धर्म के नाम पर लड़ रहे हैं—और इसीलिए उनका यह कार्य धर्म-अनुमोदित होने के कारण सर्वथा उचित है। इस्लाम के नाम पर लड़ना और विजय प्राप्त करना तो ठीक है, परन्तु उन्होंने विजय के साथ-साथ हिन्दू जनता से जो व्यवहार किया वह सर्वथा गर्हणीय है। उलमा लोगों ने उनके मन में यह बात बिठाने का प्रयत्न किया कि इस्लाम धर्म को अस्वीकार करने वाले व्यक्तियों का नाश धर्म के अनुसार अनुचित नहीं है। इस्लाम धर्म के इन पण्डितों से प्रोत्साहन पाकर मुसलमान शासकों ने जो कुकृत्य किये उनकी आलोचना सभी इतिहासकारों ने की है।[1]

हिन्दू जनता पर अत्याचार और हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने का यह क्रम ग़ज़नवियों से आरम्भ हुआ और प्रायः अकबर के समय तक समान रूप से चलता रहा। बीच-बीच में कुछ उदार मुसलमान शासक हुए, किन्तु उन्हें अपने विचारों को कार्यान्वित करने का अधिक अवसर नहीं दिया गया। धर्मान्धता का जो बीज एक बार उलमाओं ने बोया था वह निरन्तर फैलता गया। मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट करने के साथ-साथ हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाने का प्रयत्न जारी रहा। मुसलमान बनाने के लिए हिन्दुओं को धन का

१. *Sultan Mahmood of Ghazani* : Habib : Page 79.

लोभ भी दिया गया। किन्तु वे व्यक्ति जो इस प्रकार अत्याचार से ग्रस्त होकर और लोभवश मुसलमान बन गए—वे जज़िया कर से मुक्त चाहे हो गए हों पर उनकी आर्थिक दशा अधिक नहीं सुधरी और सामाजिक दशा तो और अधिक गिर गई। मुसलमानों ने उन्हें निम्न जातियों में स्वीकार किया तथा हिन्दू जाति से उन्हें निरादर प्राप्त हुआ। इस प्रकार सभी तरह से हिन्दुओं की दशा शोचनीय बनी रही।

इस प्रकार के अत्याचार सहन करके भी हिन्दू जाति आत्म रूप से निस्तेज कभी नहीं हुई। वस्तुतः हिन्दू संस्कृति और साधना में वह दृढ़ता है जिसे इस प्रकार के कई राजनैतिक विप्लव भी नहीं विचलित कर सकते। उसका आधार राज्य-सत्ता नहीं आध्यात्मिक चिन्तन है जो उसके अन्तस् में सदैव बना रहता है। इसी बात की ओर निर्देश करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि 'यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवर्ष की साधना नहीं है। एक बार बड़े-बड़े राजा और सम्राट् हमारे देश में दिखाई पड़े थे। किन्तु इनकी महिमा इन्हीं में सीमित रही। देश के सर्वसाधारण ने उस महिमा की सृष्टि भी नहीं की, वहन या भोग भी नहीं किया। व्यक्ति विशेष की शक्ति में ही उसका उद्भव और विलय हुआ। किन्तु भारतवर्ष की एक अपनी साधना है, वह है उसके अन्तर की चीज। सब प्रकार के राष्ट्रीय विपर्यय के भीतर से भी उसकी धारा बहती रही है।'[1] राजनैतिक अस्थिरता और हिन्दुओं की घोर पराजय में भी भारतवर्ष ने पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में जिन महापुरुषों को उत्पन्न किया है—वे इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि हिन्दू समाज से राजनैतिक पराजय के उपरान्त उसकी चेतना लुप्त न हुई थी। यह सत्य है कि घोर निराशा के युग के आरम्भ में ही हिन्दू समाज तथा धर्म में विकृति के चिह्न स्पष्ट होने लगे थे किन्तु फिर भी उसमें वह शक्ति अभी विलीन नहीं हुई थी, जिसने उसे पुनः जागृत होने के लिए प्रेरित किया। स्पष्ट है कि मुसलमानों की विजय केवल बाह्य थी—इससे भारत की आध्यात्मिक शक्ति में किसी प्रकार ह्रास नहीं हुआ। वह अनेक बौद्धिक और धार्मिक आन्दोलनों के रूप में निरन्तर बहती रही।[2]

ऊपर भारत की राजनैतिक स्थिति की जो चर्चा की गई है उससे यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि राज्य-सत्ता की इस उथल-पुथल अथवा विघ्न-

१. आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर-साहित्य, पृष्ठ ४३ से उद्धृत।

२. *Local-Self Government in Ancient India* : Radha Kumud Mukerjee : Page 12.

बाधाओं के परिणामस्वरूप भी सामान्य जीवन अपने पुराने ढर्रे पर चलता रहा। सामान्य हिन्दू जनता का सदा से राज्यसत्ता की ओर से उपेक्षा का भाव रहा है। किन्तु अब इस राजनैतिक उथल-पुथल ने उन्हें इस ओर से सर्वथा उपेक्षित करके अपने आन्तरिक जीवन की ओर विशेष रूप से अभिमुख कर दिया। इस प्रकार के राजनैतिक परिवर्तन का एक और भी परिणाम हुआ। अनेक विचारशील पुरुषों का ध्यान राज्यसत्ता की ओर से हटकर धार्मिक और सामाजिक जीवन की ओर गया। वहाँ फैले अन्ध-विश्वास, रूढ़िवादिता, बाह्याडम्बर की प्रधानता की ओर उनका ध्यान गया। इस प्रकार की कुरीतियों को दूर करने के लिए वे तत्पर हो गये और इस प्रकार धार्मिक आन्दोलनों को विशेष दृढ़ता प्राप्त हुई।

धार्मिक परिस्थिति

हिन्दू धर्म—मुसलमानों के आक्रमणों से पूर्व भारत की धार्मिक स्थिति बिगड़ने लगी थी। सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध धर्म का धीरे-धीरे ह्रास हुआ और शंकराचार्य ने तो वैदिक धर्म के पुनरुत्थान द्वारा इसे समाप्त-प्राय कर दिया। पर शंकराचार्य ने जिस ब्रह्मवाद का प्रचार किया—वह सामान्य जनता की पहुँच से बाहर था। बुद्धि की सूक्ष्मता के लिये वहाँ स्थान था—पर हृदय की आस्था के लिए वहाँ अवकाश न था। परिणामतः आश्रय के अभाव में जनता में बाह्याडम्बर, धर्मान्धता, परम्परावादिता आदि का प्रचार प्रबल रूप से हो चला और धर्म का चेतन रूप लुप्तप्राय होकर स्थूल एवं बाह्य रूप पल्लवित होने लगा। ग्यारहवीं शताब्दी के जो वर्णन उपलब्ध होते हैं उनके अनुसार इस काल में काली अथवा देवी (शिवा) की पूजा लगभग शिव और विष्णु के ही समान लोकप्रिय थी। पूजन के बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक भावना पर कम ध्यान दिया जाता था। रक्तपात वाले धार्मिक कृत्यों, मानव बलिदानों, जादू-टोने, अप्राकृतिक हठयोग तथा शक्तियों अथवा स्त्री-देवताओं की उपासना के प्रति जनता की आसक्ति निरन्तर बढ़ रही थी। शक्तियों की उपासना के अवसर प्रायः मदिरापान तथा अन्य अनैतिक कार्यों के अवसर होते थे। मत मतान्तरों की बाढ़ सी आ गई थी और साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता में सभी धर्मों के आधारभूत नैतिक सत्यों को भुला दिया गया था।

सहजिया सम्प्रदाय—धर्म के नाम पर मदिरापान, मांस-भक्षण और इस प्रकार के अन्य अनैतिक कार्यों का प्रचार भारतवर्ष में तंत्र-मत के साथ बढ़ा था। जैसा कि हम पिछले अध्याय में कह आये हैं कि तंत्र-मत का वास्तविक

स्वरूप बुरा नहीं है। उसमें मदिरा, मांस, मैथुन आदि को ग्रहण किया गया है—पर एक विशेष पद्धति के रूप में। परन्तु आलोच्य युग में उसके सच्चे स्वरूप को भुलाकर उसका बाह्यरूप ग्रहण कर लिया गया था। परिणामतः तंत्र-मत घोर अनाचार के प्रसार का प्रमुख कारण सिद्ध हो रहा था। तंत्र-मत का प्रचार हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों के आश्रय में हुआ। शाक्त सम्प्रदाय का वामाचारी मार्ग हिन्दू धर्म की देन है और सहजिया सम्प्रदाय बौद्ध धर्म की।[1] इन दोनों प्रकार के तंत्र-मतों का बिहार और बंगाल में चौदहवीं शताब्दी तक विशेष प्रचलन रहा। इसके अतिरिक्त भारत में यदि भागवत या वैष्णव धर्म का कुछ प्रचार था, तो वह इतना क्षीण था कि उसका स्वर उस युग में हमें बिल्कुल सुनाई नहीं देता। किन्तु आगे जिस प्रबलता से वह हमारे सामने आता है—उससे अनुमान किया जा सकता है कि वैष्णव धर्म भी लुप्त नहीं हुआ था। पर यह तो नितान्त स्पष्ट है कि सहजिया सम्प्रदाय की सहजता में जनता का विश्वास अधिक था वैष्णव धर्म में उतना नहीं।

सहजिया सम्प्रदाय बौद्ध धर्म का स्वाभाविक विकास है। वे नैतिक बंधन जिनके पालन पर भगवान् बुद्ध ने विशेष बल दिया था, जब धीरे-धीरे ढीले होने लगे उसी समय से सहजयान का आरम्भ स्वीकार किया जाना चाहिए। सहजयान के अनुयायियों के अनुसार स्त्री-पुरुष का यौन प्रेम ही मुक्ति का प्रमुख साधन है। क्योंकि जब तक साधक पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से उत्कृष्ट प्रेम नहीं करेगा तब तक भगवान् से प्रेम करना उसके लिए असम्भव है। इस प्रकार के भाव की अभिव्यक्ति हमें सर्व प्रथम तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में रचे गये 'कथावत्थु' नामक बौद्ध ग्रन्थ में लक्षित होती है। किन्तु इस समय इस प्रकार के अनैतिक प्रेम करने वाले व्यक्तियों को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखा गया—जैसा कि 'अमनुस्सा' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट सूचित होता है।[2] पर बौद्ध धर्म के नैतिक पतन के उपरान्त सहजिया सम्प्रदाय का प्रचार प्रबल रूप से हुआ। परिणामतः इसका सांघातिक प्रभाव पड़ा और बौद्ध-विहार केवल भिक्षु-भिक्षुणियों के भोग-विलास के केन्द्र बन गये। नाना प्रकार के तंत्र-मंत्र तथा आचार द्वारा इन्होंने बौद्ध धर्म के सरल तथा शुद्ध रूप को इस प्रकार क्लिष्ट बना दिया कि मूल धर्म एक प्रकार से ढक गया। फलतः जनता की आस्था बौद्ध-धर्म पर से हटने लगी और इस प्रकार बौद्ध धर्म का गौरव कम हो गया। किन्तु सहजिया सम्प्रदाय ने जिस प्रेम-

१. *Chaitanya Movement* : M. T. Kennedy : Page 9

२. अरहन्तानं वण्णेन अमनुस्सा मैथुनं धम्मं पटिसेवन्ति। —कथावत्थु २१-२

भावना का प्रचार किया था—उसको दूर न किया जा सका। जयदेव के गीतगोविन्द में राधा-कृष्ण की जिन प्रेम-भावापन्न लीलाओं का गान किया गया है—उन पर सहजिया सम्प्रदाय का प्रभाव विशेष लक्षित होता है। इसी प्रकार चौदहवीं शती में लिखे गये चण्डीदास के पदों में भी स्त्री-पुरुष के इस प्रेम की स्वाभाविक अभिव्यक्ति स्पष्ट लक्षित होती है। तात्पर्य यह है कि उस काल के साहित्य में इस प्रकार के प्रेम का ही स्वर ऊँचा था। यहाँ तक कि शैव होते हुए विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम का विशद वर्णन अपनी पदावली में प्रस्तुत किया है।

इधर खोज करने पर बंगाल और बिहार के सीमा-प्रान्तों में ऐसी कुछ पुस्तकें, लोकगीत और ताम्र-पत्र मिले है जिनसे बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की प्रेम-साधना का रूप बहुत कुछ स्पष्ट होता है। श्री दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और उड़ीसा में एक अत्यन्त शोचनीय नैतिक दुर्गति का आविर्भाव हुआ था। उस युग के ताम्र-शासनों पर हर-पार्वती की वन्दना में उनका हाव-भाव तथा परस्पर आलिंगन आदि का रुचि गर्हित वर्णन पाया जाता है। पुरी और कोणार्क के मंदिरों पर अश्लील चित्र अंकित हैं। बंगीय साहित्य परिषद् में उस युग की बनी हर-पार्वती की एक वीभत्स प्रस्तर मूर्ति रखी है। इसके अतिरिक्त रंगपुर, दिनाजपुर और उत्तर बंग के जिलों में, जो हिमालय की तलहटी में बसे हुए हैं, बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के कुछ प्राचीन गीत पाये गये हैं। ये गान दो तरह के होते हैं, असल धमाली और शुक्ल धमाली। असल धमाली गान इतने अश्लील होते हैं कि गाँवों के बाहर ही गाये जाते हैं। इन्हें कृष्ण धमाली भी कह सकते है। ये कृष्ण धमाली गीत ही किसी समय बंग देश के जनसाधारण की राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा सुनने की तृषा मिटा देते थे। शुक्ल धमाली को संशोधन करने के लिए सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदास ने 'कृष्ण-कीर्तन' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह संशोधित संस्करण भी कम अश्लील नहीं है।[1] इससे स्पष्ट है कि जिस समय वैष्णव साहित्य का सृजन आरम्भ हुआ उस समय युग की रुचि किस ओर थी। अतः उसमें प्रेम के शृंगारिक रूप का आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

बंगाल और बिहार प्रदेश की इस स्थिति का प्रभाव उत्तरी भारत में कहाँ तक था—इसे जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री का अभाव है। ब्रज-

१. बंग भाषा और साहित्य : पृष्ठ १९५, १९६

भाषा के शैशव काल में ये प्रेम-गान रचे जा चुके थे। उनका प्रभाव इस प्रदेश के लोकगीतों पर भी हो सकता है। पर सूरदास पर तो जयदेव, विद्यापति आदि का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अतः बहुत सम्भव है कि ब्रज-भाषा-प्रदेश में शृंगारिक लोकगीतों की परम्परा प्रचलित रही हो। आचार्य शुक्ल ने इसी बात को लक्ष्य में रखकर कहा था—**'सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।'**[1]

नाथ पंथ—शृंगार-प्रधान सहजिया सम्प्रदाय के कुछ सिद्धान्त ग्रहण कर आलोच्य युग में योग-मार्ग नाथ पंथ के नाम से आगे बढ़ा। इसमें सहज, शून्य, निरंजन आदि बातें ज्यों की त्यों रहीं। परिस्थिति के अनुसार इनके अर्थों में हेर-फेर जरूर होता रहा, पर इनकी धारा नहीं टूटी। सहजयान की साधना-प्रणाली, जैसे चित्त-स्थिर करना, प्राणायाम, बिन्दु-धारण प्रभृति बातें ज्यों की त्यों रहीं। किन्तु इसके ध्वस्त नैतिक पक्ष को नाथ पंथ में फिर से स्थिर किया गया। हिन्दी साहित्य की निर्गुण-भक्ति शाखा को इन नाथ पंथियों से विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई। हिन्दू-मुस्लिम विरोध-भावना के काल में बाह्याडम्बरों को हटाकर सच्चे धर्म का स्वरूप लेकर चलने वाली कबीर की निर्गुण-भक्ति का पर्याप्त प्रचार हुआ। किन्तु शास्त्रीय आधार से रहित यह मार्ग समाज के निम्न स्तर तक सीमित रह गया। समाज के उच्च वर्ग में इसे आदर का स्थान प्राप्त नहीं हुआ। ऐसे ही समय में दक्षिण से शास्त्र सम्मत भक्ति-धारा का प्रवाह बहा, जिसने केवल शास्त्र को स्वीकार नहीं किया वरन् परिस्थिति से उसका सामंजस्य करते हुए शास्त्र के उन अंशों को, जो भक्ति-सिद्धान्त के अविरोधी थे, ज्यों का त्यों मान लिया और अन्य अंशों की उपेक्षा की।

सूफ़ीमत—आलोच्य युग में हिन्दू धर्म की दशा यदि शोचनीय थी तो इस्लाम धर्म की दशा भी अच्छी नहीं थी। यहाँ भी उलमा लोगों के कारण धर्मान्धता और बाह्याडम्बर का प्रचार अधिकाधिक बढ़ता गया। इस्लाम धर्म में यदि कहीं धार्मिक उदारता और नैतिकता लक्षित होती है तो वह सूफ़ीमत में ही। इस्लाम धर्म के उलमा वर्ग ने हिन्दुओं पर जितना अत्याचार किया उतना ही सूफ़ियों ने उनके निकट जाने का यत्न किया। इस्लाम धर्म वालों ने इन्हें भले अशास्त्रीय (बे-शरा) कहा, किन्तु सूफ़ियों की प्रेम-भावना का प्रभाव मुसलमानों की बा-शरा (शास्त्रीय) साधना-धारा से कहीं अधिक पड़ा। कबीर आदि निर्गुण-भक्ति के साधकों के अतिरिक्त इनकी प्रेम-भक्ति का

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ १६५

प्रभाव कई सगुण भक्तों पर भी लक्षित किया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने इसीलिये कहा था—**'मुसलमान जमाने में इन सूफ़ियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफ़ियों के प्रभाव से आभ्यंतर मिलन, मूर्छा, उन्माद आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफ़ियों का प्रभाव पाया जाता है।**'[1] इन सूफ़ियों को मुसलमान बादशाहों की सहानुभूति कभी प्राप्त न हुई। क्योंकि ये धर्म के सच्चे स्वरूप के उपासक थे। अतः धर्म के उदार पक्ष को स्वीकार करते हुये इन्होंने उलमा लोगों के विपरीत राज्यसत्ता से बिल्कुल किनारा कर लिया और आत्मा की पवित्रता की ओर विशेष ध्यान दिया। यही इनके जीवन का लक्ष्य हुआ। इन्होंने हिन्दू धर्म के प्रति सदाशयता की नीति को स्वीकार कर उसके वेदान्त धर्म को समझा और बहुत अंश तक अपनाया भी। इसी कारण हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में इन प्रेम मार्गी सूफ़ियों का पर्याप्त सहयोग है।

धार्मिक परिस्थितियों के इस सामान्य विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दू धर्म की सामान्य दशा संतोषजनक नहीं कही जा सकती। धर्म का जो रूप इन शताब्दियों में प्रचलित रहा उससे निराशा अधिक होती है। वही धर्म जो कभी हिन्दू जाति के लिये संजीवनी शक्ति का कार्य करता था—आज सम्मोहन शक्ति का रूप धारण कर चुका था। फिर भी हिन्दू धर्म की मूल शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी। वह क्षीण अवश्य हो गई थी—पर उसका प्रवाह कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। समय समय पर हिन्दू धर्म को सम्भालने का प्रयत्न बराबर होता रहा। यह सत्य है कि इस प्रयत्न का स्पष्ट रूप हमें दक्षिण में दृष्टिगत होता है। किन्तु उत्तर भारत में धर्म को संभालने का यत्न बिल्कुल न हुआ हो—ऐसी बात नहीं है। तंत्र-मत के प्रचार के कारण प्रेम के शृंगारिक पक्ष की अवहेलना करना सम्भव न था। किन्तु उसमें से अश्लीलता को कम से कम करने की चेष्टा हमें 'गीतगोविंद', चण्डीदास के 'कृष्ण-कीर्तन' और लीलाशुक रचित 'श्रीकृष्ण-कर्णामृत' में लक्षित होती है। इन तीनों ग्रन्थों में कवियों की चेष्टा भागवत में निरूपित वेदान्त-भक्ति, गोपी-कृष्ण प्रेम और तांत्रिक शृंगार-लीलाओं में परस्पर सामंजस्य स्थापित करने की है। इस सामंजस्य के द्वारा वे एक ओर तो तंत्र-मत की शृंगारिक अश्लीलता को कम करना चाहते हैं

१. सूरदास : पृष्ठ ११४

और दूसरी ओर वैष्णव धर्म को फिर से जनता के सम्मुख लाना चाहते हैं। अपने इस प्रयत्न में वे अत्यधिक सफल हुए। इनके द्वारा प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ते हुए चैतन्य और वल्लभ आदि आचार्यों ने एक बार तो नवीन चेतना जागृत कर ही दी और तांत्रिक साधना को हिमालय की तलहटी में अथवा अन्य प्रदेशों में शरण लेने के लिए बाध्य किया।

ऊपर कहा गया है कि दक्षिण में वैष्णव धर्म की धारा किसी न किसी रूप में चली अवश्य आ रही थी। दैवयोग से मुसलमानों के उत्तरी भारत में प्रभुत्त्व स्थापित कर लेने पर अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों को उत्तरी भारत छोड़ दक्षिण चले जाना पड़ा और इस प्रकार वैष्णव धर्म के प्रसार में विशेष सहायता मिली। वैष्णव धर्म की क्षीण धारा अब प्रबल रूप से बहने लगी। किन्तु मुसलमानी प्रभाव बढ़ने के साथ यह धारा उत्तर में शीघ्र न पहुँच सकी, यद्यपि इसका शास्त्र सम्मत रूप रामानुजाचार्य ने ग्यारहवीं शताब्दी में प्रस्तुत कर दिया था। दक्षिण में वीरशैव सम्प्रदाय और माध्व मत का अवलम्ब लेकर वैष्णव भक्ति-मार्ग धीरे-धीरे अपना विकास करता रहा और विजयनगर राज्य की स्थापना पर तो इसका और भी उत्कर्ष हुआ। इस काल में अनेक वीरशैव मत और माध्व मत के वैष्णव कवियों ने भक्ति सम्बंधी भजनों की रचना कर जनता को प्रभावित किया।[1]

तंत्र-मत के शृंगारिक रूप को सुधारने का यह एक रूप था—जो हमें जयदेव, चण्डीदास आदि भक्त कवियों में लक्षित होता है। इन्होंने केवल प्रेम की अश्लीलता को हटाने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर नाथ पंथ ने सहजिया सम्प्रदाय में आने वाली दुर्गति का उन्मूलन और सामान्य हिन्दू धर्म से अन्धविश्वासों का उच्छेद करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उनका यह प्रयत्न श्लाघ्य था—किन्तु उनकी साधना सफल न हो सकी। उनमें योग की कृच्छ्र साधनाओं का विशेष प्रचार हो उठा। अतः इसमें झूठे चमत्कार, योग-सिद्धि आदि की इतनी प्रधानता हो गई कि प्रेम की सरसता का इसमें सर्वथा अभाव हो गया। पर चौदहवीं शताब्दी में दक्षिण की वैष्णव भक्ति-धारा और सूफ़ियों के प्रेम-मार्ग ने नाथ पंथ को एक नवीन रूप दिया जो कबीर पंथ के रूप में हमारे सामने आता है। यद्यपि निर्गुण मत का अवलम्बन करने वाले और खंडन-मंडन पर विशेष बल देने वाले कबीर पंथ के धर्म-सुधारकों के कारण सगुण भक्ति के प्रचार में कुछ बाधायें अवश्य आई किन्तु फिर भी धर्म के सच्चे स्वरूप के

१. हिन्दी और कन्नड़ में भक्ति-आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन—डा० द्विरण्मय पृष्ठ २२६।

प्रकाश के लिए रास्ता बहुत कुछ साफ हो गया। ऐसे समय पन्द्रहवीं शताब्दी में चैतन्य और वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म को फिर से चेतना प्रदान की और केवल पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी नहीं आगे की शताब्दियों में भी वैष्णव भक्ति का पुनीत स्वर गूंजता रहा। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में हम कह सकते हैं–**'हमारा विश्वास है कि ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जन-साधारण में एक साधना विकसित होती जा रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में वह एकाएक फूट उठी। ग्रियर्सन साहब का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'अचानक बिजली के समान यह बात भारतीय अन्तरीप के इस छोर से उस छोर तक चमक गई।' परन्तु इसके लिए चार सौ वर्ष से मेघ पुंजीभूत हो रहे थे और केवल बिजली ही नहीं चमकी, पन्द्रहवीं शताब्दी में भक्ति की जो वर्षा आरम्भ हुई, वह चार सौ वर्ष तक बरसती रही जरा भी नहीं रुकी।'**[1]

धार्मिक परिस्थिति के इस विवेचन से एक बात और स्पष्ट हो जाती है। भक्ति-भावना, जिसका प्रचार मध्य युग में (पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी तक) हुआ, कहीं बाहर से हमारे देश में नहीं आई है और न ही किसी अन्य धर्म की देन है। इसे ईसाई धर्म की देन स्वीकार करने वाले विद्वानों की चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इसे इस्लाम धर्म की देन भी कहते हैं। खालिक अहमद निज़ामी के अनुसार इस्लाम धर्म की दो बातों ने हिन्दू धर्म की विचारधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया– (१) ईश्वर की सत्ता में विश्वास और (२) मनुष्यों में परस्पर भ्रातृ-सम्बन्ध। इन दो भावों को लेकर चलने वाला भक्ति-आन्दोलन हिन्दू धर्म पर इस्लाम के प्रभाव को स्पष्ट सूचित करता है। इस आन्दोलन का सूत्रपात निश्चय ही तुग़लक-वंश के शासन-काल में हुआ।[2] इसी प्रकार के आशय की अभिव्यक्ति आर्नल्ड ने भी अपनी पुस्तक 'दी प्रीचिंग ऑफ़ इस्लाम' में की है।[3] परन्तु यदि विचार किया जाय तो उक्त मत अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। एकेश्वरवाद का सिद्धान्त जिसे इस्लाम धर्म की देन कहा जाता है, हिन्दू मनीषियों को प्रसिद्ध पैग़म्बर मुहम्मद के उपदेश देने से बहुत पूर्व ज्ञात था— जिसका विवेचन उपनिषद् और भागवत धर्म में हुआ है।[4] दूसरा जाति-पाँति

१. सूर-साहित्य : पृष्ठ ८३

२. *Studies in Mediaeval Indian History* : Page 75.

३. इस आशय के लिए इस पुस्तक का पृष्ठ ४१३ द्रष्टव्य है।

४. *History of Mediaeval India* : Ishwari Prasad : Page 464.

के विरोध में भ्रातृ-भाव के सिद्धान्त का प्रचार बौद्ध धर्म द्वारा मुसलमानों के आने से बहुत पूर्व हो चुका था। अतः भक्ति-भावना मुसलमानों के सम्पर्क के कारण विकसित हुई यह धारणा तथ्य सम्मत नहीं है। और वास्तविकता तो यह है कि भक्ति का उदय भारत में बहुत पूर्व हो चुका था। श्री दिनेशचन्द्र सेन के अनुसार तो मध्ययुग के वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति-भाव बौद्ध धर्म की महायान मार्गी भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था। इस धर्म के अधिकांश अनुयायियों में सैकड़ों देव-देवियों की पूजा चल पड़ी थी। उनके देव-देवियों—प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, मंजुश्री की मूर्तियाँ बहुत कुछ वासुदेव और लक्ष्मी की मूर्तियों के समान हैं।[1] प्रसिद्ध डा० कर्न ने भी इसी बात की पुष्टि की है।[2] अतः स्पष्ट है कि मध्ययुग की प्रेम-भावापन्न भक्ति भारत की अपनी चीज है। किसी अन्य धर्म की देन नहीं है।

सामाजिक परिस्थिति

सामान्य दशा—आलोच्य युग में हिन्दुओं की सामान्य दशा प्रायः दयनीय थी। मुसलमानों के आगमन से जहाँ हिन्दुओं की राजनैतिक शक्ति ह्रासोन्मुख हो गई वहाँ दूसरी ओर उनका सामाजिक पतन भी आरम्भ होने लगा। मुसलमानी राज्य में उन्हें कोई अधिकार नहीं दिया गया। वे विदेशी शासन के कट्टर शत्रु गिने गए और कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकार-पदों से वंचित कर दिये गए। इस प्रकार सन्धि-विग्रह में, वाणिज्य-व्यवसाय में, भीतरी और बाहरी राज्य-व्यवस्थाओं में सर्वत्र विदेशियों और विधर्मियों का हाथ था। इस देश के रहने वालों ने अनिच्छापूर्वक विवश होकर यह शासन-व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। बीच-बीच में सिर उठाने की कोशिश अगर कहीं हुई भी, तो तत्काल ही दर्प चूर्ण कर दिया गया। इन परिस्थितियों ने शस्त्र-जीवियों को श्रमजीवी बना दिया। उन्हें अपने जीवित रहने के लिए भी 'जज़िया' नामक टैक्स देना पड़ता था और कभी कभी तो उनके अर्जित अथवा उत्पादित भाग का ५० प्रतिशत उनसे इस टैक्स से रूप में ग्रहण कर लिया जाता था। अकबर के समय तक किसी मुसलमान शासक ने हिन्दुओं के प्रति साहनुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया। किन्तु यह सब सहते हुए हिन्दू जाति ने अपना आत्म-गौरव कभी नष्ट नहीं होने दिया। यही कारण है कि प्रायः पाँच शताब्दियों तक हिन्दुओं ने अपने को मुसलमानों से पृथक् रखा। जबरदस्ती मुसलमान बनाये जाने पर उन्होंने विरोध किया और अपने धर्म

१. *Bengali Language and Literature* : Page 350.

२. *Manual of Buddhism* : Page 124.

तथा संस्कृति के नाम पर आत्म-बलिदान भी कर दिया। उन्होंने मुसलमानों को सदा म्लेच्छ समझा और अपनी संस्कृति को ही श्रेष्ठ समझते हुए सदा उनसे दूर रहने का प्रयत्न किया। स्पष्ट है कि वे परिस्थितियों से विवश थे, किन्तु उनका गौरव, पुरुषत्व और सम्मान का भाव पूर्ववत् था।

जात-पात—हिन्दुओं में वैसे तो जात-पात और आचार-विचार का सदा दृढ़ता से अनुसरण किया गया है, किन्तु इस युग में तो जाति-प्रथा का कठोरता से पालन किया जाता था। इस कठोरता का कारण था। मुसलमानों से पूर्व अनेक आक्रमणकारी इस देश में आये—पर उन्होंने अपने विचारों को हिन्दू संस्कृति के अनुकूल बना लिया। फलतः वे हिन्दू जाति में घुल मिल गये और उन्होंने प्रचलित वर्ण व्यवस्था में अपने लिये स्थान बना लिया। इससे मूल वर्णों के कई भेदोपभेद अवश्य हो गये किन्तु उसका स्वरूप वैसा का वैसा बना रहा। मुसलमानों के आने पर नवीन समस्या खड़ी हो गई। ये अपनी संस्कृति और अपने धर्म को श्रेष्ठ मानने वाले थे। और उनकी यह संस्कृति तथा धर्म हिन्दू धर्म का बिल्कुल विरोधी था। अतः ऐसी अवस्था में अपनी संस्कृति की रक्षार्थ जात-पात के सम्बन्ध में अधिक दृढ़ता से कार्य लिया गया। लेकिन इसका परिणाम अच्छा न हुआ। निम्न स्तर के हिन्दू इस कठोरता से घबरा उठे और उन्हें इस्लाम धर्म में शरण लेनी पड़ी।

जन साधारण में इस प्रकार की कठोरता का एक राजनैतिक कारण भी था। हिन्दू राजाओं की समाप्ति के साथ ब्राह्मणों के अधिकार समाप्त हो गये। शासन-व्यवस्था में अब उनके लिये कोई स्थान न था। अब ब्राह्मणों का ध्यान उच्च वर्ग से हट कर सामान्य जनता की ओर गया। अतः उन्होंने अपनी व्यवस्था के लिये साधारण जनता को ही माध्यम बनाया और इस प्रकार विवाह, खान-पान तथा अन्य सम्बन्धित बातों में जात-पात का कट्टरता से पालन किया जाने लगा।[1] विद्वानों का विचार है कि समय के साथ-साथ हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्पर्क बढ़ता गया और उसी के फलस्वरूप जाति-प्रथा में शिथिलता आने लगी।[2] किन्तु यह हम ऊपर कह आये हैं कि जाति-प्रथा का विरोध मुसलमानों के आने से पूर्व होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी या उससे पूर्व की सिद्ध-योगियों की रचनाओं में इस प्रथा पर कठोर आघात किये गये हैं और इन्हीं सिद्ध-योगियों का सूत्र पकड़ कर कबीर आदि सुधारकों

१. *Life and Conditions of the People of Hindustan* : K. M. Asharaf : Page 79

२. वही : भूमिका : पृष्ठ ५

ने जहाँ जाति-प्रथा का विरोध किया वहाँ अन्य धार्मिक आडम्बरों का भी विरोध किया। अतः मुसलमानों का इसमें कुछ सहयोग स्वीकार किया जा सकता है। उनके आने से ही ऐसा हुआ—यह मानना हमें संगत प्रतीत नहीं होता।

नारी की दशा—सामाजिक संगठन में नारी की स्थिति तथा उसके कार्य स्पष्टतः उसकी पराधीनता के द्योतक थे। समाज के नियमों और परम्पराओं ने उसकी बुद्धिहीनता की घोषणा-सी कर दी थी। घर ही उसकी सीमा थी, घर से बाहर जाने की उसे अनुमति न थी। घर के कार्यों में संलग्न रहकर अपने पति को संतुष्ट रखना और अपने को पतिव्रता सिद्ध कर सकना—यही उसके जीवन-स्वप्न थे। इसके विपरीत पुरुष, स्त्री के पातिव्रत्य के प्रशंसक अवश्य थे—पर वे स्वयं स्त्रीव्रत का पालन नहीं करते थे। केवल सुलतान या हिन्दू राजा ही नहीं वरन् अन्य उच्च वर्ग के व्यक्ति भी विवाह को पवित्र बन्धन नहीं मानते थे। हिन्दू विचार परम्परा के अनुसार नारी जननी मात्र थी। स्त्रियाँ पुरुषों के साथ सार्वजनिक सम्पर्क में न आती थीं किन्तु फिर भी हिन्दू जाति में नारी का रुधिर-पात एक घृणित दोष स्वीकार किया जाता था। नारी शिक्षा की सर्वथा अवहेलना इस काल में नहीं हुई। हाँ कृषक वर्ग की कन्याओं को अपने बौद्धिक विकास के लिये समय ही नहीं मिल पाता था। यह नारी सामान्य की दशा थी। किन्तु इसके विपरीत उच्च वर्ग की स्त्रियों के कई उदाहरण ऐसे मिल जाते है जहाँ नारी ने स्वयं अपनी विद्वत्ता तथा योग्यता से समाज में अपनी असाधारण स्थिति सिद्ध की। देवलरानी, रूपमती, पद्मावती और मीराबाई हिन्दू संस्कृति के सुन्दर प्रमाण हैं। दूसरी ओर रज़िया की शासन चतुरता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि मुस्लिम अभिजात वर्ग तथा राजवंश स्त्रियों को कितनी उच्च शिक्षा तथा दीक्षा प्रदान कर सकता था।

परदा-प्रथा इस काल में हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों में लक्षित होती है। परदे का व्यवहार विशेष रूप से नागरिक जीवन से सम्बद्ध था। कृषक स्त्रियाँ परदा नहीं करती थीं। रज़िया के उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि राजकीय अन्तःपुर में परदा-प्रथा थी। उच्च वर्ग के हिन्दू तथा सामन्त स्त्रियों को आवरण में रखते थे और बाहर ले जाते समय तालेदार पालकियों में ले जाते थे। परदे की इस प्रथा को सुधारने का कोई प्रयत्न सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक न हुआ। किन्तु बाद में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बढ़ने पर विदेशी लोगों के सम्पर्क के कारण इस प्रथा को सुधारने की चेष्टा

कई धार्मिक आन्दोलनों के रूप में हुई।[1]

इस युग में सती-प्रथा और जौहर का प्रचलन था। ये प्रथायें राजपूतों और दक्षिण के राजाओं में विशेष प्रचलित थीं। सती-प्रथा को ब्राह्मणों ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया और स्त्रियों के अक्षय सुहाग के लिये इसे आवश्यक माना। इस कारण स्वेच्छा से ही नहीं ज़बरदस्ती भी स्त्रियों को मृत पतियों की जलती चिता पर ढकेल दिया जाता था। बाद में मुसलमान शासकों ने यह नियम बना दिया कि स्त्री को सती होने से पहले राजकीय आज्ञा प्राप्त करनी आवश्यक है। पर इससे इस दर्दनाक प्रथा में कोई विशेष शिथिलता नहीं आई। दूसरी ओर राजपूतों में जौहर के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। किन्तु इसका आश्रय केवल उस घोर आपत्ति के समय लिया जाता था—जब कि यह निश्चित हो जाय कि शत्रु अत्यधिक निर्दय है और उससे बचने की कोई आशा नहीं है। इस प्रकार जौहर के मूल में आत्म-सम्मान की रक्षा का भाव निहित था।

आलोच्य युग में दास और दासी रखने की प्रथा विशेष प्रचलित थी। मुसलमान शासकों का तो दासों पर विशेष विश्वास था। वे उनकी योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर रहते थे। जिस समय शासक की सन्तान अयोग्य सिद्ध होती थी—ऐसे अवसर पर विश्वस्त दास लोग ही शासन के कर्णधार बनते थे। बलबन आदि ऐसे कई उदाहरण हैं जिन्होंने सामान्य दासों से उन्नति करते करते शासक के पद को प्राप्त किया। स्पष्ट है कि सभी दासों के प्रति कठोर बर्ताव नहीं होता था और उन्हें उन्नति के अवसर दिये जाते थे। वस्तुतः दास रखना उस युग का फ़ैशन था और उच्च पद वाले दासों का होना एक गौरव की बात मानते थे। इसी प्रकार दासी रखने की प्रथा भी उस युग की रीति थी।

विलास-भावना—चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक भारत विलास में डूब गया था। विलास के केन्द्र केवल मुसलमान नवाब नहीं थे—हिन्दू राजा भी विलास में उनका पूर्ण सहयोग दे रहे थे। देश में सम्पत्ति का अभाव न था और सम्पत्ति की प्राप्ति के साथ आराम-विलास की ओर लोगों का ध्यान जाने लगा। मुसलमान शासन में उच्च अधिकार योग्यता से नहीं बादशाह की इच्छा से मिल जाते थे। इस प्रकार सहज प्राप्त सम्पत्ति के कारण तथा बादशाहों द्वारा आयोजित जशनों में, जिनमें सुरापान और नृत्य-संगीत रात्रि

१. *Life and Conditions of the People of Hindustan* : K. M. Asharaf : Page 143

के तीसरे भाग तक अविराम चलता था, सम्मिलित होने के कारण सभी उच्च अधिकारियों की विलास-भावना बढ़ती गई और चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक मुसलमान अधिकारियों में पहले का सा पुरुषत्व और उत्साह न रहा।[1]

विलास के दो केन्द्र थे—कामिनी और कादम्ब। मुसलमान बादशाह और हिन्दू राजा कामिनी-भोग में इतने तल्लीन थे कि उनका अधिकांश समय इन्हीं के साथ व्यतीत होता था, किन्तु फिर भी उनका सन्तोष न हो पाता था। इन्होंने विभिन्न प्रदेशों से चुन-चुनकर सुन्दरियाँ लाने के लिए खास विभाग खोल दिये थे। सामान्य जनता इस विलास से दूर न थी। विलास के परिणाम अथवा धार्मिक विरोध का उन्हें तनिक ध्यान न था। धनी-दरिद्र, युवा-वृद्ध और हिन्दू-मुसलमान सभी अपनी अपनी योग्यतानुसार शारीरिक आनन्द का उपभोग करते थे। परन्तु देश की आर्थिक अवस्था को बनाए रखने के लिए कृषक और हाथ का काम करने वाले लोगों को नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया जाता था।[2] वैश्या-वृत्ति इसी विलास की देन है। उस युग में इसका प्रचार विशेष था। शासकों ने इस वृत्ति को दूर करने अथवा सुधारने का प्रयत्न कभी नहीं किया। इसके विपरीत वे इसे आय का साधन समझकर बढ़ावा देते रहे। संगीत और नृत्य को इस वृत्ति के साथ संयुक्त कर दिया गया। अतः इस युग में कला केवल विलास का साधन बन कर रह गई, जिसका प्रभाव कुछ अंश में कविता पर भी पड़ा। कामिनी और कादम्ब के आश्रय में द्यूत-वृत्ति भी पल्लवित होती रही।

मुसलमान शासकों में से कुछ ने सुरा-पान और द्यत-क्रीड़ा तथा भोग-विलास को संयमित करने का प्रत्यत्न किया। अलाउद्दीन ने राजनैतिक कारणों से अपने अफ़सरों में मदिरा-पान और जुआ खेलने पर प्रतिबन्ध लगा दिये थे। किन्तु जब तक वह रहा तभी तक इसका पालन हो सका। इसके बाद फिरोज़ तुग़लक और उसके पुत्र मुहम्मद तुग़लक ने इस ओर कुछ कठोरता से काम लिया। फिरोज़ तुग़लक ने तो स्त्रियों के स्वच्छन्द घूमने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और उसकी आज्ञा-भंग करने वाली स्त्रियों के लिए कठोर दण्ड की घोषणा कर दी गई थी। इससे भोग-विलास की तीव्रता अवश्य कुछ कम हुई परन्तु उसका यथार्थ उपचार न हो सका।

---

१. *History of Muslim Rule* : Ishwari Prasad : Page 227

२. *Life and Conditions of the People of Hindustan* : K. M. Asharaf : Page 223

सारांश यह है कि आलोच्य युग में समाज के नैतिक बन्धन अत्यधिक शिथिल हो गए थे। भोग-विलास अथवा मनोरंजन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। उस समय के शासक और सैनिक-अधिकारियों के सामने दो बातें थीं—रज्म (युद्ध) और बज्म (आनन्दोपभोग)। युद्ध से विरत होकर ये अपने श्रम का परिहरण नाना प्रकार के मनोरंजन के साधनों से किया करते थे, जिनमें स्त्री, सुरा और जुआ का स्थान प्रमुख था। वे इन आनन्दोपभोगों में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें युद्ध एक बहुत बड़ी बाधा प्रतीत होता था। सामान्य जनता भी भोग-विलास से बिल्कुल अलग तो न थी किन्तु उनके मनोरंजन के साधन कुछ भिन्न थे। धार्मिक-उत्सवों अथवा तीर्थ-यात्रा द्वारा वे बहुत कुछ मनोरंजन कर लिया करते थे।[1] लेकिन उनका आदर्श विलासिता से भिन्न नहीं था।

माधुर्य्य भक्ति क्या भक्ति का पतनोन्मुख रूप है

इस प्रकार की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक अधःपतन की अवस्था में माधुर्य्य भक्ति का उदय हुआ। वैसे तो उक्त सभी परिस्थितियों ने, जैसा कि हम परिस्थिति-विवेचन के साथ-साथ देख आये हैं, माधुर्य्य भक्ति के उदय में कुछ न कुछ सहयोग दिया है, किन्तु फिर भी धार्मिकता ने शृंगार की ओर अधिक झुकाव और समाज में विलास-विस्तार ने इसके उदय और प्रसार में विशेष सहयोग दिया है। आचार्य शुक्ल के मत में **इस परिस्थिति में भागवत की प्रेम-लक्षणा भक्ति के प्रचार द्वारा ही लोगों के कल्याण-मार्ग की ओर आकर्षित होने और साथ ही भारतीय संस्कृति के बने रहने की संभावना आचार्य (वल्लभ) जी को दिखाई पड़ी।**'[2] पर प्रश्न यह है कि क्या माधुर्य्य भक्ति जनता का कल्याण करने में समर्थ हो सकी? अथवा उसने समाज के लिए केवल पतन का मार्ग प्रशस्त किया। ऐसे विद्वान् भी हैं जो माधुर्य्य भक्ति को केवल नैतिक पतन का अन्य रूप स्वीकार करते हैं। किन्तु हमारा ही नहीं आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रभृति विद्वानों का भी विश्वास है कि माधुर्य्य भक्ति ने अपने उक्त उद्देश्य की बहुत अंश तक पूर्ति की। कीचड़ से उत्पन्न होकर भी कमल जिस प्रकार अपनी शुद्धता बनाये रखता है उसी प्रकार माधुर्य्य भक्ति सभी प्रकार के अधःपतन से उदित होकर तब तक निष्कलंक रही जब तक उसकी वह आत्म-शक्ति निस्तेज न हुई जिसका आधार शारीरिक प्रेम नहीं

१. वही : पृष्ठ १८६-१८७

२. सूरदास : आ० रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ १००

आध्यात्मिक प्रेम था। उस शक्ति के क्षीण हो जाने पर माधुर्य्य भक्ति का स्वर काव्य से लुप्त हो गया और उसमें शृंगारिकता प्रधान हो उठी।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा अथवा तांत्रिक-साधना के कारण इस प्रेममयी भक्ति का उदय हुआ था। पर उनमे सामग्री ग्रहण करके उस साधना में जो नवीन चेतना एवं स्फूर्ति संचरित की गई उसका श्रेय वैष्णव धर्म की इस माधुर्य्य भक्ति को ही है। पतनोन्मुख साधना को फिर से व्यवस्थित कर नवीन रूप और उत्साह प्रदान करना कम महत्त्व का कार्य नहीं है।[1] इसके अतिरिक्त वैराग्य की प्रधानता, हठयोग की साधना का अभाव, मद्य, मिथुन, मांस आदि पाँच मकारों का सर्वथा त्याग—ऐसी कई बातें हैं जिनके आधार पर नरेन्द्रनाथ लॉ ने तन्त्र मत से पौराणिक भक्ति को भिन्न एवं श्रेष्ठ स्वीकार किया है।[2] यह सत्य है कि साधना में प्रेम-भाव का प्रयोग दोनों स्थान पर दृष्टिगत होता है किन्तु पौराणिक प्रेमा-भक्ति में सयम पर विशेष बल दिया गया है। तन्त्र मत में प्रेम की साधना का जो रूप स्वीकार किया गया है, उसका चैतन्यदेव ने प्रबल शब्दो में विरोध किया है। उन्होंने अपने शिष्यों के सम्मुख पवित्र जीवन व्यतीत करने का आदर्श प्रस्तुत किया और युवा तथा सुन्दरी स्त्रियों से सम्पर्क रखने की विगर्हणा की। उनकी दृष्टि में इस प्रकार का सम्पर्क जिससे नैतिक शिथिलता आती है, समाज के लिए घातक था।[3] अतः स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति के प्रचारकों का दृष्टि-कोण समाज-सुधार का था और इसी पवित्र लक्ष्य को बनाये रखने की चेष्टा उन्होंने आजीवन की।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार मध्ययुग के कवियों ने जिन पुराणों के आधार पर अपनी माधुर्य्य भक्ति का प्रतिपादन किया है उनमे वेदान्त के उत्कृष्ट स्वरूप का भक्तिपूर्ण निर्देश किया गया है।[4] अतः उनकी रचनाओं में कभी लौकिक आनन्द को काव्य का आनन्द स्वीकार नहीं किया गया। निम्नातिनिम्न संसारी वस्तु से उच्चातिउच्च अध्यात्म तत्त्व का संसर्ग करा देना उनके लिए इसी कारण सम्भव हो सका। कृष्ण-कवियों के काव्य मे रूप और अरूप तथा इन दोनों से भी परे जो तत्त्व है उसकी अभिव्यंजना होती

१. *Bengali Language and Literature* : D. C. Sen : Page 353

२. *Studies in Indian History and culture* : N N. Law : Page 334 and 354.

३. *History of Mediaeval India* : Ishwari Prasad : Page 323.

४. महाकवि सरदास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृष्ठ ६७

है—इसीलिए कृष्ण-भक्तों की कृष्ण-काव्य से आत्मिक तृप्ति होती है।[1] मध्ययुग में आकर कवियों की यह अलौकिक भावना क्षीण हो गई थी, अतः इस समय 'कवियों के मानस केवल लौकिक शृंगार से रंगे होने के कारण काव्य के जो तैल-चित्र निर्मित हुए वे समाज की मलिन भावनाओं के संसर्ग से धूसरित होकर और भी विकृत हो गये। कवियों ने वह कला विसार दी जो विविध रसों में एक उदात्त अलौकिक रस निष्पन्न करती थी। उन दिनों के कवि-चित्रकारों ने अपनी चित्र भूमि को जिस रंग में रंगा उस पर चित्र भी उसी रंग के बनाये। कला की सब बारीकियाँ भुला दी गईं। कहीं भी उन्मेष नहीं था। जब सूर ने अपनी तूलिका उठाई, उन्होंने विनय के पदों में 'सूरसागर' की भक्तिमयी आधार भूमि विशेष चमत्कार के साथ तैयार की और उस पर कृष्ण की शृंगारमयी मूर्ति अपनी सम्पूर्ण श्री-शोभा के साथ अंकित कर दी।'[2]

यह सत्य है कि कृष्ण की इस प्रकार की भक्ति में समाज की सर्वथा उपेक्षा की गई और इसीलिए आगे चलकर समाज में इस भक्ति-विशेष के कारण बुराइयाँ फैली। किन्तु इसका आरम्भ सर्वथा निष्कलंक था। आचार्य शुक्ल ने शील और मर्य्यादा की ओर अधिक ध्यान न देने वाली पुष्टि भक्ति की आलोचना करते हुए इसे समाज के लिए हानिकारक कहा है। पर उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि 'जनता पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी (वल्लभ सम्प्रदाय) के भक्त शिष्यों ने सुन्दर सुन्दर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत धारा बहाई उसने मुरझाते हुये हिन्दू जीवन को सरस और प्रफुल्ल बनाया। इस संगीत धारा में दूसरे सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्तों ने भी पूरा योग दिया।'[3] अतः माधुर्य्य भक्ति में निश्चित ही भक्ति-भाव का उन्मेष स्वीकार किया जा सकता है।

सामाजिक पृष्ठभूमि के उक्त विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शती तक की भारत की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों ने माधुर्य्य भक्ति के प्रसार के लिए मार्ग प्रशस्त किया। किन्तु माधुर्य्य भक्ति की इस धारा का आधार सदा शास्त्रीय रहा। विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में माधुर्य्य भक्ति को मोक्ष-साधन के रूप में स्वीकार किया गया। सर्व प्रथम बारहवीं शताब्दी में आचार्य निम्बार्क ने

१. वही : पृष्ठ ८४
२. वही : पृष्ठ ८८
३. सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृष्ठ ११२

उपासकों को 'सहस्र-सखी-परिसेवित' राधा-कृष्ण के संयुक्त ध्यान का निर्देश किया। सम्प्रदायों में यह माधुर्य्य भक्ति के शास्त्रीय रूप का आरम्भ था। पर पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में अन्य गौड़ीय, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्यों और भक्तों ने माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का और विस्तार किया। उक्त सभी सम्प्रदायों में भक्ति-सिद्धान्तों के विवेचन द्वारा माधुर्य्य भक्ति को दृढ़ शास्त्रीय आधार पर प्रतिष्ठित किया गया। अतः माधुर्य्य भक्ति के इस शास्त्रीय आधार अथवा दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए कृष्ण-भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों—निम्बार्क, गौड़ीय, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी के भक्ति-सिद्धांतों की संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त कुछ विद्वान माध्व सम्प्रदाय को गौड़ीय से असम्पृक्त करके देखते हैं, यद्यपि दोनों सम्प्रदायों का दार्शनिक मत बिल्कुल भिन्न है। अतः अगले अध्याय में हम उक्त कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के साथ-साथ माध्व सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों की भी संक्षेप में चर्चा करेंगे।

—:०:—

चतुर्थ अध्याय

कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय तथा उनके भक्ति-सिद्धान्त

वैष्णव सम्प्रदाय

वैष्णव भक्ति-भावना को दार्शनिक आधार देकर फिर से स्थापित करने वाले आचार्यों का युग प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। विद्वानों के अनुसार इस परम्परा के प्रथम आचार्य रामानुज (ई० सन् १०३७ से ११३७ तक) हैं। तदुपरान्त तीन अन्य आचार्य—निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्व हुए, जिनके जीवन का मात्र लक्ष्य भक्ति-भावना का प्रसार था। इन आचार्यों के सद्प्रयत्न से वैष्णव भक्ति-भावना देश के कोने कोने मे फैल गई। इसी आचार्य परम्परा मे, सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी मे कई ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने भक्ति-सिद्धान्त पर नवीन दृष्टि से विचार किया। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभ, गोस्वामी हित हरिवंश और स्वामी हरिदास इन्हीं आचार्यों मे से हैं। किन्तु इस समय (सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी) तक वैष्णवों मे यह मान्यता कि उक्त चारों आचार्यों (रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्व) द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय ही केवल वैष्णव सम्प्रदाय हैं, इतनी प्रचलित हो चुकी थी कि इनसे इतर प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्य या उनके अनुयायियों को अपने नवीन दार्शनिक सिद्धान्त, मन्तव्य तथा अभिनव साधन मार्ग होने पर भी उक्त चतुःसम्प्रदायों के साथ किसी न किसी रूप में सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता था। यदि कोई आचार्य अपने सम्प्रदाय को स्वतन्त्र मानकर उसके पार्थक्य पर बल देता था तो उसे चतुःसम्प्रदाय वाले वैष्णव स्वीकार नही करते थे। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप अधिकाश आचार्यों ने इच्छा अथवा अनिच्छा से चतुः-सम्प्रदाय की संकीर्ण सीमा का स्वीकार करके अपने को वैष्णव समाज मे शामिल किया है।

चतुःसम्प्रदाय की परिमित सीमा मे बंधकर अपने को वैष्णव घोषित करने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप भक्ति-सिद्धान्त, पूजा-पद्धति और और आचार-व्यवहार की दृष्टि से सर्वथा भिन्न अनेक सम्प्रदायों को परस्पर सम्बद्ध किया गया। वल्लभ सम्प्रदाय का विष्णुस्वामी से और चैतन्य प्रवर्तित गौड़ीय सम्प्रदाय का मध्वाचार्य से सम्बन्ध इसी प्रवृत्ति का फल है। किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार विशाल और व्यापक

वैष्णव धर्म को चतुःसम्प्रदाय की सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न केवल अंधविश्वास के कारण है। इसीलिए ज्यों ज्यों इस विषय में भ्रम और अज्ञान दूर होता जा रहा है अनेक सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने का आग्रह कर रहे हैं। नीचे की पंक्तियों में हम चतुःसम्प्रदाय और वैष्णव धर्म के सम्बन्ध में इसी आधार पर संक्षेप में प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

चतुःसम्प्रदाय शब्द का प्रचलन

चतुःसम्प्रदाय के अन्तर्गत जिन चार आचार्यों के सम्प्रदायों की परिगणना की जाती है उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। यदि ये आचार्य ही चतुःसम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वीकार किए जाएँ तो इस शब्द का प्रचलन बारहवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं स्वीकार किया जा सकता। किन्तु वैष्णव भक्तों की मान्यता है कि चतुःसम्प्रदाय अनादिकाल से चले आ रहे हैं। उनके अनुसार इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि देवता है। इन चारों देवताओं के नाम वैदिक साहित्य तथा परवर्ती पुराणादि साहित्य में उपलब्ध हो जाते है। किन्तु इनके नाम से किसी विशेष मत या सम्प्रदाय का कहीं उल्लेख नही मिलता। इस प्रकार चतुःसम्प्रदाय शब्द की सनातनता के विषय मे कोई साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक प्रमाण न होने पर भी धार्मिक विश्वास में परम्परानुमोदित यह बात चली आ रही है, अतः इसे प्रमाणकोटि में स्थान मिलने लगा है।

चतुःसम्प्रदाय प्रवर्तक के रूप में श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि देवताओं का उल्लेख सर्वप्रथम पद्मपुराण और भविष्य पुराण के श्लोकों मे हुआ है। ये श्लोक इन पुराणों की कौनसी प्रति में और किस अध्याय में उपलब्ध होते है—इसका उल्लेख किसी ने भी नहीं किया। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण के चतुःसम्प्रदाय सम्बन्धी दो श्लोकों को विभिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप में उद्धृत किया है।[1] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार श्लोकों के विषय में निश्चित रूप से

१. सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः॥
श्री ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमात्॥
तथा
श्री ब्रह्म-रुद्र-सनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः।
चत्वारस्ते कलौ भाव्याः सम्प्रदाय प्रवर्तकाः।
श्री विष्णुस्वामिनिम्बार्क मध्वरामानुजाख्यया।
भविष्यन्ति प्रसिद्धास्ते ह्युत्कले पुरुषोत्तमात॥

कुछ ज्ञान न होने पर भी उन्हें उक्त पुराणों के नाम पर उद्धृत करने की एक परिपाटी चल पड़ी है। स्वयं पद्मपुराण अथवा भविष्य पुराण में ढूंढने पर भी हमें ये श्लोक नहीं मिले।

साहित्यिक तथा ऐतिहासिक आधार पर अधिकांश विद्वानों की यह धारणा है कि चतुःसम्प्रदाय शब्द का प्रचलन शंकर के बाद हुआ। आठवीं शताब्दी में जब शंकर प्रतिपादित अद्वैतवाद के प्रचार से भक्ति का क्षेत्र धूमिल हुआ और ज्ञान का पथ प्रशस्त हो चला तब सगुण भक्ति को फिर से स्थापित करने के लिए चार आचार्य हुए। इन आचार्यों ने शंकर के 'अद्वैतवाद' का प्रबल शब्दों में खण्डन करते हुए सगुण भक्ति की पुष्टि के लिए अपने अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए। इस प्रकार अद्वैत के विरोध में रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैत', निम्बार्क ने 'द्वैताद्वैत', विष्णुस्वामी ने 'शुद्धाद्वैत' और मध्वाचार्य ने 'द्वैत' का प्रतिपादन किया। इन विभिन्न भक्ति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन तेरहवी शताब्दी तक हो चुका था और यदि फर्कुहर के मत को स्वीकार किया जाय तो चतुःसम्प्रदाय का सबसे पहले उल्लेख करने वाले पद्मपुराण का रचना काल भी यही है।[1] इस प्रकार सिद्ध है कि उक्त चार आचार्यों से पूर्व चतुःसम्प्रदाय शब्द का कोई अस्तित्व नहीं था।

हिन्दी साहित्य में चतुःसम्प्रदाय का वर्णन सबसे पहले सत्रहवीं शती में नाभा जी ने अपने भक्तमाल में किया है।[2] इस काल के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी चतुःसम्प्रदाय का वर्णन मिलता है। किन्तु इनसे केवल इतना पता चलता है कि उस समय तक चतुःसम्प्रदाय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी और वैष्णव सम्प्रदाय के नाम पर रामानुज, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्व—इन चार आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों का ही ग्रहण होता था। फलतः चतुःसम्प्रदाय को प्राचीन और सृष्टि के आदि से प्रवर्तित मानना केवल श्रद्धा-भावना के कारण है, उसके पीछे ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रमाण नहीं है। अतः इस बात को न भूलना चाहिए कि व्यापक वैष्णव धर्म को चतुःसम्प्रदाय की संकीर्ण सीमा में आबद्ध करने का प्रयत्न केवल शंकराचार्य के मायावाद को

---

१. *An Outline of the Religious Literature of India* : Page 232

२. श्री रामानुज उदार, सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
विष्णुस्वामि बौहित्थ सिन्धु सागर पार करु॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर असर भरिया।
निम्बादित्य आदित्यकुहर अज्ञान जु हरिया॥
जन्म करम भागवत धरम, सम्प्रदाय थापी अघट।.....॥
छप्पय संख्या २३.

बहिष्कृत करने के लिए किया गया था।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में चतुःसम्प्रदाय की सीमा को ऐसे अनेक सम्प्रदायों ने स्वीकार किया, जिनका उक्त चार सम्प्रदायों से कोई भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। उनके भक्ति-सिद्धान्त, पूजा-पद्धति और आचार-व्यवहार सभी कुछ इन चार सम्प्रदायों से नवीन और विलक्षण थे। हमारा विचार है कि इस प्रकार सिद्धान्ततः भिन्न सम्प्रदायों को परस्पर सम्बद्ध करना समीचीन नहीं है। उन्हें स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानना ही उचित है। अपने इस कथन की पुष्टि में हम माध्व और गौड़ीय, विष्णुस्वामी और वल्लभ तथा निम्बार्क और हरिदासी या सखी सम्प्रदाय की विचार-धारा का प्रमाण-पूर्वक निर्देश कर सकते हैं।

माध्व सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय

वैष्णवों में गौड़ीय सम्प्रदाय माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय को माध्व-गौड़ेश्वर—यह नाम दिया गया है। किन्तु चैतन्य के अनुयायी सनातन, रूप, जीव आदि षट्-गोस्वामियों की रचनाओं में अथवा कृष्णदास कविराज रचित 'चैतन्य चरितामृत' में हमें इस प्रकार का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर वैष्णवों की उक्त मान्यता की पुष्टि हो सके।

मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्म-सूत्र) पर भाष्य लिखे हैं। उनका मत द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, जिसका सार निम्न श्लोक में आ जाता है :—

श्रीमन्मध्वमते हरिःपरतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः॥
मुक्तिर्नेजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्चतत्साधनं।
ह्यक्षादित्रतयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥

इसमें हरि (विष्णु) सर्वोच्च तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। जगत् सत्य है। भेद वास्तविक है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं, जीवन में नीच और ऊँच का तारतम्य है। अपने वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है और अमला भक्ति ही इस मुक्ति की प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण ज्ञान के साधक हैं। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है।

गौड़ीय सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' है। इनके उपास्य श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण अंशी हैं, सगुण एवं निर्गुण हैं, लीला पुरुषोत्तम हैं, नराकृति हैं। इस सम्प्रदाय की भक्ति का स्वरूप, जीव की शक्ति, सृष्टि-

तत्त्व-रहस्य, गोपी-प्रेम, राधा-भक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन मध्वाचार्य से बिल्कुल स्वतन्त्र है। सिद्धान्त और उपासना की इस भिन्नता के साथ-साथ दोनों सम्प्रदायों के आचारपक्ष में भी ऐसा कोई साम्य नहीं है जिसके आधार पर दोनों सम्प्रदायों को एक कहा जा सके। डा० सुशीलकुमार डे ने इस विषय पर विचार करते हुए दोनों सम्प्रदायों को स्वतन्त्र स्वीकार किया है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने प्रबोधानन्द रचित 'चैतन्य चरितामृत' पर 'आनन्दिन' द्वारा की गई टीका का वह अंश उद्धृत किया है जिसमें चैतन्य महाप्रभु को सम्प्रदाय प्रवर्तक तथा उनके पार्षदों को साम्प्रदायिक कहा गया है।

'श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान् सम्प्रदाय प्रवर्तका।
तत्पार्षदा एव साम्प्रदायिका गुरुवो नान्ये।'[1]

कवि कर्णपूर ने अपने चैतन्य-चन्द्रोदय नाटक के पांचवें अंक में चैतन्य को अद्वैतवादी दिखाया है।[2] इसी नाटक के आठवें अंक के प्रारम्भिक श्लोक में चैतन्य यह कहते हैं कि मैं दक्षिण में, रामानुज और माध्व सम्प्रदाय वालों से मिला पर उनका कोई प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा।[3] इसके अतिरिक्त जीव-गोस्वामी ने अपने 'सर्वसंवादिनी' ग्रन्थ में अन्य वैष्णव सम्प्रदायों से अपने मत को भिन्न बताया है।[4] षट्-संदर्भ (जीवगोस्वामी रचित) में जहाँ मध्वाचार्य का उल्लेख किया गया है, वह केवल उनके मत को उद्धृत करने के लिए है—गुरु-भावना से नहीं।

गौड़ीय सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार करने वाले पहले व्यक्ति बलदेव विद्याभूषण है। इन्होंने अपने गोविन्द-भाष्य में चैतन्य सम्प्रदाय की जो आचार्य परम्परा दी है, तदनुसार चैतन्य ने माध्व सम्प्रदायी माधवेन्द्र के शिष्य ईश्वरपुरी से दीक्षा ली थी। किन्तु माधवेन्द्र के विचार-दर्शन का अध्ययन यह बताता है कि उन्होंने जिस रहस्यपूर्ण भावुकतामय भक्ति का बंगाल में प्रचार किया उसका माध्व सम्प्रदाय से कोई सम्बन्ध नहीं था।

---

१. Vaishnava Faith and Movement in Bengal : Foot-note 1 on Page 11.

२. कथं लीला व्यरचि भवता योऽयमद्वैत-भाजाम्॥.....श्लोक—२१

३. कियन्ते एव वैष्णवा दृष्टा : तेऽपि नारायणोपासका एव, अपरे तत्त्ववादिनः, ते तथाविधा एष निरवद्यं न भवति तेषां मतम्।

४. सर्वसंवादिनी : भगवत्सन्दर्भ

माधवेन्द्र ने भक्ति के माध्यम से भावना-संयुक्त रसमार्ग का प्रसार किया।[1] यथार्थ में बलदेव विद्याभूषण ने ही जयपुर के गलता नामक स्थान में चैतन्य मत और माध्व मत का ऐक्य स्वीकार किया[2] और बाद में उसी की पुष्टि में गीता, ब्रह्मसूत्र आदि पर भाष्य लिखे। अतः हम डा० सुशीलकुमार डे के इस मत से सर्वथा सहमत हैं कि बलदेव विद्याभूषण की मान्यता को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि गौड़ीय सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है। बलदेव विद्याभूषण से पहले इसे कभी माध्वसम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया गया और उनका भी दोनों सम्प्रदायों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न चतुःसम्प्रदाय के प्रलोभन का फल कहा जा सकता है। गौड़ीय सम्प्रदाय में चैतन्य ईश्वर के अवतार रूप में स्वीकृत हैं। अतः उन्हें किसी अन्य का अनुयायी मानना गौड़ीयों की इस भावना की अवहेलना करना है।

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय

विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी हम इसी दृष्टि से विचार करना आवश्यक समझते हैं। विष्णुस्वामी का जन्म-समय क्या है—इस विषय में कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। कुछ विद्वान् इनका समय दसवीं शताब्दी और कुछ नाभा जी के छप्पय के आधार पर तेरहवीं शताब्दी के पहले का बताते हैं। किन्तु दोनों मतों का आधार अनुमान है, ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं। अतः इन्हें प्रमाण रूप में स्वीकार करना संगत नहीं है। साम्प्रदायिक ग्रन्थों में इनका समय युधिष्ठिर काल के कुछ बाद का माना गया है जो अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता।

'युधिष्ठिर राज्य समयात् किंचित् कालौ गते द्रविड़ेषु कश्चित् राजा बभूव। तस्य राज्ञः सकलभारधौरेयः सचिवो ब्राह्मणो बभूव। तस्य ब्राह्मणस्य आत्मजो विष्णुस्वाम्यासीत्।[3]

आचार्य वल्लभ के विष्णुस्वामी की परम्परा में होने का सबसे प्रथम उल्लेख हमें नाभा जी कृत भक्तमाल में मिलता है। इसके अनुसार यह परम्परा ज्ञानदेव-नामदेव-त्रिलोचन इन महाराष्ट्रीय सन्तों से होती हुई वल्लभ

१. Vaishnava Faith and Movement in Bengal: Dr. S.K. Dey: Page 18–19

२. 'हिन्दुत्व'—रामदास गौड़ : पृष्ठ ६८१

३ गदाधरदास कृत सम्प्रदाय प्रदीप (हस्तलिखित)

तक पहुँची है।[1] भक्तमाल में दी गई इस गुरु-परम्परा का समर्थन ज्ञानेश्वर की किसी रचना से नहीं होता।[2] इतना ही नहीं महाराष्ट्र के सन्तों में विष्णु-स्वामी की गणना किसी ने नहीं की।[3] अतः केवल नाभा जी के उक्त कथन के आधार पर वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का अनुयायी स्वीकार कर लेना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

भक्तमाल के अतिरिक्त सम्प्रदाय प्रदीप, वल्लभ दिग्विजय और चरित्र चिंतामणि इन तीन साम्प्रदायिक ग्रन्थों में भी वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी का अनुयायी स्वीकार किया गया है। इनमें से सम्प्रदाय प्रदीप के अतिरिक्त दोनों ग्रन्थ आधुनिक हैं—अतः उन्हें प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। सम्प्रदाय प्रदीप का समय लेखक गदाधरदास के अनुसार वि० सं० १६१० है। इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में ही लेखक ने बताया है कि श्रीकृष्ण कलियुग में कष्ट निवारण के लिए प्रथम विष्णुस्वामी के रूप में और फिर आचार्य वल्लभ के रूप में प्रगट हुए।[4] इस ग्रन्थ में विष्णुस्वामी को श्री-संयुक्त श्रीकृष्ण का उपासक माना गया है। किन्तु यह बात निर्विवाद रूप से नहीं कही जा सकती। क्योंकि इनके नृसिंहोपासक होने के कई प्रमाण मिलते हैं। आचार्य माधव ने अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' ग्रन्थ में विष्णुस्वामी को नृसिंहोपासक स्वीकार किया है।[5] इसी प्रकार श्रीधर स्वामी ने अपनी भागवत और विष्णुपुराण की टीका में विष्णुस्वामी के 'सर्वज्ञसूक्ति' नामक ग्रन्थ से जो उद्धरण दिये हैं उनसे भी इसी भाव की पुष्टि होती है।

---

१. नाम तिलोचन शिष्य, सूर सरिस सहस उजागर।
गिरा गंग-उनहारि काव्यरचना प्रेमाकर॥
आचारज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पथित पराइन॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन वच क्रम हरिचरण रति।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति॥ छप्पय संख्या—१३३

२. 'Proceedings of the Seventh All India Oriental Conference' में छपा जी० एच० भट्ट का लेख 'Vishnuswami and Vallabhacharya' : पृष्ठ ४५२

३. 'Musticism of Maharashtra'—Prof. Ranade : Page 47-48

४. योनुग्रहार्थ श्रुति गोपिकानां गिरीन्द्रधर्तांऽजनिरासमध्ये।
बभूव भूयः स कलौ कलेशः स्वाम्यन्त विष्ण्वादि पदेक नामः।
स एव भूयोऽजनि वल्लभाख्य स्वकीय माहात्म्यमवादि येन।—···॥

५. न चेदमदृष्टचरमिति मन्तव्यं विष्णुस्वामिमतानुसारिभिः नृपंचास्यशरीरस्य नित्यत्वोपपादनात्।·····१—रसेश्वर दर्शन

सईशो यद्वशे माया स जीवो यस्त्यादितः ।
स्वाविर्भूत परानन्दः स्वाविर्भूत सुदुःखभूः ।।
स्वादृगुत्थ-विपर्यास भाव भेदज भीशुचः ।
यन्मायया जुसन्नास्ते तमिमं नृहरिं नमः ।।[1]

सम्प्रदाय प्रदीप इसी प्रकार के विवादास्पद विषयों से भरपूर है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की शैली में भी तथ्य-निरूपण की अपेक्षा कल्पना और अनुमान का विशेष आश्रय लिया गया है। अतः केवल इसके आधार पर कोई निर्णय देना बिल्कुल उचित न होगा। वल्लभाचार्य के जीवनी लेखक— मुरली धर, कल्याण भट्ट, गोपालदासादि ने विष्णुस्वामी का अपने ग्रन्थों में कहीं उल्लेख ही नहीं किया। कुछ विद्वान् वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट का विष्णुस्वामी मतानुयायी होना स्वीकार करते हैं और इस प्रकार वल्लभ का सम्बन्ध विष्णुस्वामी से बिठाया जाता है। किन्तु इतना निश्चित है कि वल्लभ ने अपने मत की स्थापना स्वतन्त्र रूप से की। सुबोधिनी की निम्न पंक्तियों से विष्णुस्वामी के मत से उनके मत की भिन्नता सूचित होती है।

'भेदः **पारमार्थिक इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोगः उक्तः ।**
ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिणः, तत्त्ववादिनः, रामानुजश्चेति
तमो रजः सत्त्वैर्भिन्ना । अस्मत्प्रतिपादितश्च नैर्गुण्यः ।'[2]

विष्णुस्वामी के नाम से अनेक रचनाएं विख्यात हैं, जिनमें 'सर्वज्ञ-सूक्त' नामक ग्रन्थ ही प्रामाणिक माना जाता है। किन्तु 'सर्वज्ञ-सूक्त' में केवल एक दो उद्धरण देखने में आते हैं। अतः इनके आधार पर विष्णुस्वामी के दार्शनिक सिद्धान्त का कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में एकदम नया और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को आध्यात्मिक स्वरूप में नवीन दृष्टिकोण से उपन्यस्त करने वाला है। इस पर न तो विष्णुस्वामी का कोई प्रभाव है न किसी अन्य आचार्य का। अपने इस मत की पुष्टि में वल्लभ ने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें अणुभाष्य, सुबोधिनी और षोडश ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। सिद्धान्त के अतिरिक्त उपासना-क्षेत्र में भी वल्लभ मत की साधना बिल्कुल नवीन है। पुष्टि मार्ग शब्द इसी नवीनता का पोषक है। आचार-व्यवहार की दृष्टि से विष्णुस्वामी मतानुयायी विरक्त ब्राह्मण होते हैं और वल्लभ मतानुयायी अधिकतः गृहस्थ। वृन्दावन-वासी विष्णु सम्प्रदायी आज भी अपनी इस मान्यता

१. भागवत १-७-६ की टीका में
२. भागवत ३-३२-३७ पर टीका

को बनाये हुए है। इस प्रकार सिद्ध है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय में ऐतिहासिक अथवा सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः दोनों को स्वतन्त्र सम्प्रदाय स्वीकार करना ही समीचीन है।[1]

निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

उक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्तित हरिदासी सम्प्रदाय का निम्बार्क सम्प्रदाय से ऐक्य भी विचारणीय है। समय की दृष्टि से प्राचीन होने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आचार्य निम्बार्क का दार्शनिक मत द्वैताद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने अपने सम्प्रदाय के ईश्वर, जीव और प्रकृति-परक सिद्धान्तों का निरूपण अत्यन्त संक्षेप-शैली में किया है—किन्तु इनमें गूढ़ता पर्याप्त मात्रा में है। अतः इन्हीं सिद्धान्तों को निम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती आचार्यों (निवासाचार्य, पुरुषोत्तमाचार्य और केशव काश्मीरी आदि) ने विस्तार से प्रस्तुत किया है। आचार्य निम्बार्क के अनुसार कृष्ण ही उपास्य, भजनीय, सेव्य और पूज्य हैं। कृष्ण की भक्ति छोड़ किसी और की सेवा-पूजा करना व्यर्थ है। इस सम्प्रदाय की मूल-भावना **'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्'**—इस पंक्ति में निहित है। कृष्ण के साथ राधा का भी आस्तित्व निम्बार्क ने स्वीकार किया है जो कि कृष्ण की स्वकीया मानी गई है।

स्वामी हरिदास ने कहीं भी दार्शनिक दृष्टि से सिद्धान्त-निरूपण का प्रयास नहीं किया। उनका क्षेत्र उपासना का क्षेत्र था। अतः रस का क्षेत्र था। इसी क्षेत्र में अपने आपको तल्लीन रखना उनकी उपासना थी और मात्र सिद्धान्त था। इसलिए उन्हें किसी मतवाद में बाँधने की चेष्टा करना उनकी मूल-भावना की अवहेलना करना है। स्वामी जी के अनुयायी भगवतरसिक ने **'नहि विशिष्टाद्वैत हरि, नहि हरि द्वैताद्वैत, बंधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छाद्वैत'** लिखकर इस बात की पुष्टि कर दी है।

स्वामी हरिदास के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते है—(१) केलिमाल और (२) सिद्धान्त के पद। 'केलिमाल' में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। 'सिद्धान्त के पद' में भी सामान्य सिद्धान्त-चर्चा है, जिसमें जीव को हरि-भक्ति के लिए प्रेरित किया गया है। इस सम्प्रदाय के उपास्य राधा-कृष्ण हैं। यहां राधा स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्यविहारी स्वीकार की गई हैं।

---

१. *'Seventh All India Oriental Conference'* में पढ़े गए जी० एच० भट्ट के लेख Vishnuswami and Vallabhacharya का भी यही निष्कर्ष है।

'कोउ सुकिया कोउ परकिया कलप किये मतवाद,
जोरी भगवत रसिक की नित्य अनन्त अनादि।'[1]

हरिदासी सम्प्रदाय की सखी भाव की उपासना भी निम्बार्क संप्रदाय की उपासना से भिन्न है। आचार-व्यवहार की दृष्टि से निम्बार्की जहाँ गृहस्थ है—वहाँ हरिदासी विरक्त साधु। देह में ब्रज-रज रमाए हाथ में कम्बा लिए, गले में गुंजमाल पहने श्रीकृष्ण के मधुर-रस में मत्त रहना इनकी उपासना है। अतः रसोपासना के इस सम्प्रदाय को दार्शनिक कोटि के निम्बार्क संप्रदाय के साथ संयुक्त कर देना हमारे मत में समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त संप्रदायों के अतिरिक्त अन्य कई ऐसे सम्प्रदाय है, जो चतु-सम्प्रदाय में सम्मिलित नही हैं। किन्तु केवल इसी आधार पर उन्हें अवैष्णव मानना विचार-संकीर्णता है। कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों मे राधावल्लभ सम्प्रदाय इसी कोटि का सम्प्रदाय है। इसके संस्थापक गोस्वामी हित हरिवंश ने इसे चतुःसम्प्रदाय में से किसी के अन्तर्गत स्वीकार नही किया और इस कारण रूढ़िवादी वैष्णवों ने इसे वैष्णव समाज से बहिष्कृत करने की भी चेष्टा की। परन्तु आज सवा चार सौ वर्ष के बाद भी यह सम्प्रदाय ब्रज में उसी प्रकार समादृत है जिस प्रकार कि अन्य वैष्णव सम्प्रदाय। यही इस बात का प्रमाण है कि वैष्णव होने के लिए चतुःसम्प्रदाय में शामिल होना बिल्कुल आवश्यक नही।

चतुःसम्प्रदाय शब्द के इस विवेचन का साराश यह है कि यह शब्द किसी भी दृष्टि से सनातन नहीं है। चतुःसम्प्रदाय में परिगणित होने वाले सम्प्रदायों के प्रवर्तक यथार्थ में रामानुज, निम्बार्कादि आचार्य है। श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि देवताओं से इनका सम्बन्ध केवल श्रद्धा के आधार पर ही स्थापित किया गया है। आरम्भ मे शंकर के मायावाद से वैष्णव धर्म को सुरक्षित रखने के लिए चतुःसम्प्रदाय की सीमा को स्वीकार किया गया था, किन्तु बाद में भक्ति-भावना के प्रसार के साथ-साथ इसका प्रयोजन समाप्त होता गया। इसलिए हमारे विचार से विष्णु से सम्बन्धित वे सभी सम्प्रदाय जिनके भक्ति-सिद्धान्त, पूजा-पद्धति और आचार-व्यवहार अन्य सम्प्रदायों से पृथक् है, स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय है। यही अनेकता मे एकता मानने वाला भारतीय दृष्टिकोण है। वैदिक काल से हम विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा करते आए है क्योंकि हमारी यह धारणा है कि इन सभी में एक ही शक्ति विद्यमान है। इसी धारणा को अभिव्यक्ति हम **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'**—कह कर करते

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ८२।

आए हैं। अस्तु—

यद्यपि कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों ने भक्ति को भगवत्प्राप्ति का मात्र साधन स्वीकार किया है। किन्तु उन सभी के भक्ति-सिद्धान्त एक दूसरे से भिन्न है। इन भक्ति-सिद्धान्तों का अनुशीलन इनकी उपासना के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है और माधुर्य्य भक्ति का सम्बन्ध उपासना से ही है। इसलिए आगे की पंक्तियों में हम कृष्ण-भक्ति से सम्बन्धित निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों की क्रमशः चर्चा करेंगे। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का सम्बन्ध भी कृष्ण-भक्ति से स्वीकार किया गया है किन्तु विष्णुस्वामी के मूल-ग्रन्थों के अभाव में उनके सिद्धान्तों की चर्चा करना हमारे लिए निरापद न होगा।

निम्बार्क सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क जन्म से तैलंग ब्राह्मण थे। इनका जन्म निम्ब नामक ग्राम में हुआ था। निम्बार्क के पिता का नाम जगन्नाथ और माता का नाम सरस्वती था। इनके जन्म-संवत् के विषय में अभी तक निश्चित रूप से कुछ पता नहीं है।[1] निम्बार्क के अतिरिक्त आचार्य के नाम निम्बादित्य, निम्बभास्कर और नियमानन्द भी दार्शनिक साहित्य में मिलते है। निम्बार्क ने अपने भक्ति-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए जिन ग्रन्थों की रचना की है उनमें से वेदान्त-पारिजात सौरभ, दशश्लोकी और श्रीकृष्ण स्तवराज प्रमुख ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में सक्षेप में सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। किन्तु बाद में इस सम्प्रदाय के आचार्यों (पुरुषोत्तमाचार्य, हरिव्यासदेवाचार्य) ने इन ग्रन्थों की टीका के रूप में सम्प्रदाय-सिद्धान्तों की विशद व्याख्या की है।

ब्रह्म

समस्त दोषों से रहित, कल्याण कारक गुणों की राशि, वासुदेवादि व्यूहों से युक्त और सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्ण ही इस सम्प्रदाय में ब्रह्म स्वीकार किये गये हैं।[2] श्रीकृष्ण जगत् के स्रष्टा, पालक, संहर्ता और मोक्ष के कारण हैं। वे सर्वव्यापी, परम सत्य और अंशी हैं।[3] उनको विद्वान् निर्गुण कहकर पुकारते

१. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol IV : Page 88 (Foot-note).

२. स्वभावतोऽपास्त समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहांगिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥ दशश्लोकी ४.

३. स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणं। व्यापिनं परमसत्यमंशिनं।···। श्रीकृष्णस्तवराज १.

हैं, किन्तु वे सगुण रूप में भी सत्य हैं। क्योंकि सविशेष और निर्विशेष ब्रह्म में कोई अन्तर नही है।[1] श्रीकृष्ण के जन्म, कर्म, रूप, गुण और यौवन आदि दिव्य हैं।[2]

ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण जगत् का केवल उपादान कारण नहीं, निमित्त कारण भी हैं।[3] वे जगदातीत हैं,[4] फलतः जगत् रूप विकार ब्रह्म में लीन होकर भी उसे विकृत नहीं करता। श्रीकृष्ण पराख्य, जीवाख्य और मायाख्य—इन तीन प्रकार के भेद वाली अनन्त शक्ति से युक्त हैं।[5] इन्हीं शक्तियों मे वे अखिल विश्व-नियन्ता है रस-क्षेत्र में श्रीकृष्ण आनन्दमय, अनन्त सुख युत तथा अखण्ड रस पूर्ण है। वे गोपीवल्लभ, बद्ध-जीवों पर दया करने वाले तथा नित्य-मुक्त-जनों से सुसेवित हैं।[6] इस प्रकार के श्रीकृष्ण सब लोकों से ऊपर अपने अद्भुत-धाम वैकुण्ठ में निवास करते हैं।

जीव

इस सम्प्रदाय में जीव परमेश्वर का अंश स्वीकार किया गया है। अतः वह अंशी (हरि) के आधीन पर ज्ञानस्वरूप है। भगवान के विभु धर्म के विपरीत जीव अणु रूप है। देह-भिन्नता के कारण प्रत्येक जीव में परस्पर भेद है। किन्तु आत्मा की एकता के कारण प्रत्येक जीव में एकता भी है। जीव बन्धन और मोक्ष की योग्यता से युक्त है।[7] वह माया से परिवेष्टित है। उसे ईश्वर का ज्ञान केवल भगवत्कृपा से ही हो सकता है।[8]

जीव दो प्रकार के हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्तों के दो भेद हैं—नित्यमुक्त और मुक्त। नित्यमुक्त जीव, गर्भ, जन्म, जरा, मरण आदि सांसारिक व्याधियों के अनुभव से छूटकर नित्य भगवद्दर्शनादि जन्य आनन्द में निमग्न रहते हैं।

---

१ निर्गुणं तदिति वैदिकं वचो विद्यया त्वयि विशेषणासहे।
वस्तुतोऽखिल विशेषसागरे नो विरुद्धमिति तावदस्तु मे ॥—वही : श्लोक २

२. जन्मकर्मगुणरूपयौवनं दिव्यमेव कवयो वदन्ति ते।—वही : श्लोक १०

३. ब्रह्म सूत्र १-४-२३ पर निम्बार्क भाष्य.

४. वेदान्त सूत्र 'आत्मकृते परिणामात्' (१-४-२६) पर निम्बार्क भाष्य.

५. पराख्य-जीवाख्य-मायाख्याभिः शक्तिभिश्च यः पूर्णः।
—दशश्लोकी हरिव्यासदेव की टीका : श्लोक ३

६. नित्यमुक्त जनता सुसेवितो बद्धजीव दययाच्च गोचरः।
देशकाल गुणवस्तुतो बृहन् बल्लवीप्रिय भवानमायया ॥ श्रीकृष्णस्तवराज ११

७. ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुहि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥ दशश्लोकी १

८. अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्। वही २

इनके विपरीत मुक्त जीव अविद्या जनित सांसारिक बन्धनों से मुक्त होते हैं। अतः इन्हें सांसारिक दुःखों का अनुभव नहीं होता।

अनादि कर्म जनित वासनाओं के कारण भूत, देव, तिर्यग् आदि विभिन्न योनियों में देह अभिमान से जलते हुए परिभ्रमण करने वाले जीव बद्ध कहे गये है। सांसारिक विषयों को भोगने की इच्छा के कारण इन जीवों को बुभुक्षु भी कहा गया है। इस प्रकार के जीव भी दो प्रकार के माने गए है—बद्ध और नित्यबद्ध। भावी कल्याण की इच्छा जिनमें है, वे जीव बद्ध कहलाते हैं और दूसरे जो केवल संसार के विषय में ही लीन है वे नित्यबद्ध हैं।[1]

जगत्

जगत् भगवान का अचित् तत्त्व है। इस तत्त्व के अप्राकृत, प्राकृत और काल ये तीन भेद स्वीकार किये गये है।[2] अप्राकृत तत्त्व प्रकृति तथा काल के प्रभाव से रहित है। नित्य-विभूति, विष्णुपद, परमपद, ब्रह्मलोक इसी के विभिन्न नाम है। प्रकृति-प्रभाव रहित इस लोक मे नित्य-मुक्त जीव ही भगवद्-विग्रह प्राप्त कर स्वेच्छानुसार आनन्दोपभोग करते हुए निवास करते हैं।

मायादि शब्दों से अभिहित प्राकृत तत्त्व ही जगत् है। यह सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों से युक्त है। जगत् अपने कारण रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य है। महत् तत्त्व से लेकर ब्रह्माण्ड तक जगत् का ही विस्तार है। सत्त्व, रज आदि तीन गुणों से युक्त प्रकृति, देह, देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विभिन्न रूपों मे परिणत हो कर जीव का बन्धन करती है। अतः प्राकृत तत्त्व का यह कार्य जीव के मोक्ष मे बाधक है। अप्राकृत तथा प्राकृत तत्त्व के ऊपर त सम्पूर्ण पदार्थों का नियमन करने वाली शक्ति का नाम काल है।

इस सम्प्रदाय में ब्रह्म, जीव और जगत् में परस्पर अभेद और भेद का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। जीव और जगत् का मूल कारण ब्रह्म है—अतः दोनों ब्रह्म से अभिन्न हैं। किंतु जहाँ जीव अपने नाम, रूप और गुण मे ब्रह्म से भिन्न है,[3] वहां जगत् भी अचेतन होने के कारण चेतन ब्रह्म से भिन्न माना गया है।[4] इसी प्रकार जीव और जगत् एक ही ब्रह्म से उद्भूत होने के कारण अभिन्न है—परन्तु अपने चित् और अचित् स्वरूप के कारण भिन्न। अतः स्पष्ट है कि नियन्ता (ईश्वर), भोक्ता (जीव) और भोग्य (जगत्) इन

१. मुक्तेंच भक्तं किल बद्धमुक्त प्रभेद वाहुल्यमथाधिकोध्यम्। वही २ और उसकी टीका
२. अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च, कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्। दशश्लोकी ३
३. वेदान्त-सूत्र २–१–२२ पर भाष्य
४. वेदान्त-सूत्र २–१–४ पर निम्बार्क भाष्य.

तीन विभिन्न रूपों में एक ही शक्ति अनुस्यूत है।[1]

मोक्ष

इस सम्प्रदाय में मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—क्रम मुक्ति और सद्यः मुक्ति।[2] निष्काम कर्म द्वारा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति—तदनन्तर सत्यलोक में स्थिति और फिर प्रलय के अवसर पर सायुज्य प्राप्त करना क्रम मुक्ति है। इसके विपरीत श्रवणादि भक्ति द्वारा सांसारिक बन्धनों से छूटकर भगवत्कृपा से कृष्ण-लोक में जाना सद्यः मुक्ति है। मुक्ति के सायुज्य, सामीप्य आदि भेदों का वर्णन इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है किन्तु किसी भी स्थिति में जीव का ईश्वर से ऐक्य स्वीकार नहीं किया।

मोक्ष साधन

आचार्य निम्बार्क ने ब्रह्म रूप श्रीकृष्ण की प्राप्ति केवल भक्ति द्वारा स्वीकार की है और **'नान्यागतिः कृष्ण पदारविन्दात्'** से स्पष्ट है कि प्रपत्ति भक्ति प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। प्रपत्ति द्वारा ही जीव पर भगवत्कृपा होती है। भक्ति दो प्रकार की है—साधनरूपिका और प्रेमलक्षणा।[3] अनेक जन्मों में अनुष्ठानित पुण्य-कार्यों के फलस्वरूप जिस भक्ति का उदय होता है, वह साधन-रूपा भक्ति है। इसके दो भेद है—वैदिकी और पौराणिकी। वेदों के अनुसार साधनों को स्वीकार करने वाली भक्ति वैदिकी तथा पुराणों में स्वीकृत साधनों को स्वीकार करने वाली भक्ति पौराणिकी कहलाती है। इसके विपरीत भगवान् के रूप, गुण, शारीरिक अवयव आदि के प्रति स्वाभाविक प्रेम वाली भक्ति प्रेमलक्षणा भक्ति मानी गई है। इसी को उत्तमा, फलरूपा और पराभक्ति कहा गया है।[4]

इस सम्प्रदाय के उपास्य, भजनीय और सेव्य श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण के साथ राधा का भी स्थान स्वीकार किया गया है।[5] कृष्ण की उपासना शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर पाँच प्रकार की मानी गई है, जिनमें से मधुर उपासना को श्रेष्ठ कहा गया है।[6] मधुर रस की प्रधानता के कारण ही इस

---

१. ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं। त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता। दशश्लोकी—७

२. दशश्लोकी पर हरिव्यासदेव की टीका : पृष्ठ १४।

३. कृपाऽस्य दैन्यादियुजिप्रजायते यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्द्वनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिका परा॥ दशश्लोकी ६

४. दशश्लोकी; श्लोक ६ की टीका

५. अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।'''दशश्लोकी ५

६. दशश्लोकी के श्लोक दस पर हरिव्यासदेव की टीका

सम्प्रदाय में भक्त के लिये राधा-कृष्ण की सखी भाव से सेवा करने का विधान है।

माध्व सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मध्व का वास्तविक नाम वासुदेव था। इनका जन्म दक्षिणी कर्नाटक के उदीपि तालुका में कल्याणपुर नामक ग्राम में हुआ था।[1] कुछ विद्वानों ने मध्व का जन्म-स्थान 'बेलग्राम' या 'बिल्व ग्राम' भी माना है।[2] आचार्य मध्व के पिता का नाम मध्यगेह और माता का नाम वेदवती था। इनका जन्म संवत् विद्वानों ने ईसवी सन् ११९७ और देहावसान ईसवी सन् १२७७ निर्धारित किया है। मध्व ने छोटी आयु में ही अच्युत प्रेक्ष नामक शंकर मतानुयायी से सन्यास ग्रहण किया और इस प्रकार ये आनन्दतीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु वयस्क होने पर इनकी रुचि शंकर अद्वैत से हट गई। अतः इन्होंने भक्ति-मार्ग समर्थक द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में परस्पर तत्त्वतः भेद स्वीकार किया गया है। आचार्य ने अपने मत के प्रतिपादन में कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

परमात्मा

आचार्य मध्व के अनुसार ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—आत्मन् तथा अनात्मन् आत्मन् नित्य, शुद्ध, जड़ से अमिश्रित और तीनों गुणों से परे है और अनात्मन् इसके विरोधी गुणों से युक्त है।[3] ब्रह्म को विष्णु नाम भी दिया गया है।[4] भगवान विष्णु सर्वथा स्वतन्त्र, निर्दोष और सभी गुणों से युक्त हैं। ये लक्ष्मी, प्रकृति आदि अन्य अक्षर पदार्थों से उत्कृष्ट तथा भिन्न हैं।[5] उनके सम या उनसे अधिक कोई नहीं है। इसी कारण श्रुतियों में उसे अद्वैत अर्थात् अद्वितीय कहा गया है।

सृष्टि, स्थिति, संहार, नियम, बोधन (प्रकाश), अज्ञान (आवरण) बंधन और मोक्ष—ये विष्णु के कार्य हैं।[6] ये कार्य विष्णु अपनी असीम और विशिष्ट

---

१. *Imperial Gazeteer* : Vol 14 : Page 314

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त : भाग १ . पृष्ठ ४९।

३. द्वैवावब्रह्मणोरूपं आत्माचैवानात्मा च। तत्र यः स आत्मा नित्यः केवलो निर्गुणश्च अथहयोऽनीदृशः सोऽनात्मेति····· । १-१-६ ब्रह्मसूत्र पर मध्व-भाष्य,

४. ब्रह्मशब्दश्चविष्णावेव । १–१–१ ब्रह्मसूत्र पर मध्व-भाष्य,

५. लक्ष्मीरक्षरदेहत्वादक्षरतः परो हरिः। सर्व दर्शन संग्रह, पूर्णप्रज्ञदर्शनम्

६. सृष्टिस्थितिसंहारनियमनज्ञानाज्ञानबंधमोक्षायतः। १-१-२ ब्रह्मसूत्र पर मध्व भाष्य

शक्तियों द्वारा सम्पन्न करते हैं, जो जीव में नहीं हैं। इसीलिए जीव ईश्वर से भिन्न है। वैसे भी ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। इसी कारण जीव अपने कर्म भोगों को भोगता है और ईश्वर उनसे मुक्त है।[1]

लक्ष्मी

प्रकृति दो प्रकार की है—चेतन और जड़। चेतन प्रकृति को ही श्री की संज्ञा दी गई है।[2] यह चेतन प्रकृति भगवान् विष्णु की प्रिया तथा उनके उपर्युक्त आठों कार्यों की साधिका है। परमात्मा की तरह यह भी नित्य और मुक्त है। श्री अनेक रूप धारण करने में समर्थ, जड़ देह से रहित और देश तथा काल में सर्वत्र व्याप्त है।

जीव

जीव सब प्रकार से परमात्मा के आधीन है। उसे कार्य करने की शक्ति भी परमात्मा (विष्णु) से प्राप्त होती है। जीव परमात्मा का अंश अवश्य है, किन्तु वह मत्स्यादि अंशावतारों से अपने स्थूल देह के कारण भिन्न है। वह भगवान का प्रतिबिम्ब-मात्र है[3]—अतः इन स्वरूपों में उसकी कोई समानता नहीं। किन्तु जीव इस संसार में मोक्ष-साधन अथवा अन्य इच्छित पदार्थों के लिए प्रयत्नशील दृष्टिगत होता है—अतः वह छाया की भाँति असत्य नहीं है।[4] जीव ईश्वर से ही नहीं वरन् अपने समकोटिक अन्य जीवों से भी भिन्न है। इस भिन्नता का कारण पूर्वकृत कर्म, ज्ञान आदि माने गये हैं।[5] जीव के बन्धन का कारण विषयों में आसक्ति है। वह नाना प्रकार के अज्ञानादि दोषों से युक्त है। इस प्रकार जीव ईश्वर की भाँति मुक्त नहीं बद्ध है। सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाने पर जीव स्थूल देह से भिन्न शरीर प्राप्त कर आनन्द का उपभोग करता है। किन्तु इस स्थिति में भी जीव का ईश्वर तथा अन्य जीवों से भेद बना रहता है।

इस सम्प्रदाय में जीव तीन प्रकार के माने गए हैं—मुक्तियोग्य, नित्य-संसारी और तमोयोग्य। मुक्तियोग्य जीव उत्तम कोटि के जीव हैं। नित्य-संसारी जीव मध्यम कोटि के जीव हैं, जो निरन्तर पृथ्वी, स्वर्ग, नरक आदि लोकों में अपने कर्मानुसार घूमते हुए सुख दुःख भोगते हैं। तमोयोग्य जीव अधम कोटि के हैं, जिनमें राक्षस, दैत्य, पिशाच आदि की गणना होती है।

---

१. वेदान्त सूत्र १-३-७ पर मध्व-भाष्य

२. श्री पराप्रकृतिः प्रोक्ता चेतना विष्णुसंश्रया। १-२-२२ सूत्र पर मध्व भाष्य।

३. प्रतिबिंबांशका जीवाः प्रादुर्भावाः परेस्मृताः। २-३-५० सूत्र पर मध्व का भाष्य।

४. 'साधनाद्युपादानप्रतीतेश्च'। २-३-३५ सूत्र पर मध्व का भाष्य।

५. अनादि विद्याकर्मादिवैचित्र्यादैचित्रम। २-३-५० सूत्र पर मध्व का भाष्य।

प्रकृति

प्रकृति जड़रूप किन्तु नित्य है।[1] इसकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी है। यह काल, सत, रज, तम इन तीन गुणों और महदादि तत्त्वों का उपादान कारण होने से विश्व का भी उपादान कारण मानी गई है। जीव से इसकी सत्ता बिल्कुल भिन्न है।

परमात्मा, लक्ष्मी, जीव और प्रकृति के अतिरिक्त अविद्या का भी माध्व-सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। क्योंकि इसे सांसारिक क्लेशों का प्रमुख कारण माना गया है। इसके जीवाच्छादिका, परमाच्छादिका, शैवला और माया ये विभिन्न रूप हैं।

मोक्ष

मध्व के अनुसार जीव में आनन्दादि गुण सदा विद्यमान रहते हैं, किन्तु उनका आविर्भाव केवल मुक्तावस्था में होता है।[2] मोक्ष प्राप्त करने पर जीव की जगत्सृष्टि के अतिरिक्त सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।[3] क्योंकि ईश्वर और जीव का भेद इस सम्प्रदाय में नित्य माना गया है।

माध्व सम्प्रदाय मे मुक्ति-भोग चार प्रकार का स्वीकार किया है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। जीव को इनमें से केवल प्रथम तीन प्राप्त हैं। सायुज्य मुक्ति अर्थात् ईश्वर में प्रविष्ट होकर भगवद्-देह द्वारा भोग करना केवल देवगणों का अधिकार है।[4]

मोक्ष-साधन

जीव की भवबन्धन से मुक्ति भगवत्कृपा से होती है। भगवत्कृपा प्राप्त करने के लिए श्रवणादि नवधा भक्ति को स्वीकार करना चाहिए। नवधा भक्ति से भगवदनुग्रह में बाधक अज्ञानादि का निवारण और प्रेम में वृद्धि होती है।[5] भगवान की भक्ति ही उनकी वास्तविक सेवा है। इस सम्प्रदाय में सेवा तीन प्रकार की है—अंकन, नामस्मरण और भजन। तिलक आदि का लगाना अंकन सेवा है, भगवान के नाम, गुण आदि का स्मरण नामस्मरण सेवा है और भग-

१. ४-४-६ सूत्र पर मध्व का भाष्य।

२. २-३-३१ ब्रह्मसूत्र पर मध्व का भाष्य।

३. सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदिच्युते। तत्र सृष्ट्यादिभ्योऽन्यान्व्यापारा-नाप्नोति॥ ४।४।१७ सूत्र पर मध्व का भाष्य।

४. गोपीनाथ कविराज का लेख 'गौड़ीय वैष्णव दर्शन': उत्तरा बंगाली मासिक पत्रिका बंगाली संवत् १३३२ पौष तथा १३३३ वैशाख

५. श्रवणादि फलंचा ज्ञानविपर्ययादिदर्शन प्रतिबंध निवृत्तिः। ३-३-४३ सूत्र पर मध्व का भाष्य।

वान तथा उसके भक्तों की मन से, शरीर से तथा वाणी से सेवा करना भजन सेवा है। भजन सेवा तीन प्रकार की है। सत्य, कल्याणकारी और प्रिय वचन तथा स्वाध्याय यह वाचिक भजन है। दान देना, रक्षा करना और आश्रय देना यह शारीरिक भजन है और दया, स्पृहा तथा श्रद्धा करना मानसिक भजन के अंग स्वीकार किए गए हैं। इन सभी प्रकार के भजनों की पूर्णता उन्हें सम्पन्न करके नारायणार्पित कर देने में है।[1] यद्यपि इस सम्प्रदाय में भक्ति को मोक्ष-प्राप्ति का साधन स्वीकार किया गया है, किन्तु माधुर्य्य भक्ति के लिए यहाँ स्थान नहीं है। माधुर्य्य भक्ति के आलम्बन राधा-कृष्ण की माध्व सम्प्रदाय में कोई चर्चा नहीं है। पर विद्वानों ने इस सम्प्रदाय का सम्बन्ध गौड़ीय सम्प्रदाय से माना है, जिसमें माधुर्य्य भक्ति का विकास पूर्ण रूप से हुआ है। इसीलिए माध्व सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों की चर्चा हमने यहाँ संक्षेप में कर दी है।

चैतन्य अथवा गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

चैतन्य महाप्रभु का जन्म ई० सन् १४८५ में बंगाल के प्रसिद्ध ग्राम नवद्वीप या नदिया में हुआ था। इनके पिता का नाम जगन्नाथ तथा माता का नाम शचीदेवी था। थोड़ी ही आयु में इन्होंने व्याकरण, काव्य, अलंकार, वेदान्त आदि की शिक्षा प्राप्त कर ली थी। चैतन्य को भक्ति-क्षेत्र में लाने वाले माधवेन्द्रपुरी के शिष्य ईश्वरपुरी थे। भक्ति-भावना की तीव्रता के कारण २४ वर्ष की आयु में इन्होंने गृहत्याग कर सन्यास ग्रहण कर लिया। सन्यासी होने के बाद इन्होंने विभिन्न तीर्थों की यात्रा की और बाद में अपने अनुयायियों के साथ जगन्नाथ पुरी में रहने लगे। चैतन्य ने अपने मत के प्रतिपादन में कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थ षट्गोस्वामियों द्वारा लिखे गए, जिनमें रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अनुसार इस सम्प्रदाय का दार्शनिक मत अचिन्त्य भेदाभेद है।[2]

ब्रह्म

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान—ये एक ही तत्त्व के तीन नाम हैं।[3] भग-

१. सर्वदर्शन संग्रह : पूर्णप्रशदर्शनम्।

२. स्वरूप.दभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः भिन्नत्वे चिन्तयितुमशक्यत्वाद—भेदश्च प्रतीयत इति शक्ति-शक्तिमतोर्भेदाभेदावेवांगीकृतौ तौ अचिन्त्यौ इति स्वमते त्वाचिन्त्यभेदाभेदावेव''' । सर्वसंवादिनी : ले० जीवगोस्वामी।

३. एकं तत्त्वं त्रिधा शब्यते. क्वचित् ब्रह्मेति, क्वचिद् परमोत्मति, क्वचिद् भगवानिति —जीवगोस्वामी कृत भगवत्सन्दर्भ : पृष्ठ ४६।

वान सर्वहितोपदेष्टृ, सर्वदुःखहर्ता और सर्वाधिक गुणशाली होने के कारण जीव मात्र के प्रिय है।[१] ये नित्य हैं, विभु स्वरूप हैं, सबके आश्रय हैं, स्थूल-सूक्ष्म प्राकृत वस्तुओं से परे हैं और स्वयं प्रकाश हैं। भगवान कृपावश जगत का हित करने के लिए तथा जीवों का चित्त अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नाना रूप धारण करते है।[२] यही नाना रूप भगवान के विभिन्न अवतार हैं। ये अवतार तीन प्रकार के हैं—पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। इनमें से लीलावतार श्रेष्ठ है। लीलावतारों में श्रीकृष्णावतार अपने माधुर्य्यादि गुणों के कारण अन्य अवतारों से विशिष्ट स्वीकार किया गया है।

भगवान की लीला दो प्रकार की है—अप्रकट और प्रकट। इस लोक में दिखाई न देने वाली लीला अप्रकट लीला है और दिखाई देने वाली लोला प्रकट मानी गई है। अप्रकट लीला में भगवान और उनके पार्षदों का नित्य संयोग रहता है और प्रकट लीला मे वे समयानुसार संयोग और वियोग दोनों भावों का आस्वादन करते है।[३]

इस सम्प्रदाय में भगवान की तीन शक्तियाँ स्वीकार की गई है—अन्तरंगा बहिरंगा और तटस्था। अन्तरंगा शक्ति ही भगवान की स्वरूप शक्ति है। यह शक्ति सत्, चित् और आनन्दरूपिणी है। सत्, चित् तथा आनन्द को पृथक्-पृथक् धारण करने वाली शक्तियाँ क्रमशः 'सन्धिनि', 'संवित्' और 'ह्लादिनी' नाम से प्रसिद्ध है। सन्धिनि शक्ति के द्वारा भगवान स्वयं स्थित हैं और देश, काल, द्रव्य आदि सबको धारण करते हैं।[४] संवित् शक्ति से वे स्वयं प्रकाशित हैं और जगत् को प्रकाशित करते हैं।[५] जिस शक्ति से भगवान स्वयं आनन्दित होते हैं तथा जिसका आश्रय लेकर वे विश्व को आनन्दित करते हैं वह ह्लादिनी शक्ति है।[६] इन तीनों शक्तियों में ह्लादिनी श्रेष्ठ है। राधा इसी ह्ला-

---

१. श्री भगवत एव सर्व्वहितोपदेष्टृत्वात्, सर्वदुःखहरत्वात्, परमस्वरूपत्वात्, सर्वाधिकगुणशालित्वात् परमप्रेमयोग्यमिति। —तत्त्व सन्दर्भ : पृष्ठ ३३।

२. एवम्भूतोऽपि मायया कृपया जगद्धिताय सर्वस्यापि स्वात्मानं प्रति चित्ताकर्षणाय देहीव ··· क्रीड़ति। —भगवत्सन्दर्भ : पृष्ठ ११६।

३. प्रकटलीलायां विराजमानेन प्रकाशेन वियोगः, अप्रकटलीलायान्त्वन्येन संयोग एव। —श्रीकृष्ण सन्दर्भ : पृष्ठ ४०७।

४. तत्र सदात्मपि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकालद्रव्यहेतुः संधिनी। —सिद्धान्त रत्न : बलदेव विद्याभूषण : १-४३।

५. संविदात्मपि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्। वही : १-४३।

६. ह्लादात्मपि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीति। वही १।४३।

विनी शक्ति का मूर्त रूप है।[1] प्रकट लीला में श्रीकृष्ण अपनी इस आनन्दात्मिका शक्ति राधा के साथ आविर्भूत होते हैं।

जीव

भगवदंश के स्वांश और विभिन्नांश ये दो भेद हैं। स्वांश में अंश का अंशी से बिल्कुल भेद नहीं होता किन्तु विभिन्नांश अल्पशक्ति तथा अपूर्ण होने के कारण भगवान से भिन्न है।[2] इसी विभिन्नांश को इस सम्प्रदाय में जीव कहा गया है। वैसे जीव ब्रह्म का ही रूप माना गया है। जीव के सांसारिक बन्धनों में फँसने का कारण भगवान की ऐश्वर्यादि शक्तियों का उसमें से तिरोभाव है।[3] जीव का सम्बन्ध भगवान की तटस्था शक्ति से है, जिसके कारण उसका झुकाव मायाख्या (बहिरंगा) और अन्तरंगा दोनों शक्तियों की ओर हो सकता है। पहली शक्ति उसे संसार की ओर उन्मुख करती है और दूसरी अन्तरंगा शक्ति भगवान् की ओर।

संसार में जीव को अल्पसुख ही प्राप्त होता है—क्योंकि अणुस्वरूप होने के कारण भगवान् का आनन्दांश उसमें तिरोहित रहता है। भगवान् के अंश जीव परस्पर भिन्न परन्तु नित्य हैं।[4] उसके कार्य भगवान् द्वारा नियंत्रित हैं। भक्ति-मार्ग में भी जीव का प्रवेश भगवत्प्रेरणा से होता है। भक्ति की दृष्टि से जीव के चार भेद हैं—ज्ञानी भक्त, शुद्ध भक्त, प्रेमभक्त और प्रेमातुर भक्त। इनमें से प्रेम को सर्वस्व मानकर सदा उसी में मग्न रहने वाला प्रेमातुर भक्त श्रेष्ठ माना गया है।[5]

जगत्

भगवान् की बहिरंगा अर्थात् माया शक्ति के दो भेद हैं—जीवमाया और गुणमाया। जीवमाया जगत् का निमित्त कारण है और गुणमाया जगत् का उपादान कारण है।[6] यह जगत् सत्, रज और तमरूपिणी त्रिगुणात्मिका

---

१. या भगवदभिन्नाऽभिहिता या च ह्लादिनीत्यादिना विशेषिता परैव राधिकेश्वरीति। वही : २-२३।

२. २-३-४५ सूत्र पर गोविन्द भाष्य।

३. अत्र जीवस्य शक्तिमत्तायां पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययौ।
—परमात्मसंदर्भ : पृष्ठ २२७।

४. नित्यसिद्धास्ततो जीवा भिन्ना एव यथारवेः; अंशवो विस्फुलिंगाश्च वन्हेर्भगाश्च-वारिधेः॥ सनातन गोस्वामी कृत बृहद्भागवतामृत २-२-१८४।

५. ज्ञानभक्तास्तु तेष्वेके शुद्धभक्ताः परे परे॥
प्रेमभक्ताः परे प्रेमपराः प्रेमातुराः परे॥ —वही : २-१-१६।

६. तदेवं निमित्तांशो जीवमाया, उपादानांशो गुणमाया। भगवत्सन्दर्भ : पृष्ठ ६८।

प्रकृति ही है। परमात्मा का परिणाम रूप होने के कारण यह जगत् न तो मिथ्या है और न ही परमात्मा से भिन्न है। किन्तु रज्जुसर्पवत् मिथ्या न होते हुए भी यह घटवत् नश्वर है।[1] नश्वरता का तात्पर्य यहाँ केवल अव्यक्तता से है।[2]

इस प्रकार ब्रह्म और जीव, ब्रह्म और जगत् तथा जीव और जगत् में परस्पर स्वरूप की दृष्टि से एकता और गुणों की दृष्टि से भिन्नता लक्षित होती है। किन्तु ब्रह्म-जीव-जगत् का यह भेदाभेद सम्बन्ध बिल्कुल अचिन्त्य है। इसी कारण इस सम्प्रदाय के दार्शनिक मत को अचिन्त्य भेदाभेद कहा गया है।

मोक्ष

जीव गोस्वामी ने अपने प्रीति-संदर्भ में पाँच प्रकार की मुक्ति का उल्लेख किया है—सालोक्य, सार्ष्टि, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य। किन्तु यथार्थ में मुक्ति को इस सम्प्रदाय में विशेष आदर प्राप्त नहीं हुआ है। वह प्रेम-प्राप्ति में विघ्न रूप स्वीकार की गई है।[3] इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने भगवान की लीला के रसास्वादन को ही मुक्ति स्वीकार किया है। यह आनन्द दो प्रकार का है—स्वरूपानन्द और भजनानन्द। इनमें से भजनानन्द श्रेष्ठ माना गया है। इस आनन्द का आस्वादन करने के लिए मुक्ति-प्राप्त जीव भी लीलावश विग्रह धारण करके भगवान का भजन करते है।[4]

मोक्ष-साधन

चैतन्य सम्प्रदाय में प्रेम ही साध्य विषय है। इस प्रेम की प्राप्ति भगवान् की अहैतुकी भक्ति से सम्भव है।[5] भगवद्भक्ति कर्म, ज्ञान, वैराग्यादि के द्वारा सिद्ध नहीं होती। वह केवल भगवत्कृपा से प्राप्त है। भगवद्भक्ति श्रवणादि नौ प्रकार की है, जिनमें स्मरण भक्ति सर्वोत्तम है। क्योंकि इसमें

---

१. ततो'''रज्जुसर्पवन्न मिथ्यात्वं किन्तु घटवन्नश्वरत्वमेव तस्य। —परात्मसंदर्भः पृष्ठ २५५

२. तत्र नश्वरत्वं नात्यन्तिकं किन्त्वव्यक्ततया स्थितेरदृष्यतामात्रमेव। वही: पृष्ठ २५६

३. भगवद्भजनानन्दरसैकापेक्षकैर्जनैः॥
उपेक्षितमिदं विद्धि पदं विघ्नसमं त्यज॥ सनातन गोस्वामी कृत बृहद्भागवतामतः २-३-१११

४. तत्र मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्त इति। भगवत्सन्दर्भ: पृष्ठ १४६।

५. एषा खलु भक्तिरहैतुक्येव तां साधयति न त्वन्यादृशी। सिद्धान्तरत्न, बलदेव विद्याभूषण कृत १-५१।

समग्र इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन का समर्पण करना पड़ता है।[1]

अहैतुकी एवं अकिंचना भक्ति के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। वैधी भक्ति शास्त्रीय विधि-विधानों पर आश्रित है और उसका लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होता है। इसके विपरीत रागानुगा में श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं और उनका प्रेम-रस मात्र प्राप्य है। इसीलिए इस सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है तात्पर्य यह है कि प्रेम-लक्षणा भक्ति ही यहाँ मोक्ष अर्थात् भगवत्प्राप्ति का साधन स्वीकार की गई है।

रूपगोस्वामी के अनुसार प्रेम-प्राप्ति का क्रम इस प्रकार है—(१) श्रद्धा, (२) भगवद्भजन साधुसंगादि (३) अनर्थनिवृत्ति (४) निष्ठा (५) रुचि (६) भगवद्आसक्ति (७) भाव और (८) प्रेम।[2] भगवत्प्रेम में निजी सुख का अभाव तथा इष्ट का प्रेम ही स्पृह्य होता है। इस कारण यह प्रेम स्व-सुख प्रधान लौकिक प्रेम से श्रेष्ठ माना गया है। प्रेम के आधार पर भक्ति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँच प्रकार की स्वीकार की गई है। इनमें से दाम्पत्य-भाव-परक माधुर्य्य भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चैतन्य सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण प्राप्ति का साधन भक्ति और उसमें भी राधा-कृष्ण की माधुर्य्य भक्ति को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है।

वल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता लक्ष्मण भट्ट, विद्वानों के अनुसार विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुयायी और बालकृष्ण के उपासक थे। लक्ष्मण भट्ट जब अपनी पत्नी यल्लमागारू के साथ तीर्थ यात्रा कर रहे थे—उस समय चम्पारण्य में वल्लभ का जन्म हुआ। डा० रामगोपाल भाण्डारकर ने इनका जन्म-संवत् १५३५ विक्रमी माना है।[3] तेरह वर्ष की अवस्था तक वल्लभ की शिक्षा काशी में हुई। इस अवस्था में ये वेद-वेदाङ्ग, पुराण आदि में पारंगत तथा अन्य भक्ति-सम्प्रदायों के सिद्धान्तों से परिचित हो गए थे। तदुपरान्त इन्होंने सभी प्रमुख तीर्थों की कई बार यात्रा की। अन्त में इन्होंने

१. भक्तां नवविधायांच मुख्य स्मरणमेव हि।
तत्समग्रेन्द्रियश्रेष्ठ मनोवृत्ति समर्पणम्॥ बृहद्भागवतामृत : २-२-१०१

२. आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमऽभ्युदंचति॥
हरिभक्ति रसामृत सिन्धु : पूर्व विभाग : ४ लहरी ६,७।

३. *Collected Works of Bhandarkar* : Vol IV : Page 109

स्वप्न में गोपाल-कृष्ण की प्रेरणा पाकर गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी के मन्दिर की स्थापना तथा पुष्टि-मार्ग का प्रवर्तन किया।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैत, ब्रह्मवाद तथा अविकृत परिणामवाद कहलाता है। आचार्य के विचार से यह समस्त सृष्टि अपने मूल रूप में शुद्ध है—क्योंकि शुद्ध ब्रह्म ही इसका कारण है। अतः कार्य रूप जगत् किसी प्रकार मायिक नहीं हो सकता।[१] अपने इस मत के प्रतिपादन के लिए वल्लभाचार्य ने कई भाष्य तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। इनमें ब्रह्मसूत्र का अणु-भाष्य, सुबोधिनी (भागवत टीका), षोडष ग्रन्थ तथा तत्त्वदीप निबंध अधिक प्रसिद्ध है।

ब्रह्म

सच्चिदानन्द ब्रह्म (भगवान्) समस्त सृष्टि का मूल कारण हैं। वे सर्वज्ञ हैं सर्वशक्तिमान हैं तथा सर्वव्यापक हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। उनमें सब प्रकार के परस्पर विरोधी गुण दृष्टिगत होते हैं।[२] वह भक्तों की इच्छा के अनुरूप नाना प्रकार के वेष धारण करते हैं किन्तु इस प्रकार अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करके भी वे शुद्ध रहते हैं।[३] वह नाना प्रकार के कार्यों को करते हुए भी उनके फल रूप बन्धन में आबद्ध नहीं होते।[४] वे आनन्दमय है और उन्ही की कृपा से जीव को आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवान् के सद्रूप से जगत्, चिद्रप से जीव और वे स्वयं आनन्द रूप से स्थित रहते हैं।[५] वे ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज इन छः गुणों से युक्त हैं।[६] वे कालादि भय के निवारक और भक्तों को मोक्ष देने वाले हैं।

लीला के निमित्त भगवान् ने कई अवतार धारण किए हैं। इन अवतारों में से गोकुल में प्रगट हुए श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और शेष सभी अंशावतार हैं। यही कृष्ण भक्तों के सेव्य हैं। वे अन्तर्यामी रूप से जीव के हृदय में सदा विद्य-

---

१. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
गिरिधर कृत शुद्धाद्वैत मार्तण्ड : श्लोक २८

२. 'भगवति सर्वे विरुद्ध धर्मा दृश्यन्ते' : वेदान्त सूत्र ३-२-११ पर अणुभाष्य।

३. तत्त्वदीप निबन्ध ; शास्त्रार्थ प्रकरण ७७।

४. 'भगवानेव संसारे स्थितो न बद्ध्यते। —भागवत १०-३-१ पर सुबोधिनी।

५. जगद्रूपी भगवान सद्रूपः, चिद्रूपाः जीवात्मनः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः॥
भागवत १०-३-१७ पर सुबोधिनी।

६. वस्तुतस्तु भगवान् षड्गुणसम्पन्नः।
—भागवत १०-३-४६ पर विठ्ठलनाथ की टिप्पणी

मान रहते हैं।[1] उनके अवतार का उद्देश्य भक्तों का दुःख निवारण तथा निज लीलाओं का विस्तार करना है—जिन्हें श्रवण करके तथा गाकर भक्त संसार-बन्धन से मुक्ति पाते हैं।[2]

जीव

वल्लभ के अनुसार भगवान का चिदंश जीव है। जीव की सृष्टि भगवत् सेवा के निमित्त हुई है। जीव वास्तव में ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, वे सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म से उसी प्रकार उद्भूत हुए हैं जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग।[3] किन्तु भगवान के अंश होने पर भी जीवों में हीरा, माणिक्य आदि पाषाणों की भाँति उच्चता और निम्नता पाई जाती है।[4]

जीव और ब्रह्म में भेद ऐश्वर्य, आनन्दादि गुणों के तिरोभाव के कारण है। ऐश्वर्य के तिरोभाव के कारण जीव भोगों की इच्छा करता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए नानाविध कर्म करता है। इन कर्मों के अनुसार उसे सुख और दुःख की प्राप्ति होती है।[5] अतः जीव को केवल ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानकर मिथ्या मानना असंगत है।[6] जीव भाव को प्राप्त होने से उसका आनन्दांश तिरोहित हो गया है, नष्ट नहीं हुआ।[7] अपने पुरुषार्थ से तथा भगत्कृपा से जीव को आनन्द की अनुभूति हो सकती है—और अनुभव योग्यता ही आनन्दांश का आविर्भाव है।[8]

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव तीन प्रकार के हैं—प्रवाहमार्गी, मर्यादा-मार्गी और पुष्टिमार्गी। नित्य संसारी सुखों में लिप्त जीव प्रवाहमार्गी हैं, वेद-विधि अनुकूल कर्म में लगे हुए जीव मर्यादा-मार्गी हैं और केवल भगवत्सेवा में तल्लीन रहने वाले जीव पुष्टि-मार्गी कहलाते हैं। इन्हें ही भक्त कहा गया है।

---

१. १५, सिद्धान्त मुक्तावली : षोडश ग्रन्थ (वल्लभाचार्य)।

२. वेदान्त सूत्र ४-१-१४ पर अणुभाष्य।

३. विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जड़जीवा विनिर्गताः।
सदंशेन जड़ा पूर्वं चिदंशेनेतरे परं॥ २-३-४३ वेदान्त सूत्र पर अणुभाष्य।

४. वेदान्त सूत्र २-१-२३ पर अणुभाष्य।

५. 'जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखे प्रयच्छतीति। २-१-३४ पर अणुभाष्य।

६. 'न तु सर्वथा प्रतिबिम्ब मिथ्यात्वं।' २-३-५० पर अणुभाष्य।

७ 'तेनाविर्भाव तिरोभाव श्रुत्यभिमतां, नाशोत्पत्तिप्रतीतिश्चान्तेति।'
—विद्वन्मण्डन : पृष्ठ ३६

८. अनुभवविषययोग्यता आविर्भावः तदविषयत्वायोग्यता तिरोभावः।
—विट्ठलनाथ कृत विद्वन्मण्डन : पृष्ठ ४४।

प्रवाहमार्गी जीव भगवान् की आसुरी जीव सृष्टि है। इनके दो भेद हैं—दुर्ज्ञ और अज्ञ।[1] दुर्ज्ञ जीवों का कभी उद्धार नहीं होता और अज्ञ जीव भगवान् के हाथों से मृत्युग्रस्त होने पर मुक्ति लाभ करते हैं। मर्यादा-मार्गी और पुष्टि-मार्गी जीव भगवान् की दैवी जीव सृष्टि हैं। मर्यादा-मार्गी जीवों को शास्त्राकूल कर्म करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है और तदनन्तर मोक्ष लाभ होता है। भगवान् अपनी इच्छानुसार इन मर्यादा जीवों को सायुज्य से निकाल कर अपनी लीला में लेते हैं। तब ये जीव भी पुष्टि-सृष्टि की कोटि में आ जाते हैं।[2] पुष्टि-मार्गी जीवों का आविर्भाव भगवान् का लीला-रूप विशेष कार्य सिद्ध करने के लिए होता है। इस कोटि के जीव केवल भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर रहते हैं।

जगत्

जगत् ब्रह्म की सद्रूप सृष्टि है। यह भी जीव की भाँति भगवान् की क्रीड़ा के निमित्त अग्नि-विस्फुलिंग के समान उनसे उद्भूत हुआ है और अन्त में उसी में लीन हो जाएगा।[3] ब्रह्म से पृथक जगत् आकाश पुष्प की भाँति मिथ्या है।[4] जगत् से भिन्न संसार जीव के निजी विकारों की सृष्टि है।[5] इसीलिए मोक्ष-दशा में संसार अदृश्य हो जाता है, पर जगत् उसी समय विलीन होता है जब भगवान् केवल अपने से क्रीड़ा करने के निमित्त समस्त सृष्टि को अपने में समेट लेते हैं।[6]

मोक्ष

अहंता, ममता आदि के नाश से जब जीव स्वार्थमुक्त हो जाता है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष की अवस्था में भगवत्कृपा से जीव की संसारासक्ति छूटकर उसकी इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं। तदनन्तर उसे आनन्द की प्राप्ति होती है और जिसके फलस्वरूप वह सदा के लिए दुःख-मुक्त हो जाता है। वास्तव में आचार्य वल्लभ के मत में मुक्ति-फल भक्ति-रस का अनुभव है।[7]

---

१. जीवास्ते ह्यसुराः सर्वे प्रवृत्ति चेति वर्णिताः।
तें च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः॥ पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद २४

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त : पृष्ठ ४२५

३. 'कृष्णादेव समुद्भूतम् लीनं तत्रैव तन्मयम्।' १८, वेदस्तुति
दशमस्कन्ध पर सुबोधिनी।

४. खपुष्पादिसमत्वाद्धि मिथ्याभूतं जगद्यतः।' दशमस्कन्ध, वेदस्तुति २४ पर सुबोधिनी

५. २३, शास्त्रार्थ प्रकरण : तत्त्वदीप निबन्ध (वल्लभाचार्य)।

६. वेदान्त सूत्र १-१-११ पर अणुभाष्य।

७. 'मुक्तेःफलं भक्तिरसानुभव एव। —वेदान्तसूत्र ३-४-४१ पर अणुभाष्य।

इसलिए मुक्त जीव अमृत शरीर प्राप्त कर पुष्टि-लीला में प्रवेश करता है और भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन करता है। इसी कारण मुक्ति की अवस्था में भी जीव और ब्रह्म का ऐक्य नहीं होता—अन्यथा रसास्वादन सम्भव नही है।[1] इस बात को लक्ष्य में रखकर पुष्टि-मार्गी सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य इन चार मुक्ति-अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और सायुज्य अनुरूपा मुक्ति की अवस्था स्वीकार करते हैं और यही इस सम्प्रदाय में सर्वश्रेष्ठ मुक्ति मानी गई है। इसी को स्वरूपानन्द भी कहा गया है।[2]

मोक्ष-साधन

वल्लभाचार्य के अनुसार सुख चाहने वाले जीवों को हरि सेवा करनी चाहिए। हरि सेवा ही भक्ति है। इससे भिन्न ज्ञान-मार्ग भ्रान्तिमूलक है। उससे केवल चित्त की शुद्धि होती है।[3] भक्ति के दो भेद हैं—मर्यादा और पुष्टि। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार कर्म करते हुए मुक्ति लाभ करना मर्यादा भक्ति है। पुष्टि-भक्ति में भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ माना जाता है।[4] पुष्टि भक्त के लिए श्रीकृष्ण सर्वस्व है। इन्हीं को आत्मसमर्पण कर देना उसका परम कर्तव्य है। समर्पण के अतिरिक्त पापों से मुक्ति का और कोई उपाय नहीं है। आत्मसमर्पण में प्रत्येक कार्य भगवत् अर्पण के उपरान्त करना आवश्यक है।[5]

सामान्य रूप मे भक्ति के लिए सांसारिक आसक्तियों का त्याग, भगवद् गुणों का कीर्तन और श्रवण अत्यधिक आवश्यक है। सांसारिक कार्यों में रत रहते हुए भी भक्त का मन भगवान् में तथा उनके गुणों में संलग्न रहना चाहिए। इस प्रकार भगवान् के सतत ध्यान से उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। कालान्तर में यही प्रेम क्रमशः आसक्ति और व्यसन का रूप धारण कर लेता है।[6] व्यसन दशा ही प्रेम की पूर्णावस्था है।

आचार्य वल्लभ ने जिन भक्ति-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उनमें माधुर्य्य

---

१. वेदान्त सूत्र ४-२-१ पर अणुभाष्य।

२. वेदान्त सूत्र ४-१-१२ पर अणुभाष्य।

३. ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलस्ततः कृष्णं भजेद् बुधः।
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्ये यतो भवेद्॥ दशमस्कन्ध, वेदस्तुति ११ पर सुबोधिनी।

४. 'पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः।' ४-४-९ वेदान्त सूत्र पर अणुभाष्य।

५. ४, ५ सिद्धान्त रहस्य : षोडष ग्रंथ (वल्लभाचार्य)।

६. भक्ति वर्धिनी : षोडष ग्रन्थ।

भक्ति के लिए विशेष स्थान न था। उनके किसी प्रमुख ग्रन्थ में माधुर्य्य भक्ति विषयक स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वे बालकृष्ण के ही उपासक थे। उनके नाम पर प्रचलित जिन पुस्तकों में माधुर्य्य भक्ति का वर्णन है—वे निर्विवाद रूप से उन्हीं की लिखी नहीं कही जा सकतीं। इस सम्प्रदाय में माधुर्य्य भक्ति का प्रचलन गोस्वामी विट्ठलनाथ द्वारा हुआ। उनके 'शृंगार-मण्डन' ग्रन्थ में इसी भक्ति का वर्णन है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के अतिरिक्त वल्लभाचार्य के शिष्यों—सूरदास, परमानन्ददास आदि ने भी इस भक्ति को स्वीकार किया और अपने पदों के माध्यम से उसका प्रसार किया। इस प्रकार यद्यपि श्रीनाथ जी के अतिरिक्त अन्य सभी वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में आज भी बालकृष्ण की उपासना होती है, तथापि साहित्यिक दृष्टि से यह सम्प्रदाय माधुर्य्य भक्ति का ही पोषक हुआ।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

सम्प्रदाय प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म वि० सं० १५५९ में 'बाद' ग्राम में हुआ। इनके पिता व्यास मिश्र एक सम्भ्रान्त परिवार के गौड़ ब्राह्मण थे, तथा इनकी माता का नाम तारारानी था। वास्तव में व्यासमिश्र सहारनपुर जिले के देवबंद नामक कस्बे के निवासी थे किन्तु गो० हरिवंश का जन्म व्यास जी की ब्रज-यात्रा के समय 'बाद' ग्राम में हुआ। गोस्वामी जी की रुचि बचपन से ही भक्ति की ओर थी। बाद में इन्होंने राधा से भक्ति-मंत्र की दीक्षा ली और उसी का प्रचार किया।

गोस्वामी हितहरिवंश के द्वारा संस्थापित राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों में अन्य सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से कुछ विलक्षणता है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना के लिए दार्शनिक आधार लिया गया है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस रसोपासना को स्वीकार किया गया है उसमें न तो दार्शनिक जटिलता ही है और न भक्ति का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है।[1] राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त का मूल आधार प्रेम या हित तत्त्व है। राधा और कृष्ण का नित्य विहार इसी प्रेम का मूर्त-रूप है। अतः दर्शन की ऊहापोह के

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों के निरूपण में हमने डा० विजयेन्द्र स्नातक के ग्रन्थ—'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' : पृष्ठ १२५–२५१ से विशेष सहायता ली है।

स्थान पर इस सम्प्रदाय में नित्य विहार का वर्णन किया गया है और उसी को रस-दर्शन कहा गया है। ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि की चर्चा दर्शन का विषय है—इसी कारण रस-दर्शन के प्रतिपादक गोस्वामी हितहरिवंश ने इनका वर्णन अपने ग्रन्थों में कहीं नहीं किया। किन्तु इनके भक्ति-सिद्धान्तों को रस-दर्शन की दृष्टि से समझा जा सकता है।

प्रेम-तत्त्व

राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकृत प्रेम-तत्त्व अन्य सम्प्रदायों से विलक्षण है। यह प्रेम-तत्त्व अनन्त भावों और अनन्त रूपों में क्रीड़ा करने वाला तथा रस-रूप भगवान् का ही रूप स्वीकार किया गया है। इसकी परिधि बहुत व्यापक है। सामान्यतः रस, हित, नेह, प्रीति आदि सभी भाव इसमें समाविष्ट हो जाते हैं। राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है—वह प्रेम की आस्वाद्य स्थिति है। इसके अतिरिक्त नित्य विहार के जो चार विधायक तत्त्व स्वीकार किए गए है उनमें यह प्रेम-तत्त्व समान रूप से अनुस्यूत है और यही प्रेम-तत्त्व सहज, असीम और नित्य माना गया है।

राधा का स्वरूप

इस सम्प्रदाय में राधा इष्ट देवी स्वीकार की गई हैं। यहाँ राधा को उस अनादि वस्तु का नित्य रूप स्वीकार किया गया है जो इस अखंड ब्रह्मांड मे व्याप्त होकर नित्य क्रीड़ा से आनन्द की अभिव्यक्ति करती रहती है। वह अवाङ्-मनसागोचर होने पर भी अनुभवैकगम्य है निर्गुण, निर्विशेष और निराकार रूप में उसका कहीं वर्णन नहीं किया गया। और न ही उसे योगियों की निर्विकल्प समाधि का विषय माना गया है। वह सहचरी-रूप जीवात्मा को माधव के साथ केलि-क्रीड़ा रत होकर अपनी आनन्ददायिनी दिव्य आभा का निकुंज-रन्ध्रों से दर्शन कराती है।[1] तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रदाय में राधा आनन्दरूपिणी स्वीकार की गई हैं।

इस सम्प्रदाय में राधा श्रीकृष्ण की उपासिका एवं आराधिका नहीं वरन श्रीकृष्ण की उपास्या एवं आराध्या हैं। वैसे क्रीड़ा के लिए दोनों प्रिया-प्रियतम

---

१. बलान्नीत्वा तल्पे किमपि परिरम्याधरसुधां
निपीय प्रोल्लिख्य प्रखर-नखरेण स्तनभरम्।
ततो नीवीं न्यस्ते रसिक-मणिना त्वत्करधृते
कदा कुंजच्छिद्रे भवतु मम राधेनुनयनम्॥
—राधासुधानिधि १०४।

रूप हैं। श्रीकृष्ण की एक राधा है और राधा के एक कृष्ण हैं। वास्तव में दोनों एक हैं किन्तु रसास्वादन के लिए वे दो होकर नित्य लीला करते है विहार करते हैं और उसी में लीन रहते हैं। इस प्रकार दिव्य-शक्ति धारिणी राधा सहचरी-रूपा जीवों पर अनुकम्पा करने के लिए साधारण अर्थात् अनुभवगम्य हो जाती हैं।[1]

श्रीकृष्ण का स्वरूप

नित्य विहार के उक्त चार विधायक तत्त्वों में राधा के बाद श्रीकृष्ण का स्थान है। यथार्थ में कृष्ण का स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व इस सम्प्रदाय में स्वीकार नहीं किया गया। वे राधावल्लभ के रूप में यहाँ गृहीत हैं अर्थात् राधा के अनुषंग से ही उनकी उपासना है। वे रसिक किशोर के रूप में एकमात्र विहारी पुरुष हैं। उनकी परा-प्रकृति श्री राधा हैं जो चित्-अचित्-विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्ति रूपा हैं। सारा चराचर जगत् इन्हीं रसिक युगल का प्रतिबिम्ब है। श्री राधा प्रकृति रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जीव रूपा सखियाँ उनकी सहचरी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। वे परम पुरुष ब्रह्मा, शंकर, शुकदेव, नारद और भीष्म जैसे प्रमुख (भागवतों) के भी ध्यान में कठिनाई से आते है।[2]

वृन्दावन धाम

श्रीकृष्ण का धाम होने के कारण वृन्दावन का वैष्णव भक्तों में विशेष महत्त्व है। इस महत्त्व को श्री हित हरिवंश जी ने भी स्वीकार किया है। इस वृन्दावन को छोड़कर वे उस वैकुण्ठ में भी नहीं जाना चाहते, जहाँ की परमाराध्या राधा नहीं हैं।[3] श्रीकृष्ण-प्रिया केलि-क्रीड़ा-रता राधा वृन्दावन में नित्य निवास करती हैं—इस दृढ़ धारणा के कारण वे सदा अपने मन को समझाते हैं—**"वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद् वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेतः।"** गो० हितहरिवंश का वृन्दावन कल्पना द्वारा चित्रित सूक्ष्म वृन्दावन नहीं है।

---

१. यत्पादाम्बरुहैकरेणुकणिकां मूर्ध्नानिधातुं नहि,
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृति गोप्यैक भावाश्रयाः।
सापि प्रेमसुधा रसाम्बुधिनिधि राधापिसाधारणी
भूना कालगतिक्रमेण वलिना हे दैव तुभ्यं नमः॥ **वही ७२।**

२. यो ब्रह्म रुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यै-
रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।...। **राधासुधानिधि : श्लोक १।**

३. किंवा वैकुण्ठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा।
किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावन भुवि मथुरा कोटि जन्मान्तरेऽपि॥ **राधासुधानिधि २१६**

"यह भौतिक वृन्दावन ही अपने कुंज, लता, गुल्मों से वेष्टित होकर श्री राधा-कृष्ण की रास-स्थली बनता है, नित्य विहार का आधार बनता है और इस कारण प्राकृतिक होते हुए भी नित्य और शाश्वत बन जाता है।"[1]

सहचरी

सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। प्रत्येक जीव शरीर धारण करके अपने को सांसारिक प्राणी के रूप में मानता है किन्तु वह अपने यथार्थ तात्विक रूप में सहचरी है। जीव को यह सहचरी रूप राधा के कृपा-कटाक्ष से प्राप्त होता है और इस रूप को प्राप्त कर वह लौकिक सुख-दुख की अनुभूतियों से ऊपर उठकर उस आनन्द को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी जीवों को सहचरी की संज्ञा नहीं दी जा सकती। सहचरी या सखी बनने के लिये अपने निज रूप की प्रतीति या बोध अनिवार्य है। सहचरी स्व-सुख से बिल्कुल रहित होती है। प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) की रति-क्रीड़ाओं को सम्पन्न कराने में योग देना, निकुंज-रंध्रों में से केलि का दर्शन करना ही सहचरी-समाज की उपासना है। नित्य विहार को सम्पन्न कराने के अतिरिक्त सहचरी-वर्ग अन्य सभी प्रकार की सेवाएँ करता है।[2]

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय की उपासना माधुर्य भक्ति के आधार पर पल्लवित हुई है। यहाँ राधा-कृष्ण का नित्य विहार ही ध्येय एवं चिन्तनीय है। इस सम्प्रदाय में मुक्ति रस-दशा एवं प्रेम-दशा स्वीकार की गई है जो जीव को सहचरी-रूप में राधा-कृष्ण के नित्य विहार के दर्शन तथा चिन्तन से ही प्राप्त हो सकती है—अन्यथा नहीं।

हरिदासी सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त

इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास जी का जन्म-समय, जन्म-स्थान और जाति आदि विषय विवादग्रस्त हैं। स्वामी जी विरक्त साधु थे,

---

१. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' : पृष्ठ २३२

२. प्रातः पीतपटं कदा व्यपनयाम्यन्यांशु कस्यार्पणात्।
कुंजे विस्मृत कंचुकीमपि समानेतुं प्रधावामि वा॥
बध्नीयां कबरीं युनज्मि गलितां मुक्तावली मंजये।
नेष्ये नागरि रंगकैश्चपिदधाम्यंगव्रणं वा कदा॥वही ७५

इनकी उपासना उच्चकोटि की थी—इस प्रकार की बातों का उल्लेख हमें स्वामी जी के समकालीन कवियों की वाणी में उपलब्ध हो जाता है। किन्तु उनके जन्म-स्थान, कुल आदि के विषय में अन्तःसाक्ष्य और प्रामाणिक बहिः-साक्ष्य का अभाव है। स्वामी हरिदास ने किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन नहीं किया। वे स्वयं रसिक जीव थे। सदा रसोपासना में लीन रहते थे। इसलिये गोस्वामी हितहरिवंश की भाँति इनके भक्ति-सिद्धान्तों का आधार भी रस-दर्शन है। स्वामी जी के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—केलिमाल और सिद्धान्त के अठारह पद। इनमें से केलिमाल में श्यामा-श्याम की केलि-क्रीड़ाओं का वर्णन है। यत्र तत्र उपासना और उपास्य के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ जाता है। सिद्धान्त के अठारह पदों में भक्ति की पृष्ठभूमि के रूप में ईश्वर, जीव तथा संसार विषयक सामान्य चर्चा है और इस चर्चा का मूल प्रयोजन यही है कि जीव को दुःख मुक्ति के लिये कुंज बिहारी का भजन करना चाहिये।

ईश्वर, जीव तथा संसार

स्वामी हरिदास के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव सर्वथा ईश्वराधीन है। भगवान् की इच्छानुसार जीव के सारे कार्य सम्पन्न होते है। यह संसार स्वप्न के समान मिथ्या है और उसका रचयिता भगवान् है।[1] संसार में परस्पर मिलन तीर्थ में परस्पर मिलने के समान क्षणिक है। अतः सांसारिक पदार्थों में आसक्ति करना बिल्कुल मूर्खता है। संसार-समुद्र से वही पार होता है जो आनन्द-कन्द भगवान् के चरणों की शरण लेता है। संसार में भगवान् का भजन ही सार वस्तु है। यह जानकर भी जीव मायामोह में फँसता है। संसार से किया गया प्रेम नश्वर है और भगवान् से किया गया प्रेम मंजीठे रंग के समान पक्का तथा एक रस है। अतः भगवान् से ही प्रेम करना जीव के लिये उचित है।

रसोपासना

हरिदासी सम्प्रदाय की उपासना के वास्तविक स्वरूप का विवेचन श्री बिहारिन देव तथा भगवतरसिक ने किया है। इनके अनुसार नित्य विहार का दर्शन एवं मनन ही सर्वश्रेष्ठ उपासना है। क्योंकि नित्य विहार प्रेम का नित्य उमड़ता हुआ सागर है। यह शुद्ध नीर के समान है। शिव नारदादि भी इसके

१. निशिदिन बुनत उधेरत जात प्रपंच को सागर···।
श्री हरिदास यदे बिय जानो तीरथ को सो जागर॥—सिद्धान्त के पद १४।

विषय में नहीं जानते। रसिक भक्तों की जीवन-मूरि रूप यह नित्य विहार उपमा का विषय नहीं, ज्ञान से गम्य नहीं तथा दार्शनिक सिद्धान्तों की पहुँच के बाहर है।

उपमा ज्ञान कवीश्वरी सिद्धान्तन ते दूरि।
नित्य विहार अधार हमारी जीवन मूरि॥[1]

यही नित्य विहार हरिदासी सम्प्रदाय की उपासना का विषय है—

मन मनसा आसा मगन तन की कछु न सम्हार।
बिहारी दास नाम कहै निरखै नित्य विहार॥[2]

नित्य विहार के विधायक तत्त्वों—राधा, कृष्ण, वृन्दावन धाम और सहचरी को इस सम्प्रदाय में भी स्वीकार किया गया है। यद्यपि इन सभी तत्त्वों की विस्तार से चर्चा इस सम्प्रदाय के कवि-आचार्यों ने नहीं की है तथापि उसका जो स्वरूप वाणी-ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है वह प्रायः वही है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकृत है। यहां भी प्रेम तत्त्व संयोग-वियोग की भावना से रहित नित्य तथा एक रस है। स्वयं राधावल्लभी ध्रुवदास ने अपने प्रेम तत्त्व के इस भाव के विवेचन में बिहारिन देव का यह पद उद्धृत किया है—

तहाँ कछु न श्रम तम न गम विरह भ्रम
मान लवलेश न प्रवेश प्रसंगी।[3]

इस सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों को संक्षेप में भगवत रसिक के इस छप्पय में प्रस्तुत किया जा सकता है—

आचारज ललिता सखी रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, युगल मंत्र को जाप॥
युगल मंत्र को जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट श्यामा महारानी॥
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुखदानि प्रगट भये रसिकाचारज॥[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय के संस्थापक तथा अनुया-

---

१. बिहारिन देव की वाणी (हस्तलिखित)
२. बिहारिन देव की वाणी।
३. बिहारिन देव की वाणी।
४. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ४३–४४।

यियों ने अपने को सदा दार्शनिक जटिलता से बाहर रख कर उपासना को ही अपना ध्येय स्वीकार किया। इस सम्प्रदाय की उपासना रसोपासना रही—इसलिये आरम्भ से ही हरिदासी मतानुयायियों ने माधुर्य्य भक्ति को स्वीकार किया और उसी का प्रचार किया।

कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में माधुर्य्य भक्ति

भक्ति-सिद्धान्तों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति-परक सभी सम्प्रदायों में भगवत्प्रेम को साध्य स्वीकार किया गया है। इस प्रेम की प्राप्ति में साधन रूप होने के कारण श्रीकृष्ण की लीलाओं का उक्त सभी सम्प्रदायों में अत्यधिक महत्त्व है। इन लीलाओं के श्रवण, स्मरण और मनन से प्रादुर्भूत प्रेम आधिभौतिक दुःखों से मुक्त होने का मात्र उपाय है। इसीलिये वैष्णवों में भगवान् के अवतार का प्रमुख कारण 'लीलाओं का विस्तार' स्वीकार किया गया है।

स्वलीलाकीर्तिविस्तारात् भक्तेष्वनजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥

भगवान् की लीलाएँ दो प्रकार की हैं—ऐश्वर्य भाव परक और माधुर्य्य भाव परक। इन दोनों प्रकार की लीलाओं का प्राकट्य पृथ्वी पर तीन स्थानों में स्वीकार किया गया है—द्वारका, मथुरा और गोकुल। श्रीकृष्ण की माधुर्य्य भाव परक लीलाओं में प्रभुत्व की सभी भावना लुप्त हो जाती है। वहाँ केवल प्रेम का साम्राज्य होता है। इस कारण प्रेम को महत्त्व देने वाले इन सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में माधुर्य्य भाव की लीलाओं तथा इन लीलाओं की विहार-भूमि गोकुल को विशेष महत्त्व मिला है।

श्रीकृष्ण की माधुर्य्य भाव परक लीलाएँ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर (दाम्पत्य) भाव की मानी गई हैं। यह भेद केवल भाव की मुख्यता और गौणता के आधार पर किया गया है। वैसे मधुर भाव की लीलाओं में सख्य, वात्सल्य आदि भाव भी संचरित होते रहते हैं। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँच भावों में क्रमशः प्रेम का उत्कर्ष स्वीकार किया गया है। अतः मधुर भाव की लीलाओं को सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है।

कृष्ण-भक्ति के, वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त, सभी सम्प्रदायों में माधुर्य्य भाव की मधुर लीलाओं को आरम्भ से ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तन के समय माधुर्य्य भाव के वात्सल्य

पक्ष को सर्वश्रेष्ठ मानकर अंगीकार किया था किन्तु धीरे-धीरे उनके इस विचार में परिवर्तन हुआ और उनका झुकाव माधुर्य्य भाव के मधुर पक्ष की ओर हो गया। डा० दीनदयाल गुप्त ने भी अपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ में वल्लभ सम्प्रदाय की दाम्पत्य-भाव की उपासना विधि पर प्रकाश डालते हुए इसी तथ्य का उल्लेख किया है। उनके विचार में— **'वल्लभाचार्य जी ने पहले माहात्म्य ज्ञान पूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। बाद को उन्होंने अपने उत्तर जीवन काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथ जी ने किशोर-कृष्ण की युगल-लीलाओं का तथा युगल-स्वरूप की उपासना विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।'**[1]

वृन्दावन महत्त्व

मधुर एवं कान्ताभाव की इस प्रमुखता के कारण ही श्रीकृष्ण की रास-लीला भूमि वृन्दावन को गोकुल से अधिक महत्त्व मिला है। गोकुल भगवान् कृष्ण की लीला-भूमि अवश्य रही है किन्तु वहाँ माधुर्य्य भाव के सख्य, वात्सल्य आदि पक्षों का ही उनकी लीला में प्रमुख स्थान रहा है। इस कारण मधुर-लीलाओं का विस्तार वहाँ अधिक नहीं हो पाया है। इसके विपरीत यद्यपि वृन्दावन की लीलाओं में सख्य, वात्सल्यादि पक्ष का बिल्कुल अभाव नहीं है, तथापि वहाँ कान्ताभाव की ही प्रधानता रही है। जिसकी चरम परिणति रासलीला में लक्षित होती है। सूरदास आदि कवियों ने श्रीकृष्ण-लीला वर्णन में माखन-चोरी, भौंरा-चकडोरी, ऊखल-बन्धन आदि बाल्यकालीन लीलाओं के गोकुल में होने का वर्णन किया है और श्रीकृष्ण तथा गोप-युवतियों की किशोर-लीलाओं की स्थली उनकी दृष्टि में भी वृन्दावन रही है। अतः सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के सभी माधुर्य्य भक्ति के सम्प्रदायों ने श्रीकृष्ण की किशोर-लीला भूमि वृन्दावन को विशेष महत्त्व दिया है। इसीलिए सभी सम्प्रदायों में वृन्दावन-वास का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है।

माधुर्य्य भक्ति का आधार

यद्यपि प्रेम लक्षणा माधुर्य्य भक्ति का विशेष रूप से प्रचार सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हुआ, तथापि इसका आधार ग्रन्थ भागवत है। कुछ विद्वानों ने आलवार भक्तों की भक्ति-साधना को भी भागवत में वर्णित माधुर्य्य भक्ति के समकक्ष माना है।[2] और उसी से मध्ययुगीन माधुर्य्य

१. भाग—२ : पृष्ठ ५२७।

२. *Hyms of Alvars* : J. S. M. Hooper : Page 18.

भक्ति का सम्बन्ध स्थिर करने की चेष्टा की है। किन्तु आलवार-भक्तों की माधुर्य्य भक्ति से कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में स्वीकृत माधुर्य्य भक्ति कुछ भिन्न है। आलवार-भक्त कृष्ण को प्रियतम मानकर अपने को उनकी प्रियतमा मानते थे, किन्तु ब्रज के प्रायः सभी भक्ति-सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण को ही प्रिया-प्रियतम स्वीकार किया गया है और उन्हीं की प्रेम-लीलाओं के माध्यम से मधुर रस का आस्वादन करने की चेष्टा की गई है। इस विषय पर विस्तार से चर्चा करने का अवसर हमें अगले अध्याय में मिलेगा। अस्तु

आलवारों की माधुर्य्य भक्ति से उक्त भिन्नता के कारण सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों ने माधुर्य्य भक्ति की प्रेरणा भागवत ग्रन्थ से ही ग्रहण की। आचार्य वल्लभ ने 'प्रस्थान-त्रयी' के समान अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए भागवत पुराण पर टीका लिखकर उसका महत्त्व स्वीकार किया है। माधुर्य्य भक्ति का रस की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने वाले गौड़ीय-सम्प्रदाय के विद्वानों ने भी भागवत पुराण को एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया है। गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों का सार देते हुए विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसी तथ्य का उल्लेख निम्न श्लोक में किया है—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता॥
शास्त्रं भागवत प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो न परः॥

उक्त दो सम्प्रदायों के अतिरिक्त माधुर्य्य भक्ति के अन्य सम्प्रदायों ने भी भागवत पुराण का महत्त्व स्वीकार किया है। भागवत पुराण में दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध का स्थान विशेष है। क्योंकि भागवत के इस भाग में कृष्ण की माधुर्य्य भाव परक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर सभी प्रकार की लीलाएँ सुन्दर शैली में वर्णित है।

माधुर्य्य भक्ति में नित्य विहार

माधुर्य्य भाव की उक्त पाँच प्रकार की भक्ति में से मधुर भाव की भक्ति का स्थान विशेष है। मधुर भाव की लीला आचार्यों के अनुसार दो प्रकार की है—ब्रजलीला और निकुंज लीला। ब्रजलीला में भी मधुर-लीलाओं की प्रधानता रहती है किन्तु मधुर पक्ष के साथ-साथ दास्य, सख्य और वात्सल्य का भी उचित मिश्रण रहता है। इसके विपरीत निकुंज लीला में प्रिया-प्रियतम

(राधा-कृष्ण) का विहार ही सब कुछ है। अतः प्रेम-पूर्णता की दृष्टि से अधिकांश कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों में निकुंज भाव की लीला को प्रमुख स्थान दिया गया है। प्रिया-प्रियतम की यह निकुंज लीला नित्य है। इसीलिए यह नित्य विहार के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी नित्य विहार का दर्शन माधुर्य्य भक्ति में एकमात्र काम्य वस्तु है। इसके दर्शन तथा मनन से भक्त को उस मधुर रस का आस्वादन होता है जिसे 'अनिर्वचनीय' कहा गया है।

माधुर्य्य भक्ति में स्वीकृत प्रेम

माधुर्य्य भक्ति में जिस प्रेम को स्वीकार किया गया है वह न तो यौन सम्बन्ध से उद्भूत कामेच्छा परक प्रेम माना जाता है और न इस प्रेम को सामाजिक सम्बन्ध का आधार ही ठहराया गया है। यह प्रेम ईश्वरोन्मुख होता है और अपने आराध्य के प्रति निष्काम भावना से व्यक्त किया जाता है। इस प्रेम में किसी प्रकार के विनिमय की आकांक्षा नहीं होती। शांडिल्य और नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में इस प्रेम को अनिर्वचनीय और विषय-सुख से भिन्न बताया है।[1] उन्होंने स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि वासना-जन्य प्रेम में स्व-सुख की कामना का प्राधान्य होता है, उसमें प्रियतम के सुख से सुखी होना नहीं है।[2] किन्तु ईश्वरोन्मुख प्रेम स्व-सुख विवर्जित तत्सुखी भाव से किया जाता है इसी तत्सुखी भाव युत प्रेमावस्था प्राप्त होने पर ही भक्त प्रिया-प्रियतम के विहार का वास्तविक आनन्द प्राप्त कर सकता है। अन्यथा प्रेम का सर्वथा अनाविल और शुद्ध रहना सम्भव नहीं है। इसीलिए रस-रीति (माधुर्य्य भक्ति) के साधक को इस उपासना की कठिनता से आरम्भ में सावधान कर दिया जाता है।

कठिन प्रीति रस-रीति है समुझि गहो मन माँहि।
इक चकोर पावक चुगे सबहिन को भख नाँहि।[3]

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने 'शृंगार मंडन' नामक ग्रन्थ के आरम्भ में यह लिखकर कि 'इस रस से अनभिज्ञ वैष्णव भी इस ग्रन्थ का अवलोकन न करें'[4] इसी तथ्य की ओर संकेत किया है।

माधुर्य्य भक्ति को स्वीकार करने वाले मध्ययुगीन सम्प्रदायों में से पाँच

---

१. अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं—नारद भक्ति सूत्र ५१।
२. नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखेसुखित्वं—नारद भक्ति सूत्र २४।
३. बिहारिनदेव की वाणी।
४. प्रार्थये रसिका स्वैरं पश्यमित्वदन्हर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञः माद्राक्षीदपि वैष्णवाः॥ शृंगार मंडन

सम्प्रदाय मुख्य हैं। इन सम्प्रदायों में से निम्बार्क के अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदाय प्रायः समकालीन है किन्तु उन सबकी मधुर उपासना में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का गान तथा उनका मनन ही उपासना स्वीकार की गई है तथापि उपास्य और उपासक के स्वरूप-भेद के कारण उनकी भक्ति में भी कुछ भेद आ गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से कृष्ण-प्रिया राधा को निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण की स्वकीया स्वीकार किया गया है। दूसरी ओर गौड़ीयों ने उसे परकीया माना है। इन दोनों मतों के विपरीत राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय में राधा को स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्य विहारी माना गया है। इसी प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण-विहारी व्यंजित प्रेम को प्राप्त करने वाली गोपियाँ हैं, गौड़ीयों में इसे पाने का अधिकार मंजरी को है और निम्बार्क, राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदाय में सखी में इस दिव्य-प्रेम को प्राप्त करने की योग्यता स्वीकार की गई है। इसलिए इन सम्प्रदायों के उपासक क्रमशः गोपी भाव, मंजरी भाव और सखी भाव को प्राप्त करने की साधना गुरु की सहायता से करते हैं।[1] वैसे ये तीनों ही भाव साधक की सिद्धावस्था के सूचक हैं।

कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में राधा को स्वकीया, परकीया वा इन दोनों भावों से निर्विशेष नित्य विहारी स्वीकार करने के कारण प्रेम-तत्त्व के वर्णन में भी कुछ अन्तर आ गया है। निम्बार्क सम्प्रदाय में स्वकीया-भाव की प्रमुखता है—अतः वहाँ प्रेम के संयोग पक्ष की प्रधानता है। गौड़ीय सम्प्रदाय परकीया-भाव के कारण विरह-भावना पर आश्रित प्रेम को महत्त्व देता है।[2] वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियों के विरह की स्थिति को प्रेम की उत्कर्ष-स्थिति कहा गया है। सूरदास ने 'ऊधो विरहौ प्रेम करैं' कह कर विरह दशा को प्रेम की परिपाक दशा बतलाया है।[3] किन्तु राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय में प्रेम-तत्त्व

---

१. गोपीभाव, मंजरी भाव और सखी भाव की विशेष व्याख्या हम यथा समय आगे करेंगे।

२. संगम विरह विकल्पे, वरमिह विरहो न संगमस्तस्य।
एकः स एव संगे, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥ रूपगोस्वामी-पदावली।

३. ऊधो विरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पट गहत न रंगहि, रंग न रसे परै॥
ज्यों धर दहै बीज अंकुर गिरि, तौ सत फरनि फरै॥
ज्यों घट अनल दहत तम अपनौ पुनि पय अमी करै।

संसार में प्रतीत होने वाले संयोग-वियोग से सर्वथा रहित कहा गया है। यहाँ प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखने वाला एक स्थायी भाव है जो किसी भी रूप में आनन्द रहित होकर क्षण-भर भी नहीं ठहरता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शंकराचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्यों की दार्शनिक ऊहापोह एवं गम्भीर चिन्ताधारा से मुक्ति पाने के लिए जिस प्रेम-लक्षणा भक्ति का प्रचार दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ—उसी का कृष्ण-भक्ति में विकास मधुर उपासना के रूप में हुआ। व्रज के सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों ने इसी उपासना एवं भक्ति को किंचित् भेद के साथ स्वीकार किया है। किन्तु उन सभी की भक्ति का मूल आधार मधुर भाव ही है। अगले अध्याय में हम इसी माधुर्य्य भक्ति के विकास और स्वरूप पर विस्तार से विचार करेंगे।

—: ०: —

ज्यों रन सूर सहै सर सन्मुख, तौ रवि रथहि अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दुःख-सुख निदरै॥
—सूरसागर (दशम स्कन्ध) : भाग-२ : पद ४६०४

पंचम अध्याय

माधुर्य्य भक्ति : उसका दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार

वैष्णव-धर्म के विभिन्न भक्ति-आचार्यों ने शंकराचार्य के मायावाद से साधक को मुक्त करने के लिए जिस भक्ति-धर्म का प्रचार एवं प्रसार किया उसमें प्रेम की सरसता अवश्य थी—किन्तु दार्शनिक जटिलता एवं ऊहापोह के कारण उसमें शुष्कता का सर्वथा अभाव न था। इन आचार्यों ने अपने भक्ति-सिद्धान्तों को पुष्ट आधार देने के लिये जिन विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विभिन्न दार्शनिक मतों की स्थापना की उनकी शुष्कता, दुरूहता और उलझन से बचकर भक्त के लिये अपने प्रेम पथ में अग्रसर होते जाना सहज सम्भव न था और ऐसी स्थिति में भक्त को इस प्रकार के प्रेम-रस का आस्वादन कराना, जिसको अनुभव करके भक्त प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है[१]—कैसे सम्भव हो सकता था। यही कारण है कि हम उत्तरोत्तर भक्त्याचार्यों में दार्शनिक जटिलता से परे रहकर केवल प्रेम की सरसता तक ही अपने को सीमित रखने की प्रवृत्ति लक्षित करते है। महाप्रभु चैतन्य, गोस्वामी हित हरिवंश और स्वामी हरिदास ऐसे ही भक्त्याचार्यों में से हैं। यद्यपि इनके अनुवर्तियों ने बाद में अपने-अपने सम्प्रदाय के दार्शनिक मत स्थिर किये किन्तु ये (चैतन्य आदि) आचार्य प्रेम की सरसता में इन मतों को बाधक ही स्वीकार करते रहे। ये आचार्य द्वैत और अद्वैत की जटिलता से बचकर एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे, जिसका अनुगमन करने वाले प्रेमी भक्त को किसी दुरूह एवं शुष्क दर्शन की उलझन में फँसकर अपने प्रेम पथ का त्याग न करना पड़े। ये नहीं चाहते थे कि अद्वैत को स्वीकार कर प्रेमी भक्त माया के बन्धन में पड़ें अथवा विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या शुद्धाद्वैत के प्रपंच में पड़ कर वे रस की सरसता से वंचित रहे। तात्पर्य यह है कि सोलहवी शताब्दी के अधिकांश आचार्यों ने दार्शनिकवाद स्थापित करने की अपेक्षा प्रेम

---

१. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।

—नारद भक्ति-सूत्र ५५

की सरसता पर विशेष बल दिया। इसी सरसता के आधार पर उक्त काल में कृष्ण-भक्ति को दी गई 'माधुर्य्य भक्ति' की संज्ञा समीचीन कही जा सकती है।

माधुर्य्य भक्ति का विकास

माधुर्य्य भक्ति का विशेष प्रचार एवं प्रसार यद्यपि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ही हुआ। किन्तु जैसा कि हम द्वितीय अध्याय में देख आये हैं इसका आरम्भ बहुत प्राचीन है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के प्रति गोपियों की जिस भक्ति का वर्णन मिलता है वह माधुर्य्य भक्ति ही है। भागवत के अतिरिक्त मधुर भाव की भक्ति आलवार भक्तों के पदों में लक्षित होती है। इन भक्तों के पद-संग्रहों का अनुशीलन करने पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। चतुर्थ प्राच्य सम्मेलन, इलाहाबाद (ई० सन् १९२६) के कार्य विवरण को उद्धृत करते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन प्रेम साधना' में कहते हैं—**'तिरु मंगई आड़वार की रचना 'पेरियातिरु मोडी' तथा आंडाल की 'तिरुप्पावई' को पढ़ने पर जान पड़ता है कि इन आड़वारों ने माधुर्य भाव के भी अनेक पद्यों की रचना की है और नम्म आड़वार की 'तीरुविरुत्तम्' भी ऐसी पंक्तियों से भरी है। नम्म आड़वार ने उपास्यदेव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और उसके लिये तीन प्रकार के प्रेम को मुख्य साधन ठहराया है जिन्हें हम क्रमशः सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य कह सकते हैं। किन्तु इन तीनों में से उन्होंने माधुर्य को ही प्रधानता दी है और प्रसिद्ध है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वे कभी-कभी स्त्री-वेष भी धारण कर लेते थे।'**[1] इससे स्पष्ट है कि वैष्णव धर्म में मधुर भाव की उपासना आलवार भक्तों में भी प्रचलित थी। आलवारों के अतिरिक्त बौद्ध धर्म में सहज-साधना और शैवों में शाक्त मत का प्रचार इसी मधुर भाव की उपासना की ओर संकेत करता है।

सारांश यह है कि सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति में जिस मधुर भाव की उपासना का प्रचार हुआ, उसका संकेत हमें आलवारों की भक्ति में लक्षित होता है। आलवारों तथा उक्त काल के कृष्ण-भक्तों की माधुर्य्य भक्ति का लक्ष्य मधुर भाव द्वारा प्रेम-रस का आस्वादन है, यद्यपि दोनों की रसास्वादन-पद्धति में कुछ अन्तर अवश्य है। प्रसिद्ध आलवार अंदाल

१. मध्यकालीन प्रेम साधना : पृष्ठ २०

की इस उक्ति से 'अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य को अपना पति नहीं बना सकती।'—जिस प्रकार के कान्ता भाव का परिचय मिलता है वैसा भाव आगे के ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्तों की दाम्पत्य भाव की भक्ति में लक्षित नहीं होता। यहाँ मधुर भाव के प्रेम की अनुभूति राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण की प्रेम लीलाओं के माध्यम से की जाती है। आलवारों की भाँति यहाँ भक्त प्रियतमा रूप में कृष्ण से सम्बन्ध स्थापित करने की चाह नहीं रखता। उसका केवल लक्ष्य राधा के सखी भाव को प्राप्त करना है। क्योंकि उसकी यह निश्चित धारणा है कि इस भाव को प्राप्त कर वह राधा-कृष्ण की रस-पूर्ण लीलाओं का दर्शन कर सकेगा और इन्ही लीलाओं का दर्शन एवं चिन्तन करते हुए वह अलौकिक प्रेम-रस का आस्वादन कर सकता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ आलवार स्वयं को कृष्ण की प्रियतमा मानकर मधुर-रस का आस्वादन करते हैं, वहाँ ब्रज के प्रायः सभी कृष्ण-भक्तों ने अपने को राधा की सखी स्वीकार किया है और इसी भाव से राधा-कृष्ण की रस-लीलाओं का दर्शन एवं चिन्तन करते हुए वे मधुर रस की अनुभूति करते हैं। आलवारों के अनुकरण पर कृष्ण की प्रियतमा भाव की भक्ति हमें मीराबाई में दृष्टिगत होती है।

सोलहवीं-सत्रहवीं शती में माधुर्य्य भक्ति के जिस रूप का प्रचार ब्रज में विशेष रूप से हुआ उसका सर्वप्रथम परिचय हमें प्रपंचसारतंत्र नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ के रचयिता शंकराचार्य स्वीकार किये गये हैं।[1] इसमें उपासक को त्रैलोक्य-मोहन विष्णु के इस रूप का ध्यान करने का आदेश दिया गया है—'विष्णु एक सुन्दर उपवन में कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हैं। वे अपनी पूर्ण कैशोरावस्था में सौन्दर्य की मूर्ति प्रतीत होते हैं। उन्होंने विभिन्न आयुध धारण किये हुए हैं। वे स्थिर नेत्रों से अपनी प्रिया श्री के मुख की ओर देख रहे हैं, जो उनका (विष्णु का) प्रेम-पूर्वक आलिंगन कर लेती है। विष्णु और श्री के चारों ओर पुष्ट नितम्ब और उरोज धारण करने वाली स्त्री-परिचारिकाएँ खड़ी हैं, जो मधुर-मधुर मुस्करा रही हैं। वे दोनों हाथ बाँध कर सेवा की प्रतीक्षा कर रही हैं। तीव्र काम वेदना से वे व्यथित हैं और लज्जाहीन हो रही हैं। वे विष्णु के पास जाती हैं और कहती हैं—हे परमात्मन्! आप ही हमारी मात्र शरण हो।'[2] प्रपंचसारतंत्र के इन श्लोकों में उपासकों के लिए

१. प्रपंचसारतंत्र : सम्पादक ए० एवलोन : भूमिका

२. सुमनोहरे च कल्पवृक्षोद्याने रमापतिं ध्यायेत्।

... ...

जिस ध्यान का निर्देश किया गया है उसमें श्री और विष्णु को परस्पर प्रिया-प्रियतम माना गया है। किन्तु उनके चारों ओर सेवापरायण जिन परिचारिकाओं का उल्लेख किया गया है वे ब्रज के कृष्ण-भक्तों में स्वीकृत सखियों से भिन्न है। इन सखियों में निजी सम्भोग की लालसा का, जो इन परिचारिकाओं में लक्षित होती है, सर्वथा अभाव माना गया है। उनका लक्ष्य **'कृष्ण-सौख्यार्थं केवलमुद्यमः'** है। निजीसुख की भावना से रहित होकर केवल राधा-कृष्ण की परिचर्य्या के निमित्त उनके सम्मुख खड़ी हुई सखियाँ हमें आचार्य निम्बार्क के इस श्लोक में दृष्टिगत होती हैं—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगां
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥[1]

आचार्य निम्बार्क का समय बारहवीं शताब्दी माना गया है। अतः सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी में माधुर्य्य भक्ति के जिस रूप का ब्रज में विशेष प्रचार हुआ उसका आरम्भ इसी शताब्दी में स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि ब्रज की इस माधुर्य्य भक्ति के केन्द्र युगल स्वरूप राधा-कृष्ण थे और भक्त्याचार्यों में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य निम्बार्क ही हैं। विद्वानों के अनुसार काव्य-जगत् में राधा-कृष्ण का नायक-नायिका के रूप में प्रवेश इसी काल में हुआ। इस विषय पर विचार करते हुए ब्रजेश्वर शर्मा लिखते हैं— **'बारहवीं सदी ईसवी तक अर्थात् गोवर्धनाचार्य की 'आर्यासप्तशती' के निर्माण काल तक शिव और पार्वती शृंगारी काव्य के प्रतीक नायक-नायिका बने रहे। उसके बाद राधा-कृष्ण की बारी आई और जयदेव ने 'राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः' की प्रस्तावना के साथ काव्य-जगत् को नवीन नायक-नायिका प्रदान किये।'**[2] इसके विपरीत कुछ विद्वान् राधा का अस्तित्व बहुत

वामोरु जंघगतयालिंगितदेहं श्रिया मदोत्कटया।
तद्वक्त्राम्बुरुहासवपिपासितभ्रान्तनेत्रषट्पदया ॥
... ...
संसेवितं पुरन्ध्रीवृन्दैश्चानंगबाण सन्तप्तैः ॥
... ...
समुत्थाय विष्णोस्तमेवाभियातैः। प्रपंचसारतंत्र : २३ पटल : श्लोक ३७–४६

१. दशश्लोकी : श्लोक ५
२. हिन्दी के वैष्णव कवि : पृष्ठ १३१

प्राचीन मानते है।[1] किन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भक्ति के क्षेत्र में सैद्धान्तिक रूप में कृष्ण के साथ राधा का स्पष्ट सम्बन्ध स्थिर करने वाले सबसे पहले आचार्य निम्बार्क ही हैं। अतः स्पष्ट है कि सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी में माधुर्य्य भक्ति के जिस रूप का ब्रजमण्डल में विशेष प्रचार हुआ उसका सूत्रपात आचार्य निम्बार्क के इस श्लोक **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'** के द्वारा हुआ। आगे के आचार्यों ने इसी आधार को ग्रहण करते हुए माधुर्य्य भक्ति का विकास किया।

सोहलवीं शताब्दी में माधुर्य्य भक्ति का प्रसार विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न स्थानों पर हुआ। एक ओर बंगाल में चैतन्य ने राधा-कृष्ण की मधुर उपासना का प्रचलन किया। दूसरी ओर वृन्दावन में श्री हितहरिवंश और स्वामी हरिदास जी ने इस उपासना को अपनी भक्ति-पद्धति के रूप में अपनाया। इन सभी आचार्यों एवं महात्माओं का समय प्रायः एक ही है और सभी की उपासना का रूप स्वतन्त्र है। किन्तु बाद में जिस नित्य विहार पद्धति को ब्रज के सभी सम्प्रदायों में प्रमुखता दी गई वह गोस्वामी हित हरिवंश की ही देन सिद्ध होती है।

माधुर्य्य शब्द

माधुर्य्य भक्ति के विकास-क्रम को देख लेने के उपरान्त हम माधुर्य्य शब्द तथा माधुर्य्य भाव पर कुछ प्रकाश डालना उचित समझते हैं। क्योंकि इन दोनों का स्पष्टीकरण माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझने में सहायक होगा। माधुर्य्य शब्द का प्रयोग काव्यों में महाभारत काल से होता चला आ रहा है। सामान्य अर्थों में इस शब्द से मधुरता का तात्पर्य है किन्तु मधुरता के अतिरिक्त इस शब्द का व्यवहार सौन्दर्य, विशिष्ट सुन्दरता, आकर्षण आदि अर्थों में भी किया गया है। इसके अतिरिक्त जहाँ समवेत रूप में सौन्दर्य, आकर्षण आदि गुणों का दिग्दर्शन कराना हो, वहाँ भी माधुर्य्य शब्द का प्रयोग कवियों तथा नाटककारों ने किया है। इस दृष्टि से माधुर्य्य नामक एक गुण माना गया है, जिसके कारण नायक बिना किसी शृंगार के भी सुन्दर तथा मनोहारी होता है।

काव्य-शास्त्रों में माधुर्य्य शब्द

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में काव्य के दस गुणों की चर्चा करते हुए

---

१. राधा के विकास की चर्चा हम द्वितीय अध्याय में कर आये हैं।

माधुर्य्य का उल्लेख किया है।[1] उनके अनुसार माधुर्य्य काव्य का वह गुण है जिसके कारण एक ही वाक्य या पद बार बार कहा जाने पर भी रुचिकर प्रतीत होता है।

बहुशो यच्छ्रुतं वाक्यमुक्तं वापि पुनः पुनः।
नोद्वेजयति यस्माद्धि तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥[2]

काव्यगुण के अतिरिक्त माधुर्य्य, शब्द और अर्थ का गुण भी स्वीकार किया गया है। आचार्य अभिनव गुप्त के अनुसार पदावली में दीर्घ समास के अभाव के कारण जो सहजता आ जाती है वह माधुर्य्य शब्द-गुण है।[3] इसी आशय को आचार्य वामन ने **'पृथक्पदत्वं माधुर्य्यम्'** के द्वारा स्पष्ट करके माधुर्य्य को शैली का एक गुण स्वीकार किया है। माधुर्य्य अर्थ-गुण से अभिप्राय यह है कि एक वाक्य को यदि बार-बार पढ़ा जाय तो अर्थ-वैचित्री के कारण उसमें प्रत्येक बार नये-नये अर्थ का बोध हो और फलतः काव्य में सदा सरसता बनी रहे।[4] तात्पर्य यह है कि काव्य-गुण के समान शब्द तथा अर्थ-गुण के रूप में भी माधुर्य्य शब्द सरसता का ही द्योतक है।

मम्मट, विश्वनाथ आदि बाद के आचार्यों ने काव्य के मुख्य तीन गुण स्वीकार किये हैं—माधुर्य्य, ओज और प्रसाद। इनमें माधुर्य्य गुण का स्थान प्रमुख है। इस प्रमुखता का कारण आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि चित्त के भावोद्रेक का मुख्य कारण होने से यह गुण आह्लाद की प्राप्ति में विशेष रूप से सहायक होता है। फलतः माधुर्य्य गुण के कारण काव्य अथवा नाटक के पढ़ने सुनने तथा देखने में सदा चित्त की प्रसन्नता बनी रहती है। सारांश यह है कि काव्य-शास्त्र में माधुर्य्य शब्द का प्रयोग भाव और भाषा की सरसता को सूचित करने के लिये हुआ है। इस सरसता के द्वारा ही काव्य के मुख्य प्रयोजन आह्लाद एवं आनन्द की सिद्धि स्वीकार की गई है।

भक्ति-ग्रन्थों में माधुर्य्य शब्द

भक्तों ने भी काव्याचार्यों के समान माधुर्य्य शब्द से सरसता का

---

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिमाधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥ नाट्यशास्त्र

२. नाट्यशास्त्र.

३. द्राघीयसि समासे ताववश्यं भवत इति तद्विरह एव माधुर्य्यं शब्द गुण इत्युक्तं भवति।

४. पुन पुनरप्युक्तमर्थजातं यस्माद्धेतोरपनीतमवगाहनेन वैरस्येन तद्वचनवैचित्र्यात्मकं माधुर्यमर्थगुणः ॥ —अभिनव गुप्त

अभिप्राय ग्रहण किया है। इनके अनुसार यही सरसता प्रेम रस के आस्वादन में सहायक होती है। सरसता एवं मधुरता के अभाव में आनन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं मानी गई और इसलिए माधुर्य्य शब्द से अभिप्रेत सरसता को भक्ति-ग्रन्थों में विस्तृत अर्थों में ग्रहण करने की चेष्टा की गई है।

आरम्भ में भक्ति-ग्रन्थों में माधुर्य्य शब्द का प्रयोग भक्ति के लिये न होकर भाव के लिये हुआ है। सोलहवीं शताब्दी में रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' में कान्ताभाव की भक्ति के लिए 'मधुरा भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है।[1] इसी प्रकार 'भक्ति-रसायन' के रचयिता मधुसूदन सरस्वती ने मधुर भाव की भक्ति को 'शृंगारा भक्ति' शब्द से सूचित किया है।[2] इसके विपरीत माधुर्य्य शब्द का प्रयोग इस काल के भक्ति-ग्रन्थों में केवल भाव विशेष के लिये किया गया है। इन ग्रन्थों में भगवान की लीलाएँ दो प्रकार की मानी गई हैं—ऐश्वर्य्यभाव परक और माधुर्य्य भाव परक। इनमें प्रेम-तीव्रता की दृष्टि से भगवान् की माधुर्य्य भाव की लीलाओं का स्थान विशेष है।[3]

ऐश्वर्य्य भाव

ऐश्वर्य्य से तात्पर्य है प्रभुत्व एवं ईश्वरत्त्व का। जहाँ कृष्ण अपने प्रभुत्व या ईश्वरत्त्व को साथ रखकर लीला करते हैं वहाँ उनकी लीला ऐश्वर्य्य भाव पूर्ण स्वीकार की गई है। इस प्रकार की लीला में ऐश्वर्य्य भाव की प्रधानता के कारण मानव-भावना की उपेक्षा तथा वैभव और अलौकिकता का प्राधान्य दृष्टिगत होता है।[4] अतः ऐसी दशा में जन-सामान्य का इन लीलाओं द्वारा रस प्राप्त कर सकना सहज नहीं है। रस अथवा आनन्द की प्राप्ति मानसिक रमण अर्थात् लीलाओं में मन की तन्मयता द्वारा ही सम्भव है और यह तन्मयता केवल आत्मीयता की भावना द्वारा सिद्ध हो सकती है। जिन लीलाओं में कृष्ण का अतिमानवीय रूप भक्त के सम्मुख रहता है, वहाँ भक्त भगवान्

---

१. आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
माधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥ हरिभक्तिरसामृत सिन्धुः ३।५।२

२. शृंगारो मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः।
तीव्रतीव्रतरत्वं तु रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते॥ २–३६

३. तत्र विग्रहचेष्टा द्विविधाः, ऐश्वर्य्यमय्यो माधुर्य्यमय्यश्चेति। तत्र निजजन प्रेममयत्वान्माधुर्य्यमय्य एवं रमणाधिक्ये हेतवः।—जीवगोस्वामी कृत प्रीतिसन्दर्भः पृ० ७८८.

४. ऐश्वर्य्यन्तु नरलीलात्वस्यानपेक्षितत्वे सति ईश्वरत्वाविष्कारः।
विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत भक्ति ग्रन्थावली : रागवर्त्मचन्द्रिका : पृष्ठ ७६।

से आत्मीयता का सम्बन्ध सहज स्थापित नहीं कर सकता। भगवान के ऐश्वर्य रूप को देखकर भक्त के हृदय में उनके प्रति जो प्रीति उदय होती है वह आत्मीयता की भावना से उत्पन्न प्रीति से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ भक्त भगवान् के ऐश्वर्य एवं विभूति को देख कर आश्चर्य-चकित रह जाता है और भय-मिश्रित श्रद्धा से उसका सिर नत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार की प्रीति में भगवान् भक्त से सदैव बड़े रहते हैं—अतः भक्त के प्रेम में संकोच की मात्रा कुछ न कुछ अवश्य रहती है। किन्तु जहाँ भक्त भगवान् को अपना ही मित्र, पुत्र आदि समझता है वहाँ प्रेम में इस संकोच-भाव का सर्वथा अभाव होता है। गो० तुलसीदास का **'भय बिनु होई न प्रीति'**—यह सूत्र ऐश्वर्य भाव की प्रीति का पोषक है। भगवान् कृष्ण की द्वारका तथा मथुरा-लीलायें इसी ऐश्वर्य भाव की लीलायें हैं। उनके जन्म के समय कारागार के रक्षक निद्रामग्न हो जाते हैं, कारागार के दरवाजे स्वयं खुल जाते हैं और वृन्दावन जाते समय स्वयं शेषनाग उनकी रक्षा करते हैं। अतः ब्रज के कृष्ण-भक्तों ने इन ऐश्वर्य-लीलाओं के वर्णन में विशेष रुचि नहीं ली। इन भक्तों की यह धारणा है कि इस प्रकार की लीलाओं से स्वयं भगवान् भी प्रसन्न नहीं होते। इस आशय को कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्य-चरितामृत' नामक ग्रन्थ में कृष्ण के मुख से इस प्रकार कहलवाया है—

ऐश्वर्य ज्ञानेते सब जगत मिश्रित।
ऐश्वर्य शिथिल प्रेमे नाहि मोर प्रीत॥
आमारे ईश्वर माने—आपनाके हीन।
तार प्रेमे वश आमि ना हई अधीन॥[1]

स्पष्ट है कि ऐश्वर्य-भाव से उद्भूत प्रेम को ब्रज-भक्तों में अधिक मान्यता प्राप्त न हुई। गो० तुलसीदास की ये पंक्तियाँ ऐश्वर्य भाव का सुन्दर उदाहरण हैं—

राम सो बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मोसो कौन खोटो॥[2]

माधुर्य्य भाव

माधुर्य्य भाव में प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य का सर्वथा तिरोभाव स्वीकार किया

---

१. आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद
२. विनय पत्रिका : पद ७२

गया है। इस भाव की लीला में कृष्ण सामान्य मानव की भाँति अपने माता, पिता, सखा आदि के साथ व्यवहार करते हैं।[१] अतः यहाँ कृष्ण के अति-मानवीय और अलौकिक रूप के दर्शन भक्त को नहीं होते। माधुर्य्य भाव में भक्त भगवान् को उसी प्रकार प्रेम का पात्र बनाता है, जिस प्रकार परिवार में पुत्र, सखा, पति आदि होते हैं। इन निकट सम्बन्धों के कारण माधुर्य्य भाव की भक्ति में आत्मीयता के लिए अपेक्षाकृत अधिक स्थान है और आत्मीयता के प्रकर्ष में ही प्रेम की प्रगाढ़ता निहित है। प्रेम की यह तीव्रता भगवान् की प्रसन्नता का प्रमुख कारण है। चैतन्य-चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने इसी भाव को व्यक्त किया है। वहाँ कृष्ण कहते हैं—

मोर पुत्र मोर सखा मोर प्राणपति।
एई भावे करे येई मोर शुद्ध भक्ति॥
आपनाके बड़ माने,—आमार सम हीन।
सेई भावे आमि हई ताहार आधीन॥[२]

इस प्रकार की उक्तियों के द्वारा कृष्ण-भक्त कवियों ने ऐश्वर्य से माधुर्य्य भाव की उत्कृष्टता सिद्ध करने की चेष्टा की है। और इस उत्कृष्टता का प्रमुख कारण प्रेम की तीव्रता है। इस प्रेम की तीव्रता में वह मानसिक तन्मयता सहज प्राप्य है जिसके द्वारा रस एवं आह्लाद की प्राप्ति सभी आचार्यों ने स्वीकार की है। मन की प्रसन्नता में सभी अवस्थाओं में चारुता दृष्टिगत होती है, जो माधुर्य्य का उत्कर्ष है।[३]

ब्रज के कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् कृष्ण की मथुरा, द्वारका और ब्रज की लीलाओं में से केवल ब्रज की लीलाओं में माधुर्य्य भाव की प्रधानता स्वीकार की है।[४] यहाँ कृष्ण स्व-परिजनों या बन्धु-बान्धवों की भाँति जिस प्रेम का स्वयं आस्वादन करते हैं और अपनी लीलाओं के द्वारा भक्त को आस्वादन कराते हैं वह अपूर्व है। उसमें प्रेम के आस्वादन में व्याघात उत्पन्न करने वाले ऐश्वर्यभाव का सर्वथा अभाव है। इस प्रकार के माधुर्य्य भाव का उदाहरण

---

१. ऐश्वर्यरहित केवल नरलीलत्वेन मौग्ध्यमेव माधुर्यमित्युक्तः।
—रागवर्त्मचन्द्रिका : विश्वनाथ : पृष्ठ ७६।

२. आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद

३. माधुर्य्य नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु चारुता।—षट् सन्दर्भ : प्रीति सन्दर्भ : जीवगोस्वामी पृष्ठ ७९०

४. तस्माद्व्रजस्थानं सर्व्वथैव शुद्धमेव माधुर्य्य ज्ञानं। विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत रागवर्त्मचन्द्रिका : पृष्ठ ७९।

हम सूरदास की इन पंक्तियों में देख सकते हैं—

देखो माई कान्ह हिचकियन रोवे ।
तनक मुखहि माखन लपटान्यो डरनि ते अँसुवन धोवे ॥
माखन लागि उलूखल बाँध्यो सकल लोक ब्रज जोवे ।
निरखि कुरुख उत बालनि को दिसि लाजन अँखियन धोवे ॥... ।

यहाँ भगवान् कृष्ण अपनी समस्त अलौकिक शक्ति को तिरोहित करके माखन-चोरी में मैया द्वारा पकड़े जाने तथा ऊखल में बाँधे जाने पर भय से त्रस्त उसी प्रकार रोते है जिस प्रकार कि एक सामान्य बालक । इसी प्रकार का माधुर्य्य भाव कृष्ण की सभी ब्रज-लीलाओं में लक्षित होता है ।

माधुर्य्य भाव का विस्तार

माधुर्य्य भाव की ब्रज-लीलाएं पाँच प्रकार की मानी गई हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर । यद्यपि ये सभी माधुर्य्य भाव प्रेमपूर्ण होने के कारण सरस हैं, किन्तु प्रेमोत्कर्ष की दृष्टि से शृंगार परक मधुर-लीलाओं में माधुर्य्य भाव की पूर्णता स्वीकार की गई है ।[1] इन मधुर लीलाओं मे कृष्ण अपनी प्रिया का प्रेम प्राप्त करने के लिए उनके पदों का संवाहन तक करते हैं । और इस सेवा के परिणामस्वरूप यदि उन्हें पादाघात या भर्त्सना भी मिलती है तो उसे भी अपना अहोभाग्य समझते है । इस प्रकार की आत्म-विस्मृति माधुर्य्य भाव की अन्य शान्त, दास्य, सख्य आदि लीलाओं में लक्षित नहीं होती । इसके अतिरिक्त मधुर-लीला में माधुर्य्य भाव के उत्कर्ष का यह भी कारण है कि पहले भाव का समावेश अपने से अगले भाव में हो जाता है ।[2] अर्थात् सख्य में जहाँ सख्यत्व है वहाँ दास्य भाव भी, और वात्सल्य में वत्सलता के साथ-साथ दास्य और सख्य भाव का समावेश है । इसी प्रकार मधुर (शृंगार) भाव में यद्यपि मधुर रस की प्रधानता होती है किन्तु दास्य, सख्य और वात्सल्य उसी में अन्तर्निहित हैं । इसीलिए कृष्ण की मधुर भाव की लीलाओं में माधुर्य्य भाव का चरम उत्कर्ष उचित है ।

माधुर्य्य भक्ति

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि भगवान् कृष्ण के द्विविध—ऐश्वर्य

---

१. तटस्थ हइया मने विचार यदि करि ।
सब रस हैते शृङ्गार अधिक माधुरी ॥ चै०च० : आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद

२. पूर्व्व पूर्व्व रसेर गुण पर पर हय ।
दूई तिन गणने पंच पर्यन्त बाढ़य ॥ चै०च० : मध्यलीला : अष्टम परिच्छेद

और माधुर्य्य भाव में से अपनी मधुरता एवं सरसता के कारण माधुर्य्य भाव श्रेष्ठ है। इसमें सरसता के फलस्वरूप भावोद्रेक और तदुपरान्त आनन्द की प्राप्ति सहज है। और इसीलिए यह माधुर्य्य भाव प्रेमी भक्त के लिए अधिक स्पृहणीय है। माधुर्य्य भाव का परम उत्कर्ष भगवान् की कान्ता भाव परक मधुर लीलाओं में लक्षित होता है। जैसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में कहा है कि **'इस श्रेणी के भक्तों के अनुसार भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं उनमें मधुर भाव या कान्ता रति का सम्बन्ध सर्वाधिक मनोरम है।'**[1] वास्तव में इस सम्बन्ध में जितनी निकटता का अनुभव प्राणी को होता है उतना अन्य सखा आदि सम्बन्धों में नहीं होता।[2] इस कारण दाम्पत्य भाव के सम्बन्ध में प्रेम का तीव्रतम रूप प्रगट होता है। उपनिषदों में इसलिए ब्रह्मानन्द के स्वरूप को पति-पत्नी के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है—'व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष भी प्रज्ञात्मा द्वारा आलिंगित होने (अर्थात् उसकी अनुभूति में आ जाने) पर न तो कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का।'[3] अतः चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी हितहरिवंश और स्वामी हरिदास आदि आचार्यों ने माधुर्य्य भाव की इसी मधुर लीला को प्रेमा भक्ति के रूप में स्वीकार किया। माधुर्य्य भाव की इसी मधुर लीला युत भक्ति को ही बाद में माधुर्य्य भक्ति की संज्ञा दी गई। इस प्रकार माधुर्य्य भक्ति में माधुर्य्य भाव की शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—इन लीलाओं से इतर केवल मधुर एवं कान्ताभाव की लीलाओं का समावेश किया गया और कृष्ण की इन्हीं लीलाओं के माध्यम से उनके मधुर प्रेम का आस्वादन किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् के मधुर-प्रेम का आस्वादन करने के लिए भक्तों ने जिस उपासना को स्वीकार किया उसे मधुर भाव की उपासना मधुर भक्ति, माधुर्य्य भक्ति आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया। इस

---

१. पृष्ठ—२०५

२. इतकेंच नव्हे तर भगवंताशीं जीं अनेक नातीं जोडण्यांत येतात त्यांमध्यें पत्नी-भावाचे नातें अत्यंत 'मधुर' व उज्ज्वल समजण्यांत येऊं लागलें, इतर सर्व नात्यांत एक प्रकार चें दूरत्व असतें, पण पति-पत्नींच्या नात्यांत उत्कटता व एकता याचें सर्वोच्च रूप मधुर आशा स्वरूपांत पाहावयास सांपडते।
—मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति : डा० प्रह्लाद नरहर जोशी : पृष्ठ ५२

३. अध्याय ४. ब्राह्मण ३, श्लोक २१

उपासना में भक्त की भगवद्विषयक तन्मयता उसी कोटि की होती है जिस कोटि की तन्मयता हमें पत्नी के पति-प्रेम में लक्षित होती है। इसी आधार पर 'मधुर भक्ति' की परिभाषा करते हुए डा० प्रह्लाद नरहर जोशी ने अपने शोध ग्रन्थ 'मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति' में लिखा है—**'पत्नी आपल्या पतिवर किंवा प्रेयसी आपल्या प्रियकरावर ज्या तन्मयतेनें प्रेम करते, तीच तन्मयता परमेश्वराभिमुख केली कीं त्या उदात्त तन्मयतेला मधुरा भक्ति असे नांव प्राप्त होतें।**[1]

माधुर्य्य भक्ति के भेद

मधुरा भक्ति की उक्त परिभाषा से यह नितान्त स्पष्ट है कि भगवान् के मधुर प्रेम का आस्वादन करने के लिए भक्त में भगवान् के प्रति प्रिया की सी तन्मयता का होना आवश्यक है। भक्तों ने इस तन्मयता की अनुभूति तीन प्रकार से की है—

१. कान्ता भाव से।
२. गोपी भाव से।
३. सखी भाव से।

(१) **कान्ता भाव** में भक्त अपने को प्रिया और भगवान को अपने प्रियतम के रूप में देखता है। इस स्थिति में वह उन सभी संयोग-वियोग-परक भावों की अनुभूति अपने हृदय में करता है जिसका अनुभव लौकिक नायिका नायक के सम्पर्क से करती है। इस प्रकार के सम्बन्ध में भगवान् भक्त के लिए कभी संयोगावस्था जनक प्रेम लीलाओं का विस्तार करते हैं और कभी भक्त उनके विरह की असह्य वेदना में तड़पता दृष्टिगत होता है। और इसी भावदशा में मग्न भक्त अपूर्व आनन्द की प्राप्ति करता है। इस प्रकार की माधुर्य्य भक्ति में भक्त का भगवान् से सम्बन्ध अत्यधिक निकट का होता है। इस निकटता के कारण भक्त भगवान् में आत्मीयता का भाव स्थापित कर लेता है। इस प्रकार की आत्मीय भावना के फलस्वरूप भगवान् ही भक्त के सब कुछ हो जाते हैं। इस दशा को प्राप्त भक्त भगवान् के प्रेम-रस का आस्वादन कर तृप्त हो जाता है।

उक्त प्रकार की कान्ता भाव परक 'मधुरा भक्ति' हमें निर्गुण और सगुण दोनों मार्गों के भक्तों में लक्षित होती है। किन्तु इनमें से निर्गुण मार्गी भक्तों के लिए यह उपासना आदर्श नहीं है। डा० हजारीप्रसाद ने अपनी 'मध्य-

१. 'मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति' : डा० प्रह्लाद नरहर जोशी : पृष्ठ ४१।

कालीन धर्म-साधना' नामक पुस्तक में इस विषय पर चर्चा करते हुए लिखा है—**'निर्गुण मार्गी भक्तों ने जब तक प्रेमावेश में आकर भगवान् के प्रति मधुर भाव के पद कहे हैं। उनकी साधना का प्रधान और प्रथम वक्तव्य यही नहीं है। कबीर दादू आदि भक्तों ने और बातों के बीच इस मधुर प्रेम सम्बन्ध की भी चर्चा की है।'**[1] ठीक यही स्थिति मराठी संत ज्ञानदेव, तुकाराम, नामदेव आदि की है। इन संतों ने भी यत्र तत्र अपनी रचनाओं में कबीर आदि के अनुरूप अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। किन्तु इनकी यह अभिव्यक्ति समाधि में अनुभूत रस को स्फुट रूप देने का प्रयास-मात्र है।[2]

वास्तव में इस प्रकार की माधुर्य्य भक्ति में सगुणोपासक स्त्री-भक्तों का विशेष अधिकार होता है। क्योंकि भगवान् के मनोहारी रूप को अपने हृदय में बिठाकर तथा उन्हें अपने निकट मानते हुए प्रिया रूप में जिन स्त्रियोचित भावों की अनभूति तथा अभिव्यक्ति ये कर सकती हैं—वैसी पुरुष-भक्तों द्वारा सहज सम्भव नहीं है। इसी कारण कान्ता भाव परक माधुर्य्य भक्ति के सर्वोत्तम उदाहरण हमें मीरा के पदों में उपलब्ध होते है।

मं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो सांचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।।'''।।

(२) **गोपी भाव** की माधुर्य्य भक्ति हमे सूरदास, परमानन्ददास आदि वल्लभ सम्प्रदायी कवियों के काव्य में लक्षित होती है। यद्यपि इस सम्प्रदाय के आचार्यों तथा कवियों मे भी इस प्रकार की उक्तियाँ मिल जाती है, जिनसे सखी भाव की पुष्टि होती है,[3] किन्तु प्राधान्य गोपी भाव का ही है। इसके अनुसार भक्त भगवान् कृष्ण और उनकी मधुर-लीलाओं की संगिनी गोपियों की मधुर-लीलाओं का गान और ध्यान करता है और इसके द्वारा भक्त भी कृष्ण के प्रति उसी प्रकार की तन्मयता प्राप्त करने की कामना करता है जिस प्रकार की तन्मयता गोपियों की कृष्ण के प्रति थी। इस तन्मयता को प्राप्त कर वह स्वयं गोपी रूप हो कृष्ण की मधुर-लीलाओं में प्रवेश पाना चाहता है। वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों द्वारा इच्छित रास-लीला-प्रवेश का यही अभिप्राय है। वैष्णवों की वार्ताओ में सूरदास के रास-प्रवेश की चर्चा इसी

---

१. पृष्ठ—२०५

२. मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति : डा० प्रह्लाद नरहर जोशी : पृष्ठ ३८५

३. श्याम सुन्दर शिखंड शेखर स्मेरहास्य मुरलीमनोहर।
राधिका रसिक मां कृपानिधे स्वप्रियाचरण किंकरीं कुरु॥
राधाप्रार्थना चतुश्लोकी २ : विट्ठल नाथ

बात की पुष्टि करती है—**'पाछें सूरदास जी को मूर्छा आई। तब श्री गुसांई जी कहें जो सूरदास जी चित्त की वृत्ति कहां है। तब सूरदास जी ने एक पद और कह्यो। सो पद।**

बलि बलि हो कुमर राधिका नंदसुवन जासों रति मानी।
ये अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसें होत है छानी।
ये जु धरत तन कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति ठानी।
ते पुनि श्याम सहेज ये शोभा अम्बर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अंग अब ही ह्वै आयो निरखि देखि निज देह सिरानी।
सूर सुजान सखी के बूझे प्रेम प्रकाश भयो बिहसानी॥

इतना कहत ही सूरदास जी ने या शरीर को त्याग कीयौ। सो भगवत्-लीला में प्राप्त भये।'

(३) **सखी भाव** की माधुर्य्य भक्ति वल्लभ सम्प्रदाय से इतर व्रजमण्डल के सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में किंचित् भेद के साथ स्वीकृत है। सखी भाव परक मधुरा भक्ति उक्त दोनों—कान्ताभाव और गोपी भाव परक मधुरा भक्ति से विलक्षण है। यहाँ न तो भक्त अपने को कृष्ण-प्रिया मानता है और न ही वह गोपी रूप होकर कृष्ण के साथ केलि करना चाहता है। इस भाव का उपासक कृष्ण-प्रिया राधा के सखी पद को प्राप्त करना ही अपना मात्र लक्ष्य समझता है। सखी रूप को प्राप्त कर वह राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं में सहायता करता हुआ यथासमय उन लीलाओं का दर्शन कर अपने जीवन को सार्थक करता है और इन्हीं लीलाओं के मनन और भावन द्वारा अपने मन को मधुर-लीलाओं में लीन कर उसी मधुर प्रेम का आस्वादन करता है जिसकी अनुभूति अपने को कृष्ण-प्रिया मानने वाले भक्तों को अथवा गोपी भाव के भक्तों को होती है। सखी भाव से भक्त को मधुर प्रेम की अनुभूति ठीक उसी प्रकार से होती है जिस प्रकार कि एक प्रेक्षक को नाटक देखते समय होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए अपनी 'सूरदास' नामक पुस्तक के 'भक्ति का विकास' प्रकरण में कहा है—**'भक्त लोग राधा और कृष्ण के परस्पर प्रेम की भावना द्वारा मधुर रस में लीन होते हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी काव्य में नायक-नायिका के प्रेम-व्यापार को पढ़-सुनकर पाठक या श्रोता शृंगार रस में मग्न होता है।'**[1] किन्तु भक्त और पाठक अथवा प्रेक्षक की रसास्वादन पद्धति की समानता के आधार पर दोनों की स्थिति को समान कहना उचित नहीं है। पाठक व प्रेक्षक की स्थिति

१. पृष्ठ ७६

काव्य अथवा नाटकीय लीला से सर्वथा भिन्न होती है, पर सखी भाव परायण भक्त उस लीला का ही एक अंग माना गया है।[1] राधा-कृष्ण की मधुर-लीला के विधायक तत्त्व राधा, कृष्ण, सखी और वृन्दावन—ये चार हैं। और ये सभी प्रेम रूप हैं। इनमें से एक के भी अभाव में लीला सम्पन्न नहीं होती। अतः भक्त राधा-कृष्ण की लीलाओं को सम्पन्न कराने की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है और तदुपरान्त तत्सुखीभाव से उनका दर्शन करता हुआ मधुर रस का आस्वादन करता है।

तात्पर्य यह है कि भगवान् के मधुर रस की अनुभूति के लिए भक्तों में जो कान्ता भाव, गोपी भाव और सखी भाव स्वीकार किए गए हैं उनमें प्रथम में भक्त भगवान् के साथ प्रत्यक्ष रमण करता है। दूसरे में वह भगवान् के साथ प्रत्यक्ष रमण तो नहीं करता, किन्तु इस प्रकार के रमण की कामना उसके हृदय में अवश्य होती है। इन दोनों से भिन्न सखी भाव में भक्त रमण की भावना से सर्वथा रहित होता है। वह राधा-कृष्ण के सुख में अपना सुख मानता है। उसकी साधना का मूल मन्त्र होता है—**'कृष्ण-सौख्यार्थमेव केवलमुद्यमः।'** ब्रज के कृष्ण-भक्तों में सखी भाव परक माधुर्य्य भक्ति को ही विशेष आदर प्राप्त हुआ है।

ब्रज के कृष्ण-भक्तों ने स्वयं को कृष्ण-प्रिया न मानकर सखी भाव से ही भगवान् के मधुर प्रेम का आस्वादन क्यों उचित समझा इसका कारण दार्शनिक दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है। भक्तों के अनुसार राधा कृष्ण की आह्लादिका शक्ति स्वीकार की गई हैं। अतः आह्लादिका शक्ति के रमण से जिस अपूर्व प्रेम अथवा आनन्द की अभिव्यक्ति होती है वह अन्य व्यक्तियों के रमण द्वारा सम्भव नहीं है। और सखी भाव से भजन करने वाले भक्त इसी अपूर्व प्रेम का आस्वादन करते हैं। भक्तों की यह धारणा है कि रस-रूप भगवान् कृष्ण का अपनी आह्लादिका शक्ति राधा से केलि करना केवल प्रेम के प्रकाशनार्थ है अर्थात् इस प्रकार राधा-कृष्ण अव्यक्त प्रेम को व्यक्त रूप देकर उसे आस्वाद्य बनाते हैं। अतः उनके इस रमण को इन्द्रिय-सुख के हेतु समझना अनुचित है। स्वयं तो ये रस रूप हैं—इस कारण उनका स्वयं सुख प्राप्त करने की चेष्टा करना समझ में नहीं आता। इसलिए यही मानना पड़ता है कि राधा-कृष्ण का यह विहार भक्तों को प्रेम-रस आस्वादन कराने के लिए होता है। इसी आशय को श्रीकृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में इस प्रकार प्रकट

१. *Vaishnava Faith and Movement in Bengal* : Dr S. K. Dey Page 158

किया है—

राधिका हयेन कृष्णेर प्रणय विकार।
स्वरूप शक्ति-ह्लादिनी नाम यांहार॥
... ...
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषण॥[1]

इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की लीलाओं के दर्शन द्वारा आनन्द लाभ करना केवल लीलाओं के चिन्तन तथा भावन से ही सम्भव होता है। और चिन्तन के द्वारा केवल केलि-जनित आनन्द अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार एक और रति-केलि में निजी प्रतीति के अभाव और इन लीलाओं के चिन्तन तथा भावन से हमारा हृदय शुद्ध प्रेम से परिपूरित हो जाता है।

ब्रजमण्डल के कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय

माधुर्य्य भक्ति का विशेष प्रचार एवं प्रसार करने वाले ब्रजमण्डल के पाँच कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय हैं—निम्बार्क, गौड़ीय, वल्लभ, राधावल्लभ और हरिदासी। ब्रजभाषा का माधुर्य्य भक्ति परक साहित्य इन्हीं सम्प्रदायों के आश्रय में पल्लवित हुआ है। इन सम्प्रदायों से स्वतन्त्र अन्य भी कुछ इस प्रकार के ब्रजभाषा के कवि हो गए हैं जिनके काव्य का आधार विषय कृष्ण की मधुर लीलाओं का गान रहा है। किन्तु ऐसे कवियों की संख्या बहुत कम है। अतः हम सर्वप्रथम इन्हीं सम्प्रदायों के आधार पर माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप की चर्चा करेंगे।

ब्रजमण्डल के सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में उपासना का मात्र लक्ष्य भगवान् के मधुर प्रेम का आस्वादान स्वीकार किया गया है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वल्लभ सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों ने सखी भाव से राधा-कृष्ण की सेवा करते हुए उनकी मधुर-लीलाओं के दर्शन, चिन्तन तथा भावन को प्रमुख साधन माना है। गोपी भाव परक माधुर्य्य भक्ति को स्वीकार करने वाले वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तों ने राधा-कृष्ण की लीलाओं के साथ गोपी-कृष्ण की लीलाओं को भी ध्यान का विषय स्वीकर किया है। किन्तु इस प्रकार की भिन्नता होते हुए भी सखी भाव और गोपी भाव दोनों प्रकार के कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में उपास्य राधा-कृष्ण ही हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रजमण्डल के सभी सम्प्रदायों की उपासना में उपास्य राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का स्थान विशेष है।

---

१. आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद

उपास्य राधा कृष्ण के सम्बन्ध में उक्त सम्प्रदायों की अलग अलग मान्यताएँ हैं। कोई राधा को कृष्ण की स्वकीया, कोई परकीया और अन्य राधा-कृष्ण में इन दोनों भावों से निर्विशेष नित्य विहारी भाव स्वीकार करते हैं। उपास्य-सम्बन्ध में भेद होने के कारण इन सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। अतः ब्रज की माधुर्य्य भक्ति को समुचित रूप में समझने के लिए यहाँ सम्प्रदायानुसार राधा-कृष्ण के सम्बन्ध की चर्चा कर लेना आवश्यक है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण

आचार्य निम्बार्क ने अपने **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'**—इस श्लोक में राधा का कृष्ण के वाम भाग में विराजमान होना स्वीकार किया है। इस श्लोक की व्याख्या करते हुए हरिव्यासदेवाचार्य ने राधा को कृष्ण की 'पट्टमहिषी'[1] तथा आचार्य पुरुषोत्तम ने राधा को कृष्ण-पत्नी स्वीकार किया है।[2] अतः स्पष्ट है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार राधा-कृष्ण की स्वकीया हैं।

गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण

गौडीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने राधा को कृष्ण की परकीया माना है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' में स्वकीया-परकीया भाव पर विचार करते हुए अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है—

अतएव मधुर रस कहि तार नाम।
स्वकीय परकीय भावे द्विविध संस्थान॥
परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
ब्रज बिना ईहार अन्यत्र नाहि वास॥
ब्रजवधूगणेर-एई भाव निरवधि।
तारमध्य श्रीराधाय भावेर अवधि॥[3]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में स्वकीया की अपेक्षा परकीया भाव का महत्त्व अधिक है। अतः उन्होंने राधा को इसी भाव के अनुरूप चित्रित किया है।

---

१. अत्र वृन्दावननाथस्य कृष्णस्य वामांग स्थित्या श्रीराधायास्तत्पट्टमहिषीत्वं सूच्यते।
—सिद्धान्त कुसुमांजली

२. वामांग शब्द प्रयोगादस्या लक्ष्मीवत् पत्नीत्वम् अनपायित्वम् च दर्शितम्।
—वेदान्त रत्न मंजूषा

३. आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद।

कृष्णदास कविराज के अतिरिक्त रूपगोस्वामी आदि आचार्यों ने भी अपने संस्कृत ग्रन्थों में राधा को परकीया स्वीकार किया है। भक्ति-रस विवेचक तथा लीला परक ग्रन्थों में राधा का वर्णन कृष्ण की परकीया के रूप में हुआ है। रूपगोस्वामी ने अपने 'स्मरण मंगल' नामक स्तोत्र ग्रन्थ में राधा-कृष्ण की अष्टकालीन लीला का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'निकुँज में सोये हुए राधा-कृष्ण जब निशीथ काल में भी शय्या का त्याग नहीं करते तब सखियाँ जटिला (राधा की सास) के आने का संकेत कर दोनों को अपने-अपने घर जाने की प्रेरणा देती है।'[1] तात्पर्य यह है कि गौड़ीयों ने प्रेम-तीव्रता के आधार पर राधा को कृष्ण की परकीया के रूप में स्वीकार किया है।

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण

सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य वल्लभ ने राधा का अपने किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ में उल्लेख नहीं किया। किन्तु उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथ ने अपने 'शृंगार-मंडनम्' नामक ग्रन्थ में राधा को स्वकीया स्वीकार किया है और इसी रूप में उसका चित्रण इस ग्रन्थ के 'दशोल्लास प्रकरण' में किया गया है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने एक स्थान पर राधा के लिए 'स्वाधीनभर्तृका' शब्द का भी प्रयोग किया है जो कि उसके स्वकीया सम्बन्ध का स्पष्ट सूचक है।

इत्थं रमयति रमणे राधा स्वाधीनभर्तृका नाथम्।[2]

परकीया के रूप में गो० विट्ठलनाथ ने तथा उनके अनुकरण पर अष्ट-छाप के कवियों ने चन्द्रावली का चित्रण किया है।[3]

वल्लभ सम्प्रदाय के ब्रजभाषा के कवियों ने भी राधा का स्वकीया के रूप में वर्णन किया है। सूरदास ने तो रासलीला से पूर्व राधा-कृष्ण का परस्पर विवाह भी सम्पन्न करा दिया है—

जाकों ब्यास बरनत हैं रास।
है गंधर्व विवाह चित्त दे, सुनो विविध बिलास॥...॥[4]

---

१. दृष्टौ दृष्टौ तदात्वोदितरतिललितौ कक्खटीगीः सशंकौ।
राधाकृष्णौ सतृष्णावपि निज निज धाम्नाप्ततल्पौस्मरामि॥ श्लोक ३

२. शृङ्गारमंडन : दशोल्लास प्रकरण : षष्ठ उल्लास १६

३. तावद्विवलम्बमसद्विधुरमन्दमंच—
त्कांची कलापकलसिंजितमंजुगत्या।
गोवर्धनाद्रिशिरसश्चपलोत्तरीय—
श्चन्द्रावलीनिकटमागमदम्बुजाक्षः॥ शृङ्गारमंडन : दानलीला ८७

४. सूरसागर : सं० नन्ददुलारे वाजेपयी : पृष्ठ ६२६

परन्तु इतना होते हुए भी इन अष्टछाप के कवियों ने परकीया की प्रेम-तीव्रता को अवश्य स्वीकार किया है।

रसनि में जो उपपति रस आही।
रस की अवधि कहत कवि ताही ॥[1]

और इसी आधार पर सिद्धान्त रूप से राधा का स्वकीया भाव स्वीकार करते हुए भी गोपी-कृष्ण की सामान्य लीलाओं में इन्होंने कहीं-कहीं गोपियों के परकीया भाव का सुन्दर वर्णन किया है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण का परस्पर सम्बन्ध स्वकीया-परकीया भाव निर्विशिष्ट नित्य विहारी माना गया है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक गोस्वामी हितहरिवंश के अनुसार स्वकीया भाव के अनुसार स्वकीया भाव और परकीया भाव स्वतः पूर्ण नहीं हैं। वे प्रेम के एक-एक पक्ष को स्वतन्त्र रूप से सूचित करते हैं। जहाँ स्वकीया भाव में केवल मिलन है वहाँ परकीया भाव विरहपक्ष को लेकर चला है। स्वकीया व परकीया—इन दोनों भावों में से किसी में भी एक साथ मिलन और विरह की अनुभूति नहीं की जा सकती। इस कारण दोनों ही अपूर्ण एवं एकांगी हैं। इसके विपरीत स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्य विहारी सम्बन्ध में राधा और कृष्ण मिलन और वियोग के सुख की एक साथ अनुभूति करते हैं। यद्यपि वे परस्पर तन और मन से मिले रहते हैं, तथापि उनमें अतृप्ति की भावना सदा विद्यमान रहती है। यही अतृप्ति राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्वीकृत सूक्ष्म विरह है जिसकी चर्चा हम इसी अध्याय में आगे करेंगे।

अंग अंग सब मिलि रहै, मन सों मन अरुझात।
देखो अटपटि प्रेम गति, चित्त न कबहुँ अघात ॥[2]

गोस्वामी हितहरिवंश ने अपने इस नित्य विहार भाव के सिद्धान्त को सारस और चकई के संवाद रूप में कही गई दो कुंडलियों द्वारा स्पष्ट किया है। इनमें से सारस प्रिय-वियोग में भी जीवित रहने वाली चकई के प्रेम को अपूर्ण कहता है। क्योंकि उसके लिए मिलन-सुख ही सब कुछ है। इसी प्रकार प्रिय-वियोग में सारस का मरण देखकर वियोग को ही सर्वस्व मानने वाली चकई सारस के प्रेम को एकांगी मानती है। किन्तु गोस्वामी हितहरिवंश के

---

१. नन्ददास ग्रंथावली : सं० ब्रजरत्नदास : रूपमंजरी १५३।
२. ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : प्रीति चौबनी लीला।

अनुसार वास्तव में दोनों का प्रेम एकपक्षीय है।

सारसोक्ति—

चकई प्राण जु घट रहें पिय बिछुरंत निकज्ज ॥
सर अन्तर अरु काल निशि तरफ तेज घन गज्ज ॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुव वदत न आवै ॥
जल बिहून करि नैन भोर किंहि भाव बतावै ॥
(जै श्री) हित हरिवंश विचारि बादि अस कौन जु बकई ॥
सारस यह संदेह प्रान घट रहें जु चकई ॥

चकई की उक्ति—

सारस सर बिछुरंत को जों पलुसहै सरीर ॥
अगिनि अनंग जु तिय भखै तो जाने पर पीर ॥
तौ जाने पर पीर धीर धरि सकहि बज्र तन ॥
मरत सारसहिं फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन ॥
जै श्री हित हरिवंश विचारि 'प्रेम-विरहा' बिनु वा रस ॥
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जाने सारस ॥[1]

महाप्रभु हित हरिवंश के अनुसार नित्य विहार में ही संयोग और वियोग की अनूभूति एक साथ सम्भव है। अतः उन्होंने राधा-कृष्ण का नित्य विहारी सम्बन्ध स्वीकार किया है।

हरिदासी सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण

भगवत रसिक की निम्न कुंडली से इस सम्प्रदाय में स्वीकृत राधा-कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

कोउ सुकिया कोउ परकिया कलप किये मतवादि।
जोरी भगवत रसिक की नित्य अनन्त अनादि ॥
नित्य अनन्त अनादि लोक तें रीति विलक्षण।...॥[2]

इससे स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय में भी राधावल्लभ की भाँति राधा-कृष्ण का पारस्परिक सम्बन्ध नित्य विहारी भाव का है।

ब्रजमण्डल के विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में राधा-कृष्ण की परस्पर सम्बन्ध विषयक भिन्नता के अतिरिक्त इष्ट की स्वीकृति में भी भेद है। अर्थात् यद्यपि सभी सम्प्रदायों में माधुर्य्य भक्ति के आलम्बन होने के कारण राधा-

१. स्फुट वाणी : पद ५ और ६
२. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ८२

कृष्ण तथा उनकी लीलाएँ ही ध्येय हैं किन्तु किसी सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण अंशी और राधा अंश रूपा हैं और किसी सम्प्रदाय में राधा को 'परात्पर तत्त्व' स्वीकार किया गया है। तात्पर्य यह है कि किसी सम्प्रदाय में इष्ट कृष्ण हैं और किसी में राधा।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क ने यद्यपि अपनी दशश्लोकी में **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'** और **'स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्'** कहकर राधा का स्मरण किया है, तथापि आगे **'नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्'**—यह कहकर कृष्ण को ही इष्ट एव आराध्य स्थिर किया है। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के इस सम्प्रदाय के 'महावाणी' आदि ग्रन्थों में राधा को महत्त्व दिया गया है—किन्तु वह केवल युगप्रभाव के कारण है।

गौड़ीय सम्प्रदाय में भी राधा की प्रधानता स्वीकार नहीं की गई। वहाँ भक्ति का आलम्बन श्रीकृष्ण हैं। इसी तथ्य को रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है और जीवगोस्वामी ने उसी मत का विस्तार किया है। उन्होंने शक्ति और शक्तिमान् का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्य शक्ति माना है। राधा मादनाख्य भाव की स्थिति तक पहुँचने के कारण, ह्लादिनी शक्ति का रूप स्वीकार की गई हैं। पूर्णात्मा भगवान् कृष्ण ही हैं। राधा उनका अंशमात्र है जो भक्ति द्वारा स्वयं पूर्णात्मा में लीन होने की साधना करती है। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण से ऊपर स्थान नहीं मिला था। शनैः शनैः ब्रजमण्डल की राधा विषयक भावना का इस सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पड़ा। माधुर्य्य भाव का जो रूप शास्त्रीय था वह कालान्तर में स्थूल रूप में व्यावहारिक होता गया और इस सम्प्रदाय में राधा की प्रधानता भी बढ़ती गई।[1]

वल्लभ सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की स्थिति वही है जो उक्त सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। यहाँ राधा गोपियों में सर्वप्रमुख स्वीकार की गई है। **'ये गोपिकाएँ भगवान् की आनन्दप्रसारिणी सामर्थ्य शक्ति हैं। अतः राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्ध शक्ति हैं। सिद्ध शक्ति राधा और आनन्दस्वरूप कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी के समान है।'**[2] परन्तु रस की सिद्ध-शक्ति और गोपियों में प्रमुख होने पर भी राधा श्रीकृष्ण का अंश ही है। अंशी तो स्वयं भगवान् कृष्ण ही हैं।

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक पृष्ठ २०४-५

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त : पृष्ठ ५०५-६

राधावल्लभ सम्प्रदाय ही ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों मे से एक ऐसा सम्प्रदाय है जिसमें आरम्भ से ही राधा को इष्ट देवी के रूप में स्वीकार किया गया है। यहाँ 'रसो वै सः' की परावधि श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नहीं की गई। इस भाव की विवृति बड़े स्पष्ट शब्दों में श्री हितहरिवंश ने अपने 'राधासुधानिधि' में की है। वे कहते है कि जो मधुर एवं उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीलाकला की परावधि, श्रीकृष्ण की भी आराधनीया तथा अनिर्वचनीया तथा शासनकर्तृ है, जो ईश्वर रूप श्रीकृष्ण की शची तथा परम सुखमय तनु धारिणी, परा और स्वतन्त्रा है वे वृन्दावननाथ की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।[1] वैसे भी इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को 'परतत्त्व' न मानकर राधा को परतत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[2]

हरिदासी सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास ने अपने इष्ट के रूप में 'कुंजविहारी' का उल्लेख किया है। अतः स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय में भी कृष्ण का स्थान राधा से विशेष है। फिर भी इस विषय में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस सम्प्रदाय के रसिक भक्तों की वाणियों में इस प्रकार की उक्तियों का अभाव नहीं है, जिनसे राधा की महत्ता स्पष्ट सूचित होती है।

श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी।[3]

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति में मधुर रस के आलम्बन राधा-कृष्ण स्वीकार किये गये हैं। लीला में रस-रूप होने के कारण दोनों ही समान है किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से निम्बार्क, गौड़ीय, वल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण 'परात्पर तत्त्व' हैं और राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा। राधा और कृष्ण में परस्पर सम्बन्ध इन विभिन्न सम्प्रदायों में स्वकीया, परकीया और नित्य विहारी—इन तीन भावों का माना गया है। यद्यपि आज ब्रज में नित्य विहार की उपासना का विशेष प्रचलन होने के कारण राधा-कृष्ण के नित्य विहारी

---

१. प्रेम्णः सन्मुधुरोज्वलस्य हृदयंश्रृंगारलीलाकला
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुख तनुः शक्तिः स्वतंत्रा परा
श्री वृन्दाविननाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम ॥—राधासुधानिधि : श्लोक ७८

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक :पृष्ठ

३. भगवत रसिक की वाणी

भाव को प्रमुखता प्राप्त है—तथापि अन्य दो भावों—स्वकीया भाव और परकीया भाव का ब्रजमण्डल की माधुर्य्य भक्ति में अपना-अपना स्थान है। अतः नित्य विहारी भाव पुष्ट नित्य विहार की चर्चा करने से पूर्व इन दोनों भावों के स्वरूप को जान लेना असंगत न होगा।

स्वकीया भाव

स्वकीया शब्द से अभिप्राय है—अपनी स्त्री। शास्त्रविधि के अनुसार किए गए विवाह द्वारा जब एक स्त्री किसी पुरुष से दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध कर दी जाती है तब वह स्त्री उस पुरुष की स्वकीया मानी जाती है। स्वकीया की शास्त्रीय परिभाषा करते हुए रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनील मणि' में लिखा है—'जो स्त्री विधिपूर्वक एक पुरुष से विवाहित है, और जो अपने पति की इच्छाओं को पूर्ण करने में तत्पर रहकर पतिव्रत धर्म में स्थिर है—वही स्वकीया है।

करग्रहविधि प्राप्ताः पत्युरादेश तत्पराः।
पातिव्रत्यादविचलाः स्वकीयाः कथिता इह ॥[1]

पति-पत्नी सम्बन्ध का यह समाज-स्वीकृत रूप है। अतः इसे मधुर भाव की उपासना का मर्यादित रूप ही कहना चाहिए।

स्वकीया में वियोग की अपेक्षा संयोग के लिए अधिक स्थान है। संयोग पक्ष की प्रधानता के कारण स्वकीया-प्रेम में अधिक तीव्रता लक्षित नहीं होती। मनुष्य अपने स्वभावानुसार अप्राप्य की प्राप्ति में अधिक व्यग्रता प्रदर्शित करता है। जो वस्तु उसे प्राप्त है उसके लिए उसके मन में अधिक चाह नहीं रहती। इस 'चाह' के अभाव में उसका प्रेम सामान्य कोटि का रह जाता है और उसकी तीव्रता समाप्त हो जाती है। स्वकीया भाव में मधुर प्रेम को पुनः तीव्र करने का एक ही साधन है–मान। इस प्रकार तीव्र प्रेम का द्योतक न होने पर भी स्वकीया भाव समाज में आदृत है। क्योंकि इसमें मर्यादा सदा बनी रहती है और उच्छृंखलता के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसीलिए माधुर्य्य भक्ति-सम्प्रदायों में स्वकीया भाव को स्वीकार किया गया है।

परकीया भाव

परकीया का शाब्दिक अर्थ है दूसरे की स्त्री। काव्यशास्त्र के अनुसार परकीया वह स्त्री है जो इस लोक या परलोक का ध्यान छोड़कर उस पुरुष के प्रेम में लिप्त है जिसके साथ वह विधिपूर्वक विवाहित नहीं है।

---

१. हरिवल्लभा प्रकरण : पृष्ठ ४६

रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा ।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ताः ।।[1]

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि परकीया भाव का आधार केवल प्रेम है। समाज-मर्यादा एवं शास्त्र-विधि की ओर इस भाव में तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। इस कारण परकीया भाव प्रेम की तीव्रता का द्योतक होते हुए भी समाज में गर्हित भाव ही स्वीकार किया जाता है और अपनी उच्छृंखल वृत्ति की प्रधानता के कारण सामाजिक नियमों में विकृति लाने वाला घोषित किया जाता है। किन्तु भक्ति में शास्त्र-विधि की अपेक्षा प्रेम की तीव्रता को प्रधानता दी गई है। इस कारण वहाँ परकीया भाव को अत्युत्तम भाव के रूप में ग्रहण किया गया है। भक्ति-ग्रन्थों में राधा का परकीया रूप में वर्णन करने का मुख्य प्रयोजन प्रेमातिशय विधान कहा जाता है।[2]

परकीया भाव को उच्च भाव स्वीकार करने वाले वैष्णव आचार्यों ने भी इस भाव की स्थिति केवल राधा में स्वीकार की है तथा भक्तों को कृष्ण की तरह नहीं भक्त की तरह आचरण करने का आदेश दिया है।

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत् ।।
इत्येवं भक्ति शास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः ।।[3]

राधा-कृष्ण में इस भाव की स्वीकृति का कारण बताते हुए वे भागवत का निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि कृष्ण ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए यह देह धारण किया है और वे भक्त की भावनानुसार उसी प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं जिन्हें सुनकर भक्त तन्मयता को प्राप्त हो सके—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमाश्रितः ।
भजते तादृशीः क्रीड़ा या श्रुत्वा तत्परो भवेत् ।।[4]

श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक की टीका करते हुए परकीयावाद का समर्थन किया है। उनके अनुसार इस संसार में इस प्रकार के भी व्यक्ति हैं जो इन्द्रिय-भोगों में ही सुख प्राप्त करते हैं। इन मनुष्यों के मन को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भगवान् उनके भावानुकूल क्रीड़ा करते हैं। यही भगवान् के

१, उज्ज्वलनीलमणि : हरिवल्लभा प्रकरण पृष्ठ ५२

२. द्रष्टव्य उज्ज्वलनीलमणि रूपगोस्वामी : पृष्ठ ७५–९६ तक
और हरिभक्तिरसामृतसिन्धु–रूपगोस्वामी. पृष्ठ ४२७, पंचम लहरी।

३. उज्ज्वलनीलमणि : हरिवल्लभा प्रकरण : श्लोक २३

४. भागवत १०–३३–३७

परकीयावाद को स्वीकार करने का रहस्य है ।[1] इसी आधार पर रूपगोस्वामी आदि ने समाज में गर्हित माने जाने वाले परकीया भाव को कृष्ण के विषय में बुरा नहीं माना है ।

लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृत नायके ।।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणी ।।[2]

वैष्णवों में परकीया भाव का ग्रहण भक्तों में केवल प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए किया गया है । बहुत विघ्न उपस्थित होने पर भी राधा कृष्ण से मिलने के लिए चल पड़ती है । इस मिलन के लिए उसे कुल की लाज, जग की लाज, धर्म का भय आदि सब कुछ छोड़ना पड़ता है । तात्पर्य यह है कि भक्त के लिए राधा का परकीया भाव यह आदर्श स्थिर करता है कि वह सब कुछ छोड़ कर कृष्ण-प्रेम में अनुरक्त हो जाए । किन्तु शर्त यह है कि उसके प्रेम में सत्यता हो और शुद्धता हो । अन्ध-प्रेम भी भक्ति में स्पृहणीय नहीं है । वैष्णव धर्म में परकीया भाव को स्वीकार करने के अन्य भी कई कारण माने गए हैं, जिन्हें संक्षेप में हम नीचे दे रहे हैं ।[3]

१. प्लेटो के अनुसार यह मानव स्वभाव है कि वह प्राप्त वस्तुओं की अपेक्षा अप्राप्त वस्तुओं में अधिक सुख लेता है । अतः ये अप्राप्त वस्तुएं ही उस के प्रेम और इच्छाओं का लक्ष्य बनती हैं ।[4] इस कारण स्वकीया प्रेम जो प्राप्त है उसकी अपेक्षा परकीया प्रेम में आकर्षण विशेष है । इसके अतिरिक्त अनेक विघ्नों के कारण परकीया भाव में प्रेम की अत्यधिक तीव्रता देखी जाती है जिससे यह अत्यधिक आनन्ददायी प्रतीत होता है । इस कारण प्रेम के क्षेत्र में स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक उपयुक्त मानी गई है ।

२. समाज में पूर्वराग के रूप में परकीया भाव के लिए स्थान है । परकीया भाव जिस प्रकार अन्य विवाहिता स्त्री के साथ प्रेम करने में है, उसी प्रकार अविवाहिता एवं पितृपालिता कन्या से प्रेम करने में है । इस प्रकार विवाह से पूर्व के पारस्परिक प्रेम द्वारा विवाह अर्थात् स्वकीया भाव सम्भव होता है । इसलिये परकीयाभाव स्वकीया भाव का मूल कारण होने से सर्वथा उससे श्रेष्ठ है ।

---

१. शृंगाररसाकृष्टचेतसो बहिर्मुखान्यपि स्वपरानि कर्त्तुमिति भावः ।

२. उज्ज्वलनीलमणि : नायक भेद १८

३. इन कारणों में हमने मणीन्द्र मोहन बोस की पुस्तक *'Post Chaitanya Sahajia-Cult'* में दिये गये कारणों का ही उपयोग किया है । पृष्ठ ४६–५५

४. *Selection from Plato : Page 73*

३. स्वकीया भाव का प्रेम शुद्ध प्रेम नहीं माना जा सकता। वह तो प्रेम का आभास मात्र है।[1] स्वकीया प्रेम में सामाजिक बन्धन इतने दृढ़ होते हैं कि स्त्री चाहे अथवा न चाहे उसे शास्त्रों के भय, लोक-निन्दा आदि के कारण अपने विवाहित पति से प्रेम करना ही पड़ता है—अन्यथा धर्म की दृष्टि में उसे किसी प्रकार की सुगति प्राप्त नहीं हो सकती।[2] इसके विपरीत परकीया लोक-निन्दा, पाप-भय, इहलोक या परलोक में कुछ प्राप्त करने की इच्छा से विचलित न होकर अपने प्रिय का प्रेम प्राप्त करती है।[3] और यही प्रेम की तीव्रता का लक्षण है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी प्रेम की इस तीव्रता का उल्लेख किया है।[4] अतः प्रेम की इस तीव्रता के कारण परकीया भाव ही प्रेम के क्षेत्र में अधिक उपयुक्त माना गया है।

४. स्वकीया में समीपता के कारण नवीनता का अभाव है। और इसके विपरीत परकीया में दूर होने के कारण अधिक नवीनता एवं रमणीयता है।[5] काव्य-प्रकाश के **'यः कौमारहरः स एव हि वरः'**—इस श्लोक द्वारा यही सिद्ध होता है कि परकीया भाव तक ही आनन्द की अधिकता रहती है। उस के स्वकीया भाव में परिणत होने ही उसका समस्त आकर्षण समाप्त हो जाता है। क्योंकि वह फिर अपनी वस्तु हो जाती है।

५. भक्ति-शास्त्रकारों के अनुसार माधुर्य्य-प्रेम के पाँच रस है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें से शान्त रस की पहुँच केवल प्रेमावस्था तक है, दास्य की प्रेम की राग अवस्था तक, सख्य और वात्सल्य की अनुराग दशा तक किन्तु केवल मधुर रस ऐसा है जो भाव दशा तक पहुँचता

---

१. परकीया राग अति रसेर उल्लास।
स्वकीयाते राग नाई, कहिल आभास॥—रसरत्नाकर : पृष्ठ ६५

२. स्वकीयार धर्म येइ शुन ताहा कहि।
लोक वेद-धर्म्म भय पतिगति एहि॥—रससार : पृष्ठ १६

३. लोक वेद धर्म्म पुण्य ये नाहि मानय।
मन निष्ठे अन्य कान्ते करये प्रणय॥—वही : पृष्ठ १६

४. भक्ति यारे दाओ वहिते असीम प्रेमेर भार।
... ...।
ना थाके तार मान अपमान लज्जा सरस भय॥—गीतांजलि : पद ६७

५. प्रणय करह ताखे संगे न राखिबे।
एहि मोर मिनति प्रणति ये शुनिबे॥
संगेते राखिले हबे अनुरागहीन।
परकीया बहुदूरे, स्वकीय अधीन॥—विवर्त्त-विलास : पृष्ठ १५५

है। भाव के भी रूढ़ और अधिरूढ़ दो भेद है। इनमें रूढ़ अवस्था तक तो कृष्ण-महिषियाँ अर्थात् स्वकीया पहुँचती हैं और इससे आगे अधिरूढ़ दशा को केवल गोपियाँ प्राप्त होती हैं, जो परकीया मानी गई हैं।[1] यही भाव या महाभावावस्था प्रेम की चरम स्थिति है। जिस तक परकीया ही पहुँच पाती है स्वकीया नहीं।

६. 'विरह प्रेम का तप्त-स्वर्ण है'—इस सूक्ति के अनुसार प्रेम में विरह के कारण तीव्रता और शुद्धता आ जाती है। स्वकीया में जहाँ विरह के लिए बहुत कम स्थान है, वहाँ परकीया भाव मे प्रायः विरह ही विरह है। स्वकीया के मिलन में किसी प्रकार के मौके की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु दूसरी ओर परकीया अवस्था में सदा दैवयोग से मिलन होता है।[2] अतः परकीया भाव में विरह की सम्भावना अधिक है। स्वयं श्रीकृष्ण ने रास के समय जब गोपियों में स्वकीया भाव परक 'कृष्ण मेरे है'—इस भाव को प्रवेश करते देखा तो वे अन्तर्धान हो गये। इस वियोग से उनकी चेतना फिर लौट आई और कृष्ण के प्रति उनके प्रेम में फिर परकीया भाव की तीव्रता आ गई।[3]

७. इसके अतिरिक्त स्वकीया शास्त्र-सम्मत होने के कारण भोग के आधिक्य का कारण बन सकती है किन्तु परकीया भाव में सामाजिक नियमों के कारण इस प्रकार की स्वतन्त्रता के अभाव में भोग सीमित रहता है। और शास्त्रानुकूल होने के कारण स्वकीया भाव में यदि इन्द्रिय-सुख प्राप्ति के लिये सीमा का उल्लंघन भी किया जाय तो कोई पूछने वाला नहीं।[4] परकीया भाव

---

१. शान्तरसे शान्ति रति प्रेम पर्यन्त हय।
दास्यरति राग पर्यन्त क्रमेत बाढ़य॥
सख्य वात्सल्य पाय अनुराग सीमा।
... ...
रूढ अधिरूढ भाव केवल मधुर।
महिषीगणेर रूढ़, अधिरूढ़ गोपिका निकरे॥ चै०च० : मध्य लीला : तेईसवाँ परिच्छेद

२. धर्म्म छांडि रागे दूहें करये मिलन।
कभू मिले कभू ना मिले दैवेर घटन॥ चै०च० : आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद

३. पुनः अनुराग हइले कृष्ण देखा दिला।
अनुराग परकिया लागि रस लीला॥—विवर्त्त विलास : पृष्ठ १५५–५६

४. स्वकीया रमणी हरि संसारिया जने।
कामे उन्मत्त करे इन्द्रिय पोसने॥
निज देहे प्रीत करि शृंगार करय।
स्वकीया वेदेर उक्ति नाहि ताहे भय॥—रत्नसार : पृष्ठ ६

में मिलन के अवसर जब तब ही आते हैं। इसलिए यहाँ मिलन की इच्छा सदैव बनी रहती है। इस प्रकार परकीया भाव में प्रेम की तीव्रता अधिक समय तक रहती है।

इन विभिन्न कारणों से वैष्णवों में परकीया भाव को स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि इस भाव की सार्थकता तभी है जब वह प्रेम की तीव्रता और शुद्धता का प्रतीक हो। यदि अपने इन्द्रिय सुख की कामना इस भाव की स्वीकृति का कारण हो तो प्रेम की तीव्रता कुछ समय तक ही रहेगी। तदुपरान्त रूप के ह्रास के साथ इस तीव्रता में कमी आ जायेगी और ऐसी स्थिति में प्रेम की नित्यता जो भक्ति का मात्र साध्य है कभी नहीं आ सकती। इसलिये निजी-कामना-विवर्जित तत्सुखीभावापन्न परकीया भाव ही उज्ज्वल रस (मधुर प्रेम) के आस्वादन में सहायक हो सकता है। यही कारण है कि गोपियों में परकीया भाव के साथ-साथ तत्सुखी भाव का उत्कर्ष दिखाया गया है।

आत्मसुख दुःखे गोपीर नाहिक विचार।
कृष्णसुख हेतु चेष्टा मनोव्यवहार॥
कृष्ण लागि आर सब करि परित्याग।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥
एई देह केल आमि कृष्णे समर्पय।
तांर धन तांर एई सम्भोग साधन॥[1]

सहजिया सम्प्रदाय और परकीया भाव

वैष्णव सम्प्रदाय में स्वीकृत इस परकीयाभाव का प्रसार अन्य मतों में भी हुआ। इनमें परकीया भाव के विशेष पोषक सहजिया सम्प्रदाय के अनुयायी स्वीकार किये गये हैं। सहजिया सम्प्रदाय का परकीया भाव वैष्णव धर्म में स्वीकृत परकीया भाव से सर्वतोभावेन साम्य नहीं रखता। उनकी परकीया की कल्पना साधना परक होने से एक नवीन दिशा का संकेत देती है। तथापि परकीयात्व का मूल भाव उन्होंने वैष्णवों से ही ग्रहण किया है।

सहजिया वर्ग ने परकीया भावना को शारीरिक इन्द्रियों के संस्कार के लिए स्वीकार किया। इन्द्रिय वासना की तृप्ति इसका ध्येय बना। उनकी धारणा है कि शरीर के संस्कार द्वारा ही मन पर अधिकार पाया जा सकता है। साधक को अपनी इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये पहले शारीरिक

१. चै०च० : आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद

साधना करनी चाहिये। इन्होंने परकीया भाव की साधना के लिये देह को वृन्दावन माना है। वृन्दावन के भू-संस्थान को ये देह के रूपक में इस प्रकार घटाते हैं—वृन्दाकुंज स्तन हैं, तालवन सिर है, नासिका मदन कुंज है और देह रस का सरोवर है। इसी प्रकार के अनेकों रूपक इन्होंने शरीर की आध्यात्मिक व्याख्या करने के लिये बांधे हैं। श्री मणीन्द्र मोहन बोस ने अपने 'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट' नामक ग्रन्थ में सहजिया सम्प्रदाय की परकीया विषयक इस धारणा की विस्तार से चर्चा की है।[१]

सहजिया सम्प्रदाय में स्वीकृत जिस परकीया भाव की चर्चा हमने ऊपर की पंक्तियों में की है वह माधुर्य्य भक्ति के वैष्णव सम्प्रदायों में स्वीकृत परकीया भाव नहीं है। वैष्णव सम्प्रदाय में परकीया रूप में राधा की जो स्थिति है उसको अपनाने की कल्पना भी भक्त नहीं कर सकता और न ही यहाँ शारीरिक इन्द्रियों के संस्कार के लिए परकीया भाव स्वीकार किया गया है। भक्ति-ग्रन्थों के अनुसार परकीया प्रेम मनुष्य के हृदय में रति जागृत कर उसे निर्मल बनाता है। यह रति ही क्रमशः प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग की अवस्था में परिवर्तित होती हुई महाभाव की अवस्था तक पहुँचती है। जो कृष्ण-प्रेम की पूर्णावस्था स्वीकार की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सहजिया सम्प्रदाय और वैष्णवों में स्वीकृत परकीया भाव को एक कोटि में रखकर परखने की भूल कभी नही करनी चाहिये।

नित्य विहार

राधा-कृष्ण में स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्य विहारी सम्बन्ध स्वीकार करने वाले वैष्णव सम्प्रदायों के अनुसार राधा-कृष्ण सदा नित्य विहार में तल्लीन रहते हैं। इस अवस्था में वे एक ओर स्वकीया जनित मिलन सुख का और दूसरी ओर परकीया भाव जनित विरह सुख की अनुभूति एक साथ करते हैं। इसीलिए नित्य विहार में अनुभूत प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। भक्ति-ग्रन्थों में नित्य विहार जनित प्रेम को वृन्दावन-रस कहा गया है। माधुर्य्य भक्ति की चरम परिणति इसी रस में होती है और यही रस जीवात्मा का ध्येय है।[२]

नित्य विहार का प्रवर्तन सोहलवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ—यह

---

१. देखिए पृष्ठ २४-४३

२. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ १३२

बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। इसका प्रवर्तक कौन था यह निर्णय करना सहज नहीं है। यह सत्य है कि गोस्वामी हित हरिवंश ऐसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम नित्य विहार का सैद्धान्तिक विवेचन अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया। किन्तु इनके समकालीन तथा संगी और हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास ने भी अपने पदों में श्यामा-श्यामा के नित्य विहार का गान किया है। अतः यह सर्वथा सम्भव है कि एक की मधुर उपासना का प्रभाव दूसरे पर पड़ा हो। किन्तु यह निश्चित है कि दोनों ने एक साथ इस मधुर भाव की उपासना को पल्लवित किया। इस कारण वृन्दावन में नित्य विहार के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय दोनों को ही दिया जाना चाहिए। यद्यपि यह मान्यता कि आचार्य होने के कारण गोस्वामी हित हरिवंश को ही नित्य विहार का प्रवर्तक स्वीकार करना युक्ति संगत है[1]—ठीक है किन्तु इस मान्यता में साम्प्रदायिक संकीर्णता की गन्ध अवश्य बनी रहेगी।

नित्य विहार के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ध्रुवदास जी ने लिखा है—

न आदि न अन्त विहार करें दोउ, लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
है नई (नई) भाँति नई छबि कांति नई नवला नव नेह बिहारी॥
रहे मुह चाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्बस हारी।
रहें इक पास करें मृदुहास सुनो ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी॥[2]

इससे स्पष्ट है कि नित्य विहार से तात्पर्य उस विहार से है जिसका न आदि है और न अन्त है। सब समय, सब स्थान में और सभी कार्यों में उनका यह विहार चलता रहता है। स्नान, भोजन, शयन—इन सभी दशाओं में वे विहार में लीन रहते हैं। इसके रस से वे तृप्त ही नहीं होते। इसी कारण नित्य विहार जनित प्रेम-रस अकथनीय कहा गया है सभी अवस्थाओं में नित्य विहार की स्वीकृति इस बात की ओर संकेत करती है कि राधा-कृष्ण का विहार शारीरिक नहीं अपितु मानसिक होता है। इसी मानसिक विहार में वह तल्लीनता एवं भावना-ऐक्य सम्भव है जिसका संकेत ध्रुवदास ने **'लाल प्रिया में भई न चिन्हारी'** कहकर किया है।

रूप वेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम तमाल।
द्वै मन मिलि एके भये, श्री राधावल्लभ लाल॥[3]

---

१. वही : पृष्ठ २३६–३९
२. बयालीस लीला : भजन तृतीय शृंखला लीला : पृष्ठ ११४
३ ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : प्रेमावती लीला: पृष्ठ १७३

विहार से सुरत केलि के अतिरिक्त हास-परिहास आदि प्रेमाचित क्रीड़ाओं का भी अर्थ लिया जा सकता है। किन्तु इसमें यह आपत्ति उठती है कि हास-परिहास द्वारा प्रेम का आस्वादन तो सम्भव है किन्तु प्रेम की जो तीव्रता सुरत-व्यापार की एक हो जाने की भावना में लक्षित होती है वह हास-परिहास में नहीं। इसके अतिरिक्त लौकिक साम्य के आधार पर भी लौकिक आनन्द की चरम परिणति सुरत में दृष्टिगत होती है। हास-परिहास तो उसका आरम्भ मात्र है। और भक्तों ने भगवान् की लीलाओं का गायन लौकिक-साम्य पर किया है। अतः उन्होंने विहार को सुरत के ही अर्थ में स्वीकार किया होगा—ऐसा हमारा विचार है। लौकिक क्षेत्र में रति के बाद क्षय एवं विरति है। किन्तु भक्ति में विहार मानसिक होने के कारण नित्य है। अतः भक्ति का आनन्द भी नित्य सिद्ध होता है।

बिहारीदास जल-जन्तु ज्यों, जल बिन रहे न प्राण।
यही अर्थ समाझ (न) ले नित्यविहार निदान॥[1]

इस प्रकार राधा कृष्ण के विहार को मानसिक स्वीकार कर लेने पर जागृत और सुप्त दोनों अवस्थाओं में उसकी स्थिति सिद्ध हो जाती है। इसी स्थिति में बिना किसी बाह्य या आन्तरिक अन्तराय के उनकी केलि का चलते रहना स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वर्णन के लिए राधा-कृष्ण के विहार में उन सभी व्यापारों का वर्णन किया जाता है जो कि लौकिक रति-विलास में सम्भव होते हैं।

नित्य विहार विधायक तत्त्व

नित्य विहार के विधायक तत्त्व चार स्वीकार किये गये हैं—नित्यकिशोरी राधा, नित्यकिशोर कृष्ण, नित्य किशोरी सहचरी और नित्य धाम वृन्दाबन। इन चारों के समवेत रूप को ही नित्य विहार कहा जाता है। श्री लाड़िली दास ने 'सुधर्म बोधिनी' नामक ग्रन्थ में नित्य विहार के तत्त्वों का इस प्रकार वर्णन किया है—

गौर, श्याम, सहचरि, विपिन चार नाम मिलि एक।
श्री हरिवंश सरोज पद गहि अनन्य व्रत टेक॥[2]

ये चारों तत्त्व प्रेम रूप स्वीकार किये गये हैं। वृन्दावन की आनन्दमय भूमि में राधा-कृष्ण किशोर लीला का विस्तार करते हैं। इस मधुर-लीला

१. बिहारिनदेव की वाणी : दोहा १३१
२. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ १०

को सम्पन्न कराने वाली सहचरी हैं तथा इस मधुर लीला का दर्शन कर अपने को कृतार्थ करने वाली भी सहचरी हैं। इसके दर्शन तथा चिन्तन के द्वारा जिस प्रेम की अनुभूति सहचरी रूप जीवात्मा को होती है वही नित्य विहार की चरम परिणति है इसी कारण भगवत रसिक का यह कहना— **'भगवत नित्य विहार प्रेम उमगन रस सागर'** बिल्कुल सत्य है। इससे सिद्ध है कि नित्य विहार का प्रेरक तत्त्व प्रेम है, नित्य विहार के विधायक चारों तत्त्व प्रेम-रूप हैं और नित्य विहार की अन्तिम परिणति भी प्रेम में होती है। इसलिए नित्य विहार को प्रेममय अथवा रसपूर्ण यदि कहा जाता है तो उसमें कोई अत्युक्ति नहीं। नित्य विहार के इस मूल भाव प्रेम को सम्मुख रख कर ही साधक इस रूप की मधुर उपासना में सफल हो सकता है। प्रेम तत्त्व की इस महत्ता को देखते हुए नित्य विहार जनित प्रेम का स्वरूप यहाँ जान लेना अप्रासंगिक न होगा।

नित्य विहार परक प्रेम

राधा-कृष्ण के नित्य विहार के दर्शन तथा भावना से जिस प्रेम की अनुभूति होती है वह सर्वथा शुद्ध है। उसमें वासना की तनिक भी गन्ध नहीं है। यद्यपि नित्य विहार में काम परक सभी क्रियाएँ हैं फिर भी इसे यौन सम्बन्ध से उद्भूत वासना युक्त प्रेम नहीं स्वीकार किया जाता। यहाँ सकामता नहीं निष्कामता की प्रधानता होती है। इस प्रेम में किसी प्रकार के विनिमय की आकांक्षा नहीं होती। इस प्रेम का स्वरूप बताते हुए नारद कहते हैं— 'गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और केवल अनुवैकगम्य तथा सांसारिक प्रेम से पृथक कोटि का यह प्रेम है।'[१] इसी के आधार पर रसखान ने निम्न दोहों में प्रेम की व्याख्या की है—

बिनु जोबन गुण रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
रसमय स्वाभाविक, बिना स्वारथ अचल महान।
सदा एकरस बढ़त नित शुद्ध प्रेम रसखान॥

प्रेम की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी अखंड भावना है। वह आदि अन्त रहित प्रत्येक क्षण एक रस रहने वाला है। इसके विरोधी गुणों वाला

१. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवम् : नारद भक्ति सूत्र ५४

तत्त्व प्रेम नहीं है।

आदि अन्त जाको भयो, सो सब प्रेम न रूप।
आवत जात न जानिये, जैसे छांह (अ) रू धूप ॥[1]

तथा

छिनहीं चढे छिन उतरे, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसे, प्रेम कहावे सोय ॥

तात्पर्य यह है कि नित्य विहार व्यंजित प्रेम में शुद्धता है, नित्यता है और सरसता है। किन्तु इसमें एक अन्य विशेषता भी स्वीकार की गई है जिसके कारण यह सामान्य ईश्वरोन्मुख प्रेम से विलक्षण है। यह विशेषता नित्य विहार व्यंजित प्रेम का लोक में अनुभूत विरह और मान की भावना से रहित होना है।

सूक्ष्म विरह और मान

विरह और मान वास्तव में प्रेम को तीव्र रूप देने के साधन हैं। यह तथ्य नित्य विहार की उपासना में भी स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ विरह और मान को लौकिक एवं स्थूल रूप में स्वीकार नहीं किया गया। क्योंकि सिद्धान्ततः नित्य विहार व्यंजित प्रेम अति मधुर और परम विलक्षण है। उसमें मिलना बिछुड़ना कुछ नहीं, निरन्तर उसी मधुर रस में मग्न रहना है। यहाँ प्रेम को नित्य नूतन और आस्वाद्य बनाये रखने के लिए जिस विरह तथा मान को स्वीकार किया गया है वह है सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान। इस प्रकार के सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान संयुक्त प्रेम में प्रिया-प्रियतम (राधा-कृष्ण) एक पल भी एक दूसरे से वियुक्त नहीं रह सकते किन्तु साथ रहकर विरह सदृश अतृप्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से आनन्द एवं पुलकपूर्ण बने रहते हैं।

सूक्ष्म विरह और मान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ध्रुवदास जी लिखते हैं—**'जो कोउ कहै कि मान तो रस को पोषक है। अरु रुचि बढ़ावे सु यह प्रेम साधारण जानिबो इहाँ यों नांही। नित्य छिन छिन प्रीति रस सिन्धु में तरंग रुचि के उठत रहत हैं नये नये।..... जैसो जहाँ प्रेम है तैसो तहाँ विरह है। जहाँ स्थूल प्रेम। तहाँ स्थूल विरह। जहाँ सूक्ष्म प्रेम तहाँ सूक्ष्म विरह। जो कोउ कहै स्थूल कहा सूक्ष्म कहा। सूक्ष्म प्रेम यासो कहिये जो एक सेज पर रूप देखत चन्द चकोर ज्यों नैनांचल ओट भये महा कठिन दशा होइ। अरु देह**

१. ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : प्रीति चौवनी लीला : पृष्ठ ६४

हूँ न्यारी नहीं सह सकत यह भी विरह मानत हैं।'[1] और इस मत की पुष्टि उन्होंने बिहारिनदेव जी की इस उक्ति से की है—

तहाँ कछू न श्रम तम न गम विरह भ्रम।
मान लवलेश न प्रवेश न प्रसंगी ॥[2]

यद्यपि नित्य विहार परक इस सूक्ष्म विरह और मान को आरम्भ में राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय में ही ग्रहण किया गया था। किन्तु कालान्तर में निम्बार्क सम्प्रदाय में भी इसे स्वीकार कर लिया गया। श्री हरिव्यासदेव की यह उक्ति **'नीरे ही रहत निपट उर लागे तऊ अधीर अकुलात'**[3] नित्य विहार परक सूक्ष्म विरह को स्पष्ट सूचित करती है। इसी प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय के व्रजभाषा कवि माधुरीदास की वाणी में भी सूक्ष्म विरह और सूक्ष्म मान का वर्णन उपलब्ध हो जाता है। माधुरीदास के इस वर्णन से ये दोनों ही भाव बिल्कुल स्पष्ट हो जाते है—अतः हम यहाँ उन्हें उद्धृत करना आवश्यक समझते है।

नौका विहार के समय प्रिया-लाल (राधा-माधव) पास-पास बैठे हैं। इतने में एक भँवरा राधा के वदनारविन्द की ओर बढ़ता है। उसे अपने मुख की ओर आते हुए देख प्रिया जी व्याकुल हो उठती हैं। इस पर कृष्ण उसे लीला कमल द्वारा उड़ाकर प्रिया जी को सावधान करते हैं—

सावधान हूजे प्रिया, विकल होत केहि काज।
मधुसूदन तो गृह गयो, लीने संग समाज ॥[4]

किन्तु **'मधुसूदन तो गृह गयो'**—यह सुनते ही राधा मूर्च्छित हो जाती हैं। मधुसूदन कृष्ण का नाम है। और राधा उनसे एक क्षण भी वियुक्त नहीं रह सकतीं। उन्हें अपने इस भावावेश में इस बात का तनिक भी विचार नहीं आता कि मधुसूदन भँवरे का भी सूचक है। इस वर्णन में सूक्ष्म विरह को केवल अतृप्ति के रूप में न ग्रहण कर विरह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यही इसका सौंदर्य है। अन्य कवियों ने सूक्ष्म विरह से केवल अतृप्ति का भाव ही लिया है। इसी प्रकार मान-प्रसंग का भी सुन्दर ढंग से माधुरीदास ने वर्णन किया है। रास के समय अपने प्रियतम कृष्ण के वक्षस् पर विराजमान मणि में निज की परछाई देखकर राधा मान दशा को प्राप्त हो जाती हैं।

---

१. ध्रुवदास रचित बयालीस लीला : सिद्धान्त विचार लीला : पृष्ठ ५५-५६।
२. बिहारिनदेव की वाणी।
३. महावाणी : सहजसुख : पृष्ठ १५१।
४. माधुरी वाणी : वंशीवट माधुरी : दोहा २२७।

एक समै रस रास में, रसिक रसीली संग।
दामिनी ज्यों दमके दुरै, प्रिया पीय के अंक॥
निरखत निज प्रतिबिम्ब तन, मन संभ्रम में आनि।
उठनि उठी मन मान की, और त्रिया संग जानि॥[1]

भक्तों का यह सूक्ष्म विरह तथा मान का वर्णन उनकी भाव दशा के अनुकूल है किन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए इसमें कुछ सार नहीं है। उसके लिए तो यह एक खिलवाड़-मात्र है। पर हमें भक्तों की भावना को सम्मुख रखते हुए ही इन सिद्धान्तों पर विचार प्रकट करने चाहियें। भक्तों ने भी केवल सिद्धान्त के रूप में नित्य विहार परक प्रेम की विलक्षणता दिखाने के लिए इनका उल्लेख किया है। अन्यथा पदों में इस प्रकार का वर्णन विरल है। इसलिए नित्य विहार परक पदों के काव्य-सौंदर्य में किसी प्रकार का व्याघात नहीं आने पाया।

प्रेम और काम

ऊपर विहार का अर्थ स्पष्ट करते हुए हमने उसे सुरत-क्रीड़ा कहा था। वैसे भी नित्य विहार के वर्णन में कवियों ने उन सभी हाव-भावों का उल्लेख किया है जो लौकिक रति में लक्षित होते हैं। इस कारण दोनों को एक समझने की भूल हो सकती है। इसलिए दोनों के भेद को यहाँ समझ लेना आवश्यक है। काम में मनुष्य की प्रवृत्ति केवल स्व-सुख प्राप्ति की होती है। निज सुख की प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा कामी को सहन नहीं होती। किन्तु प्रेम में अपने सुख की ओर तनिक ध्यान नहीं होता—वहाँ प्रिय का सुख ही अपना सुख माना जाता है। इसीलिये प्रेम को कामना रहित, स्वार्थ रहित आदि विशेषणों से युक्त कहा गया है। जहाँ स्वार्थ-भावना आ गई वहाँ प्रेम की मधुरता कदापि नहीं जा सकती।

जब लगि द्वै मन बीच कछु, स्वारथ को हित होइ।
शुद्ध सुधा कैसे रहे, परे जो तामें तोइ॥[2]

प्रेम और काम के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए 'श्री चैतन्य चरितामृत' के लेखक कृष्णदास कविराज की यह उक्ति बड़ी सटीक और सुन्दर है—

---

१. वही : मान माधुरी : दोहा २ और ३।
२. ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ६४।

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार काम नाम ।
श्रीकृष्णेर प्रीति इच्छा तार प्रेम नाम ॥
अतएव काम प्रेमे बहोत अन्तर ।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर ॥[1]

तात्पर्य यह है कि काम और प्रेम का मूल अन्तर यही है कि जहाँ काम में स्वसुख की भावना प्रधान होती है वहाँ प्रेम में कृष्ण-सुख की । इस भावना के अन्तर के परिणामस्वरूप एक विरति तथा खेद उत्पन्न करने वाला है और दूसरा प्रेम, सुख तथा आनन्द देने वाला है । वैसे भी जैसा हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि काम जड़विषयक अनुराग है और प्रेम भगवद्विषयक अनुराग है ।[2] और जड़विषयक अनुराग अर्थात् काम मे आनन्द की प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है । वहाँ जिस सुख की हमें प्रतीति होती है वह सुख नही केवल सुख की भ्रान्ति है । गो० तुलसीदास की इन पंक्तियों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—

माधव जू ! मो सम मन्द न कोऊ ।
... ...
अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरे ।
निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धरे ॥[3]

फिर भी काम और प्रेम का मूल अन्तर अत्यधिक सूक्ष्म है । इस कारण नित्य विहार के साधक का काम की ओर झुक जाना सहज सम्भव है । इसी लिए बिहारिनदेव ने साधक को सावधान करते हुए कहा है—

कठिन प्रीति रस रीति है समुझि गहो मन माहिं ।
इक चकोर पावक चुगै, सबहिन को भख नाहिं ॥[4]

'समुझि गहो मन माहिं' से स्पष्ट है कि नित्य विहार की रसोपासना में प्रेम भाव की पूर्णता तक विचार एवं विवेक को नित्य साथ रखना पड़ता है । इसके अभाव में साधक अपनी साधना में सफल नहीं हो सकता । ऐसी अवस्था में उसका पथ भ्रष्ट हो जाना सर्वथा सम्भव है । विवेकहीन रसोपासना के परिणाम की ओर भगवत रसिक ने अपने निम्न दोहे में, संकेत किया है—

---

१. आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद ।
२. मध्यकालीन धर्म साधना : पृष्ठ २१३ ।
३. विनय पत्रिका : पद ९२ ।
४. बिहारिनदेव की वाणी : दोहा ३९६ ।

जो कछु करो सो समुझि के, बिनु समुझें करि नाहिं ।
बिनु समझें जिन जिन करी, परे अन्ध तम माहिं ॥[1]

संक्षेप में काम और प्रेम के अन्तर को हम श्री वल्लभ रसिक की इन पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं—**'काम रूप बिन प्रेम न होई । काम रूप जहाँ प्रेम न सोई ।'** अर्थात् प्रेम के लिए कामना की आवश्यकता है और प्रेम हो जाने पर कामना का न होना ही श्रेयस्कर है । तात्पर्य यह है कि जब तक मन की समस्त कामना किसी के प्रति पूर्ण शक्ति के साथ नहीं लगती तब तक प्रेम कैसे होगा । और जब प्रेम हो गया तो निज सुख की कामना नहीं रहनी चाहिए । इस प्रकार तत्सुखी भाव ही प्रेम की उत्कृष्टता का मूल कारण सिद्ध होता है ।

तत्सुखी भाव

स्वयं देवर्षि नारद ने काम और प्रेम के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि यौन सम्बन्ध उद्भूत कामेच्छा परक प्रेम में **'तत्सुखे सुखित्वं'** की भावना का सर्वथा अभाव होता है ।[2] किन्तु नित्य विहार में 'तत्सुखी भाव' ही सब कुछ है । ध्रुवदास जी ने इस विषय पर विचार करते हुए लिखा है—**'सहज प्रेम के रस में दोउ मत्त रहत हैं । एक रस सनेह की रीति ऐसी है जो सनेही को सुख चाहे अपनी चाह कछु नहीं । श्री प्रिया जी विलास करें सब लाल जू को हेत और लाल जी जामें लाड़िली जी सुख पावें, सोई करें अपनी चाह कछु नहीं'**[3] । दूसरी ओर सहचरियाँ भी प्रिया-प्रियतम (राधा-कृष्ण) की रुचि देखकर उनकी सेवा करती हैं । इस प्रकार सभी अन्योन्य की प्रसन्नता में संलग्न रहते हैं । तत्सुखी भाव की महत्ता मनोवैज्ञानिक आधार पर भी समझी जा सकती है ।

मनुष्य अपने सुखों की ओर जितना अधिक ध्यान देता है उसकी मनोवृत्ति उतनी अधिक संकुचित होती जाती है । इसके विरीत जितना ही वह दूसरों के सुख के लिए सोचता है उतना उसका हृदय विस्तृत होता है । और हृदय का संकुचन ही दुःख है तथा हृदय का विस्तार ही सुख है । जगत् में प्रायः देखा गया है कि जो व्यक्ति अपने आपमें सीमित है, उसके मन में दूसरे के लिए धीरे-धीरे घृणा उत्पन्न हो जाती है । वह दूसरों में सदा

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ७ ।
२. 'नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखे सुखित्वम्' : भक्ति-सूत्र २४
३. बयालीस लीला: विचार लीला : पृष्ठ ४८

दोष ही दोष देखता है। परिणामतः उसे प्रतीत होता है कि मेरा साथी कोई नहीं है और यही सबसे अधिक दुःखमय स्थिति है जो व्यक्ति को आत्म-हत्या तक के लिए प्रेरित कर देती है। इसीलिए भारतीय विचारकों ने सुख के उपर्युक्त तथ्य को—

अयं निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अथवा

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेद्॥

आदि श्लोकों द्वारा अभिव्यक्त किया है। वास्तव में भारतीय दर्शन का आधार भित्ति यही सूत्र है। हिन्दू धर्म की सभी—सनातन धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि शाखाओं में इसी पर सुख की भावना को ही सुख-शान्ति प्राप्त करने का आधार स्वीकार किया गया है।

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य को सम्मुख रखते हुए तत्सुखीभाव की महिमा का गान रसिक भक्तों ने अपने वाणी-ग्रन्थों में किया है। उनकी यह दृढ़ धारणा है कि इष्ट को वही भक्त प्रिय है जिसने तत्सुखी भाव को अपना लिया है।

जे जन ततसुख सुखी, ते संतत सुख पात।
किसोरदास अपसुख सुखी, ते न इष्ट मन भात॥[1]

रसोपासना में विधि निषेध

माधुर्य्य भक्ति के सभी ब्रजमण्डलीय सम्प्रदायों में शास्त्रीय विधि-विधानों का महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया। यहाँ प्रेम की तीव्रता पर अधिक बल दिया गया है। यदि ईश्वर-प्रेम में शास्त्रीय विधि-विधान बाधक सिद्ध होते हैं तो उनका त्याग भी इन रसोपासकों ने श्रेयस्कर माना है। देवर्षि नारद ने अपने ग्यारहवें भक्ति-सूत्र में यह कह कर—**'लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता'** इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। मधुर भाव के उपासकों ने विधि-मर्यादा के त्याग का आदर्श गोपियों में माना है, जिन्होंने लोक, वेद और देह-धर्म का त्याग करके भी कृष्ण से प्रेम किया था।

लोक धर्म, वेद धर्म, देह धर्म कर्म।
लज्जा, धैर्य, देह सुख, अल्प सुख मर्म॥

---

१. सिद्धान्त रत्नाकर : स० विश्वेश्वर शरण : सिद्धान्त सरोवर : पृष्ठ ९

... ...

सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन ॥[1]

किन्तु इस प्रकार से शास्त्र-विधि के त्याग करने में प्रेम की तीव्रता और भगवान् को प्रसन्न करने की भावना परम आवश्यक है। अन्यथा देवर्षि नारद के ही शब्दों में 'पतन की सम्भावना है।'[2]

सामान्य रूप से कर्म चार प्रकार के स्वीकार किए गए हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य (सकाम) और निषिद्ध। इनमें से मद्य-माँस-सेवन, चोरी, व्यभिचार आदि निषिद्ध कर्म तो सभी के लिए त्याज्य हैं। काम्य (सकाम) कर्म बन्धनकारक तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में डालने वाले होने के कारण **'काम्यानां कर्मणां न्यासम्'**—इस भगवद्वचनानुसार त्याज्य हैं। अन्य नित्य और नैमित्तिक कर्मों को लौकिक और वैदिक विधि के अनुसार फलासक्ति छोड़कर केवल भगवान् के प्रीत्यर्थ करना चाहिए।[3] तात्पर्य यह है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म केवल भगवान् की प्रसन्नता और भक्त में प्रेम की तीव्रता बढ़ाने के साधन मात्र हैं। गोपियों में भगवान् को सब प्रकार से प्रसन्न करने की भावना दृढ़ थी और इसी भावना की पुष्टि के लिए उन्होंने लोक और वेद की मर्यादा का परित्याग किया। किन्तु गोपियों की अवस्था सिद्धावस्था थी। अतः साधनकाल तक इन साधनों की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। गोस्वामी हितहरिवंश के इस श्लोक में—

लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंखचक्रादिकं
विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसी मालिकां दधति कण्ठपीठे न वा
गुरोर्भजन विक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः ॥[4]

विधि-विधानों की अनावश्यकता अवश्य लक्षित होती है, किन्तु वह उन्हीं के लिए जिन्होंने भजन द्वारा सिद्ध-दशा को प्राप्त कर लिया है। भजन की तीव्रता में भक्त का हृदय श्यामा-श्याम की विहार-स्थली बन जाता है। वह सदा भजन में ही लीन रहता है। अतः वहाँ विधि-निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

१. चै. च. : आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद : पृष्ठ १०२
२. 'अन्यथा पातित्याशकया।' भक्ति सूत्र १३
३. प्रेम दर्शन : हनुमान प्रसाद पोद्दार : पृष्ठ ३६
४. राधासुधानिधि : श्लोक ८१

काया कुंज निकुंज मन, नैन द्वार अभिराम ।
भगवत हृदय सरोज सुख बिलसत श्यामा श्याम ।।[1]

ऐसी स्थिति में पहुँच कर जाति, वर्ण, कुल, धर्म आदि सभी का बन्धन स्वतः शिथिल हो जाता है। और जब तक यह स्थिति नहीं पहुँचती तब तक वेद-विधि का त्याग हितकर नहीं है। वास्तविक प्रेमी में प्रदर्शन की भावना नहीं होती। वह अपने प्रेम में मग्न आवश्यक कर्मों को सहज भाव से करता जाता है। उसके इस प्रकार सहज भाव से किए गए कर्मों में वेद-विधियों का अक्षरशः पालन नहीं होता। और वास्तविकता तो यह है कि उसके वेद, शास्त्र आदि सभी कुछ रसिकों की वाणियाँ हैं।

युगल मंत्र को जाप वेद रसिकन की बानी।[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि रसोपासना में लौकिक तथा वैदिक विधि-विधानों को त्याज्य अवश्य स्वीकार किया गया है, किन्तु उसकी भी सीमा है। वह केवल स्वेच्छाचार नहीं कहा जा सकता। उनके त्याग का मात्र कारण यह है कि इस प्रकार बन्धन मुक्त होकर प्रेम अधिक दृढ़ और तीव्र हो सके। प्रेम की तीव्रता से ही इष्ट के चरणों में आत्मविसर्जन का भाव आना सम्भव है जिसके अभाव में रसोपासना में प्रेम-रस की अनुभूति नहीं हो सकती।

ब्रजमण्डलीय माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप

ऊपर जिस स्वकीया भाव, परकीया भाव, नित्य विहार तथा उससे व्यंजित प्रेम, प्रेम और काम, तत्सुखी भाव आदि का विवेचन किया गया है उसी के आधार पर ब्रजमण्डलीय माधुर्य भक्ति का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। तदनुसार माधुर्य्य भक्ति से तात्पर्य उस उपासना से है जिसमें प्रिया-प्रियतम रूप में राधा-कृष्ण का सम्बन्ध लौकिक (स्वकीया वा परकीया भाव) अथवा लोकेतर (नित्य विहारी भाव) आधार पर स्थापित करके भक्त उनकी सखी रूप में सेवा करते हुए उनकी मधुर-लीलाओं का दर्शन करता है। इन मधुर-लीलाओं में पूर्वराग, सुरत, मान, विरह, होली, झूलन रास, जल-क्रीड़ा आदि सभी लीलाएँ सम्मिलित हैं। सखी भाव परायण भक्त इन मधुर-लीलाओं का दर्शन करके उन्हीं में अपने को मग्न कर देते हैं। इस प्रकार उन लीलाओं के चिन्तन तथा भावन के द्वारा भक्त को उन मधुर-लीलाओं द्वारा व्यंजित प्रेम की अनुभूति होती है। ज्यों ज्यों यह अनुभूति तीव्र से तीव्रतर होती जाती है भक्त अपनी देह-सुधि भूलकर प्रेम दशा को प्राप्त

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ २८
२. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ४३

होता है। इस प्रेम दशा में उसे उसी अखंड आनन्द का अनुभव होता है जिसका अनुभव ज्ञानी को आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा में होता है। यही दशा लाभ करना प्रत्येक रसिक भक्त की रसोपासना का मात्र लक्ष्य है।

माधुर्य्य भक्ति का दार्शनिक आधार

दार्शनिक दृष्टि से माधुर्य्य भक्ति का एक निश्चित आधार है, जिसे सम्मुख रखते हुए इस भक्ति का अवलम्ब ग्रहण करने वाले रसिक भक्त अपने साधना-मार्ग में अग्रसर होते है। यह आधार है प्रेम का। इसी प्रेम को प्राप्त करना प्रत्येक रसिक भक्त का मात्र लक्ष्य है। जिस प्रकार **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** के सिद्धान्त को स्वीकार करने वाला ज्ञान-मार्गी अपने को अन्ततः ब्रह्म में लीन कर देना चाहता है, उसी प्रकार माधुर्य्य भक्ति का आश्रय ग्रहण करने वाले भक्त का उद्देश्य अपने को प्रेम में ही तन्मय कर देना है। दोनों निजी अस्तित्व मिटाकर अपने प्राप्य में लीन हो जाना चाहते हैं। एक की यह आत्म-विलयावस्था ज्ञानदशा कहलाती है और रसिक भक्त की यह स्थिति प्रेम दशा मानी गई है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य्य भक्ति का मूलाधार प्रेम है और इसी आधार पर माधुर्य्य भक्ति का दर्शन रस दर्शन एवं प्रेम दर्शन कहा जा सकता है।

सूरदास आदि रसिक-भक्तों के पदों में राधा-कृष्ण की जिन मधुर-लीलाओं का गायन किया गया है वह अपने बाह्य रूप में लौकिक रति-लीलाएँ ही प्रतीत होती हैं। किन्तु वास्तव में इन लीलाओं के गान का उद्देश्य प्रेम की अभिव्यंजना है। रसिक भक्त अपने अन्तर्मन में राधा-कृष्ण की इन मधुर-लीलाओं के माध्यम से जिस प्रेम-रस की अनुभूति करता है उसी की अभिव्यक्ति वह भाव विभोर हो अपने पदों में कर देता है। इस कारण उसके पदों की मूल भावना को उसके अवचेतन मन में ग्रन्थि रूप में स्थित कुण्ठित वासना का परिणाम मानना भक्त की भावना की अवहेलना करना है।[1] अतः हमें इन मधुर-लालाओं के गान का आधार प्रेम दर्शन ही स्वीकार करना चाहिए।

प्रेम केवल माधुर्य्य भक्ति का नहीं वरन् सामान्य भक्ति का मूलाधार है। इसी कारण भक्ति के आचार्यों ने भक्ति को प्रेमरूपा कहा है। वैसे धात्वर्थ (भज्-सेवायाम्) की दृष्टि से भक्ति का अर्थ किसी का आश्रय लेना है। किन्तु धीरे-धीरे अर्थ विकास के कारण भक्ति शब्द का प्रयोग किसी का

१. भक्त की भक्ति-भावना पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन हमने इसी अध्याय में आगे किया है।

आश्रय लेना और उसे चाहने लगना—इन अर्थों में होने लगा। कालान्तर में चाहने लगना अर्थात् स्नेह करना—यह भावना प्रधान होती गई और फिर स्नेह के अर्थों में भी भक्ति शब्द का प्रयोग होने लगा।[1] महर्षि शाण्डिल्य तथा देवर्षि नारद ने अपने भक्ति-सूत्रों में भक्ति की परिभाषा और स्वरूप-वर्णन करते हुए उसके इसी प्रेम रूप को प्रकाश में लाने की चेष्टा की है।

भक्ति और ज्ञान आदि साधन

प्रेमरूपा होने के कारण ही भक्ति ईश्वर-प्राप्ति के अन्य ज्ञानादि साधनों में सर्वश्रेष्ठ स्वीकार की गई है। ये सभी साधन भक्ति की अपेक्षा रखते हैं। अतः वह अंगी है और अन्य सभी साधन उसके अंग हैं। इसी आधार पर भक्ति को मुख्य कहा गया है।[2] साधन-क्रम की दृष्टि से भी यदि विचार किया जाय तो ज्ञान हो जाने के उपरान्त भक्ति की प्राप्ति होती है। ऊपर विवेक-युत भक्ति की चर्चा से हमारा यही अभिप्राय था। तात्पर्य यह है कि ज्ञान केवल साधन है और भक्ति उसका फल है। संसार में भी यही देखने में आता है कि व्यक्ति के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हो जाने पर ही उससे प्रेम होता है।[3] इसी लिए देवर्षि नारद ने भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से श्रेष्ठ कहा है।[4] गो० तुलसीदास की निम्न पंक्तियों से भी यही आशय निकलता है—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग विराग ग्यान निपुनाई।
नाना कर्म धर्म व्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई।
जँह लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥[5]

इसीलिए भक्त्याचार्यों का निर्देश है कि मुक्ति की इच्छा वाले प्राणी को भक्ति का ही विशेष रूप से आश्रय लेना चाहिए।

मधुर भाव की भक्ति में प्रेम-तीव्रता

प्रेमरूपा भक्ति भाव-भिन्नता के कारण दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन विभिन्न रूपों की मानी गई है। भगवत्प्रेम की प्राप्ति में सूरदास के इस सूत्र के अनुसार **'भजै जिहिं भाव जो, मिलैं हरि ताहि त्यों'**—सभी

---

१. दृष्टव्य-वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास : दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री : पृष्ठ ३१–३२
२. 'सा मुख्येतरापेक्षित्वात्।' शाण्डिल्य भक्ति सूत्र १०।
३. 'दृष्टत्वाच्च'। शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र १३।
४. 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' —नारद भक्ति सूत्र २५।
५. रामचरितमानस : उत्तरकाण्ड, दोहा १२६।

भावों से हो सकती है। किन्तु रसिक भक्तों के अनुसार माधर्य्य भक्ति का प्रेम तीव्रतम है।

तटस्थ हइया मने विचार यदि करि।
सब रस हैते शृंगार अधिक माधुरी ॥[1]

इसका कारण यह है कि आत्मीयता की भावना जितनी तीव्र इस भाव की भक्ति में होती है—उतनी अन्य भावों की भक्ति में नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेम तो भक्ति-मात्र का साध्य है किन्तु माधुर्य्य भक्ति में उसका सर्वोत्कृष्ट रूप प्रकट हुआ है। अतः माधुर्य्य भक्ति का दार्शनिक आधार प्रेम ही सिद्ध होता है। रसिक भक्तों ने भी इस तथ्य की ओर अपनी वाणियों में संकेत किए है। माधुर्य्य भक्ति परक नित्य विहार के विधायक तत्त्व—राधा, कृष्ण, सहचरी और वृन्दावन धाम इन रसिक भक्तो की दृष्टि में प्रेम रूप हैं। ये चारों तत्त्व स्वतः प्रेम-पूर्ण हैं और इनकी सभी लीलाएँ प्रेम की प्रेरणा से घटित होती है—

प्रेम नचावत नचत सब, जँह लौं धामी धाम।
सो नाचत हित नाम बस, सेवक चित विश्राम ॥[2]

तात्पर्य यह है कि रस-लीलाओं में प्रिया-प्रियतम स्वतः प्रवृत्त नहीं होते। वे तो प्रेमराज के खिलौना मात्र है। जिस प्रकार की प्रेरणा उन्हे होती है वैसा ही खेल वे खेलते हैं। अतः इस दशा में उनकी ये रस-क्रीड़ाएं निजी सुख के लिए की गई क्रीड़ाएँ नहीं कही जा सकतीं। ध्रुवदास के निम्न दोहे से भी यही भाव निकलता है कि मधुर-लीलाओं का प्रेरक तत्त्व रस अर्थात् प्रेम है—

नाइक तहाँ न नाइका, रस करवावत खेलि।
सखी उभै संगम सरस, पियत नैन पुट झेलि ॥[3]

माधुर्य्य भक्ति में एकत्व

माधुर्य्य भक्ति में रसिक भक्त प्रेम रूप राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का दर्शन एवं भावन करके स्वयं प्रेममय होना चाहता है। इस प्रकार उपास्य, उपासना और उपासक—इन तीनों की एकता ही मधुर उपासना से सिद्ध होती है और दर्शन भी एकत्व का प्रतिपादक है। यह एकत्व की स्थिति प्रेम दशा कहलाती है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। इस एकत्व रूप प्रेम-दशा

१. चै. च. : आदि लीला : चतुर्थ परिच्छेद।
२. सुधर्म बोधिनी : लाड़िलीदास : पृष्ठ ८।
३. बयालीस लीला : रति मंजरी लीला : पृष्ठ २१६।

को जिस भक्त ने प्राप्त कर लिया है वही वास्तविक अर्थ में रसिक है—

जीव ईश मिलि दोय, नाम रूप गुण परिहरे।
रसिक कहावे सोय, ज्यों जल घोरें शर्करा ॥[1]

प्रेम दशा में प्राप्त इस एकत्व की स्थिति को विभिन्न अद्वैत परक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का भी प्रयत्न इन रसिक भक्तों की वाणियों में लक्षित होता है—

जल तरंग भूषण कनक, घट माँटी पट तंत।
खेल खिलाड़ी यों सदा, ओत प्रोत लसंत ॥[2]

राधा-कृष्ण की प्रेम-रूपता

राधा और कृष्ण को प्रेम-रूप स्वीकार करने का आधार भी दार्शनिक है। कृष्ण तो यहां वही परम पुरुष स्वीकार किए गए हैं जिनके लिए उपनिषदों में **'रसो वै सः'** आदि पदावली का प्रयोग हुआ है। और राधा इन्हीं कृष्ण की आह्लादिका शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद स्वीकार किया गया है—इसलिए राधा और कृष्ण दोनों रस-रूप सिद्ध होते है। इसी कारण उन्हें प्रेम से अभिन्न कहा जा सकता है—

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै में लसै, ज्यों सूरज अरु धूप ॥[3]

तात्पर्य यह है कि राधा और कृष्ण तथा उनकी मधुर-लीलाओं की प्रेममयता के आधार पर माधुर्य्य भक्ति का दार्शनिक आधार प्रेम सर्वथा संगत है। रसिक भक्तों की राधा-कृष्ण की मधुर-लीला परक पदावली इसी दार्शनिक आधार पर स्थित है। उसे केवल कुण्ठित वासना मानना बिल्कुल उचित नहीं है। इन पदों के द्वारा राधा-कृष्ण के प्रेम-रूप को ही स्पष्ट करने की चेष्टा भक्तों ने की है। यह सत्य है कि इन प्रेम लीलाओं की अभिव्यक्ति का आधार, चाहे वे अपने किसी भी रूप में (दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर) क्यों न हों, सर्वथा लौकिक रहा है। किन्तु इससे इन लीलाओं का मूल्य बढ़ता ही है कम नहीं होता। क्योंकि आत्मीयता की भावना के लिए लौकिकता की अपेक्षा है। अलौकिकता में तो ऐश्वर्य का निवास है। अतः राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का लौकिकता के अनुरूप गायन सर्वथा उचित है। अन्यथा इन लीलाओं में उतनी मधुरता तथा रसास्वादन क्षमता कदापि न आ पाती जो

---

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ २७।
२. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ १४।
३. हनुमान प्रसाद पोद्दार लिखित 'गोपी-प्रेम' के पृष्ठ १२ से उद्धृत।

अब लक्षित होती है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि राधा और कृष्ण तथा उनकी लीलाएँ प्रेममय हैं। भक्त इन लीलाओं का ध्यान एवं मनन केवल प्रेम-तत्त्व को प्राप्त करने के लिए करता है। और फिर बिहारिनदेव के **'सिद्ध भये साधन बिसरायो'**—इस सूत्र के अनुसार प्रेम दशा को प्राप्त कर राधा-कृष्ण के प्रेम रूप में ही मग्न हो जाता है। यही उसकी आत्म-विस्मृति की दशा है। जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था में ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है उसी प्रकार प्रेम दशा में भी प्रेम ही प्रेम शेष रह जाता है। यही रसोपासना या मधुर भाव की उपासना का वास्तविक स्वरूप है।

प्रेम के खिलाना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल
प्रेम फूल फूलनि सों प्रेम सेज रची है।
प्रेम ही की चितवनि मुसिकनि प्रेम ही की
प्रेम रंगी बातें करें प्रेम केलि मची है।
प्रेम के तरंगनि में प्रीतम परे हैं दोऊ
प्रेम प्यार भार प्यारी पिय हिय लची है।
हित ध्रुव प्रेम भरी प्यारी सखी देखे खरी,
हित चितवनि छबि आनि उर सची है॥[1]

प्रेम का स्वरूप

रसोपासना के दार्शनिक आधार रूप में स्वीकृत प्रेम की संक्षेप से चर्चा हम प्रसंगानुसार ऊपर कर आये हैं—किन्तु महत्त्व की दृष्टि से उस पर अधिक विशद रूप से विचार करना आवश्यक है। प्रेम के स्वरूप का वर्णन यद्यपि सभी आचार्यों तथा भक्तों ने अपनी-अपनी बुद्धि अनुसार किया है, किन्तु इस विषय में सभी एक मत हैं कि प्रेम 'अनिर्वचनीय' है।[2] गोस्वामी तुलसीदास की निम्न पंक्तियों से भी यही भाव सूचित होता है—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा॥
सो मनु सदा रहत तो पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

वास्तव में प्रेम के विषय में प्रेमी ही जानते हैं। अन्य व्यक्ति उनके मन की दशा का वर्णन किसी प्रकार नहीं कर सकता। स्वयं प्रेमी भी अपने प्रेम की दशा का अनुभव ही कर सकता है, उसका वर्णन नहीं कर पाता। उसकी दशा उस गूँगे के समान होती है जो गुड़ का स्वाद चखता है और मुस्करा

---

१. ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : भजनतृतीय शृंखला : पृष्ठ १२०
२. **'अनिर्वचनीयं प्रेम-स्वरूपं'। नारद भक्ति-सूत्र ५१**

देता है, पर उसका स्वाद बताने में असमर्थ है। फिर प्रेम का तो कोई रंग नहीं रूप नहीं—अतः उसका वर्णन कैसे सम्भव है। किन्तु यह सब होते हुए भी प्रेम तत्त्व को समझाने की चेष्टा भक्तों और भक्ताचार्यों—दोनों ने की है।

रूपगोस्वामी ने उज्ज्वलनीलमणि में प्रेम की परिभाषा करते हुए कहा है—'ध्वंस का कारण वर्तमान होने पर भी जो सर्वथा ध्वंस रहित है, इस प्रकार के पारस्परिक भाव-बन्धन को प्रेम कहा गया है।'

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तिता।[1]

कृष्णदास कविराज के शब्दों में **'कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम'**—यह प्रेम का स्वरूप है। इसी का समर्थन नारायण भट्ट ने अपने 'भक्ति रस तरंगिणी' ग्रन्थ में किया है।[2] गौड़ीय भक्तों ने दार्शनिक दृष्टि से भी प्रेम की व्याख्या की है। उनके अनुसार **'प्रेम मन की प्राकृत वृत्ति नहीं है। वह ह्लादिनी सम्विदंश-प्रधान शुद्ध सत्त्व की वृत्ति विशेष है। अतः प्रेम स्वरूपतः चित्वस्तु है।'**[3]

देवर्षि नारद ने भक्ति-सूत्र में प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—'यह प्रेम गुणरहित, कामना रहित, प्रतिक्षण वर्द्धमान, विच्छेद रहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, और केवल अनुभव-गम्य है। इस प्रेम को प्राप्त कर प्रेमी प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।'[4] इसी प्रेम-स्वरूप के आधार पर कवियों ने प्रेम-सम्बन्धी उक्तियाँ कहीं है—

प्रेम सदा बढ़िबो करै, ज्यों ससिकला सुवेष।
पं पूनौ यामें नहीं, ताते कबहुँ न लेष॥

अथवा

---

१. स्थायी भाव ५७

२. अन्तःकरणवृत्तिर्या नित्यत्वेन द्रवात्मिका।
श्रीकृष्णविषया सा तु प्रेमा-विद्वद्भिरीरिता॥ पृष्ठ ३७

३. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त रत्न-संग्रह (हिन्दी रूपान्तर) : श्यामलाल हकीम : मूल लेखक (बंगला) राधा गोविन्द नाथ : पृष्ठ ८६

४. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।'—सूत्र ५४-५५

प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय 'रहीम' लखि आप पथिक फिर जाय ।।

प्रेमा भक्ति का लक्षण बताते हुए देवर्षि नारद ने प्रेम के विरह-पक्ष पर विशेष बल दिया है ।[1] रूपगोस्वामी ने भी विरह-भावना को प्रेम में मुख्य मानकर प्रेम के तीन भेद—प्रौढ़, मध्यम और मन्द स्वीकार किये हैं । प्रौढ़ प्रेम में भक्त भगवान् के वियोग को पल भर के लिए भी नहीं सहन कर सकता ।[2] मध्यम प्रेम में कुछ सहिष्णुता स्वीकार की गई है[3] और मन्द प्रेम में तो यदा कदा भगवान की विस्मृति भी हो जाती है ।[4] प्रौढ़ प्रेम के उदाहरण स्वरूप चैतन्य महाप्रभु का यह श्लोक लिया जा सकता है जिसमें उन्होंने कहा है कि प्रभु के विरह में मेरे पल युगों के समान, आँखें वर्षा के समान तथा विश्व शून्यवत् हो गया है :—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रवृषायितम् ।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे ।।[5]

भक्त्याचार्यों ने परिपुष्ट प्रेम की मुख्य दो विशेषताएँ स्वीकार की हैं—तत्सुखी भाव और अनन्यता । तत्सुखी भाव का अभिप्राय हम नित्य विहार के प्रसंग में स्पष्ट कर आये हैं । इस भाव के कारण प्रेम मे भगवान् की सभी बाते भक्त को प्रिय लगती है । भक्त सदा उन्हीं के सुख को महत्त्व देते है और उनके सुख में ही सुखी होते हैं । परिणामतः उनके किसी भी भाव के प्रति भक्त के मन में द्वेष, ईर्ष्या आदि भाव प्रकट नही होते ।[6] इन भावों का उदय किसी स्वार्थ की हानि होने पर होता है, किन्तु जब यहाँ कोई स्वार्थ ही नही है तो द्वेषादि भावों का उद्गम किस प्रकार हो सकता है । श्रीमद्भागवत में कपिलदेव कहते है कि मेरा प्रेमी भक्त मेरी सेवा को छोड़कर सालोक्य (भगवान् के नित्यधाम में निवास), सार्ष्टि (भगवान् के समान ऐश्वर्य भोग), सामीप्य (भगवान् की नित्य समीपता), सारूप्य (भगवान् के समान रूप प्राप्त करना) और सायुज्य (भगवान के विग्रह में समा जाना) इन मुक्तियों को देने पर भी नहीं लेता :—

---

१. 'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।—भक्ति-सूत्र १९
२. 'प्रौढ़ः प्रेमा स यत्र स्याद्विश्लेषस्यासहिष्णुता ।'—उज्ज्वलनीलमणि; स्थायी-भाव ६६
३. कृच्छ्रात्सहिष्णुता यत्र स तु मध्यम उच्यते ।—वही : स्थायीभाव ६७
४. स मन्दः कथितो यत्र भवेत्कुत्रापि विस्मृतिः ।—वही : स्थायीभाव ६९
५ चैतन्य चरितावली : प्रभुदत्त ब्रह्मचारी : भाग—५ : पृष्ठ २६५
६. 'द्वेषादयस्तु नैवम्'—शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ४५

सालोक्यसार्ष्टि सामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः ॥[1]

भगवान् का प्रेम प्राप्त करके तो भक्त सिद्ध, अमर और तृप्त हो जाता है ।[2] फिर उसे किस वस्तु की आवश्यकता शेष रहती है । फिर वह वस्तु ब्रह्मा के पद से लेकर आठों सिद्धियों की प्राप्ति तक कुछ भी क्यों न हो । ऐसे भक्त की स्थिति तो यह है—'प्रियतम श्रीकृष्ण की पूजा करते समय शरीर पुलकित हो गया, भक्ति से मन प्रफुल्लित हो गया । प्रेम के आँसुओं ने मुख को और गद्गद् वाणी ने कण्ठ को सुशोभित कर दिया । अब तो हमें एक क्षण के लिए भी फुरसत नहीं है कि हम किसी दूसरे विषय को स्वीकार करें । इतने पर भी चारों प्रकार की मुक्तियाँ न जाने क्यों हमारे दरवाजे पर खड़ी हमारी दासी बनने के लिए आतुर हो रही है ।'[3] स्पष्ट है कि सच्चे प्रेमी के लिए तो कृष्ण-प्रेम में तल्लीन रहना ही सबसे बड़ा सुख है । उसे किसी प्रकार की सिद्धि अथवा मुक्ति की आवश्यकता नहीं । दूसरा वह अपनी भक्ति का प्रतिदान नहीं चाहता । इसी कारण उसका प्रेम शुद्ध है :—

कीये को सब करत हैं, दीये को सब देत ।
अनकीये को कीजिए. यहै प्रेम को हेत ॥[4]

प्रेम की दूसरी विशेषता है—**अनन्यता** । देवर्षि नारद के शब्दों में 'अपने इष्ट को छोड़कर दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है' (भक्ति-सूत्र-१०) । वास्तव में प्रेम चित्त से होता है और चित्त एक ही है—अतः हम एक ही व्यक्ति से एक समय में प्रेम कर सकते हैं । बहुत से व्यक्तियों से एक साथ किये गये प्रेम में प्रेम का शुद्ध रूप नहीं आता—क्योंकि उसमें अनन्यता का अभाव रहता है । हरिराम व्यास की ये अनन्यता-सूचक पंक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं—

---

१ भागवत : ३-२९-१३

२. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ।—नारद भक्ति सूत्र ४

३ रोमांचेन चमत्कृता तनुरियं भक्त्या मनो नन्दितं
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः ।
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वतां
मुक्तिर्द्वारि चतुर्विधापि किमियं दास्याय लोलायते ॥—हनुमान प्रसाद पोद्दार के प्रेम-दर्शन से उद्धृत : पृष्ठ २२

४. माधुरी वाणी—माधुरी दास : उत्कण्ठा माधुरी : दोहा ७१

जाकी है उपासना, ताही की बासना, ताही को नाम, रूप, गुन गाइयै।
यह अनन्य परधर्म परिपाटी, वृन्दाबन बसि अनत न जाइयै।
सोई विभिचारी आन कहै, आन करै, ताको मुख देख दारुण दुख पाइयै।
व्यास होइ उपहास त्रास किये, आश अछत, कित दास कहाइयै।[1]

स्पष्ट है कि भक्त के लिए भगवान् के चरणों को छोड़कर और किसी वस्तु की चाह न करना ही अनन्यता है। सिद्धान्ततः मनुष्य एक को छोड़कर दूसरे के पास तभी जाता है—जब वहाँ उसके स्वार्थ की पूर्ति नहीं होती। किन्तु पहले तो भक्त का कोई स्वार्थ होता ही नहा, यदि होता है तो केवल इतना कि उसे भगवान् के चरणों में हेतु-रहित अनुराग हो जाय। और इससे बढ़कर निष्कामता संसार में कोई नहीं है। वैसे भी भगवान् से अधिक देने की सामर्थ्य किसी लौकिक व्यक्ति में नहीं है—अतः उनसे प्रेम करके भक्त के सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। तब वह अन्य किसी के पास जाने अथवा अन्य किसी वस्तु को पाने की कामना क्यो करे। उसकी तो यही टेक है—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित 'चातक' तुलसीदास॥

इस टेक के अनुसार भक्त अपने को भगवान् के अर्पण कर देते हैं। इस प्रकार भगवान् ही उनके प्राण हो जाते हैं—अतः वे उनकी प्रसन्नता के लिए ही सब कुछ करते है। और भगवान ऐसे अनन्य भक्तों को सब प्रकार से सुखी रखते हैं। तात्पर्य यह है कि अनन्य प्रेमी भक्तों का मुख्य लक्षण यही है कि वे सदा कृष्ण का नाम श्रवण करते हैं, सदा कृष्ण के नाम का उच्चारण करते हैं और उनकी चित्तवृत्ति सदा कृष्ण के रंग में रंगी रहती है।

कानन दूसरो नाम सुनै नहि, एकहि रंग रंगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै, रसना मुख बाँधि हलाहल बोरो॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै, हम कैसेहु टेक तजै नहिं भोरो।
बावरी वे अखियाँ जरि जांय जो साँवरो छाँड़ि निहारत गोरो॥

इस प्रकार का शुद्ध भगवत्प्रेम किसी को प्राप्त हो गया है—यह हम लौकिक रीति के अनुसार जान सकते ह।[2] अर्थात् जिस प्रकार संसार में प्रिय की चर्चा सुनकर प्रेमी में पुलक, अश्रुपात, गद्गद होना देखा जाता है उसी प्रकार भगवत्प्रेम–प्राप्त भक्त भी जब भगवान् की कथा, कीर्तन आदि सुनता है

---

१. व्यास वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १८०

२. तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिंगेभ्य :। —शाण्डिल्य भक्ति सूत्र ४३

तो उसमें भी रोमांच, अश्रुपात का होना देखा जाता है। किन्तु उसमें लौकिक प्रेमी की अपेक्षा प्रेम-तीव्रता के कारण कुछ विशेषता भी है। कथा आदि सुनकर रोमांच आदि हो जाना सामान्य प्रेमी का लक्षण है। इसके अतिरिक्त वह भक्त जिनका प्रेम पूर्णता को पहुँचा हुआ है, उनकी दशा सर्वथा भिन्न होती है वह तो प्रेम की दशा में सदा ही मत्त रहता है। चक्रपाणि भगवान् के कल्याणकारक एवं लोकप्रसिद्ध जन्मों और कर्मों को सुनता हुआ, उनके अनुसार रखे गए नामों का लज्जा छोड़कर गान करता हुआ वह संसार में अनासक्त होकर विचरण करता है। इस प्रकार का व्रत धारण कर वह अपने प्रियतम प्रभु के नाम संकीर्त्तन से उनमें अत्यन्त प्रेम हो जाने के कारण द्रवित चित्त हुआ उन्मत्त के समान कभी अलौकिक भाव से खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वर से गाने लगता है और कभी नाच उठता है।[1] प्रेमी की इस स्थिति का सुन्दरदास द्वारा किया गया वर्णन बहुत सुन्दर एवं सटीक है—

न लाज तीन लोक की न बेद को कह्यो करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव जच्छ ते डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न बात और की, सुभक्ति प्रेम लच्छना॥
कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिर लागै।
कबहुँक गदगद कंठ, सबद निकसै नहिं आगे॥
कबहुँक हृदय उमंग बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख मौन गगन जैसो रहि जावै॥
चित्त वित्त हरि सौं लग्यौ सावधान कैसे रहै।
यह प्रेमलच्छना भक्ति है, शिष्य सुनो 'सुन्दर' कहै॥[2]

---

१. शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणे
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसंगः॥
एवंव्रतः स्वप्रियनाम कीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय—
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥ भागवत ११।२।३९–४०

२. हनुमान प्रसाद पोद्दार की पुस्तक प्रेम-दर्शन के पृष्ठ ३२ से उद्धृत।

और इस प्रकार का प्रेमी भक्त अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है—क्योंकि उसकी भक्ति जिस प्रकार प्रेमरूपा है उसी प्रकार अमृतस्वरूपा भी।[1] भगवान् के प्रेम में मग्न रहने वाला भक्त सम्पूर्ण जगत् को 'सियारामम्य' देखता है। अतः उसको न किसी से द्वेष होता है न विरोध, न किसी वस्तु को पाकर वह शोक करता है और न किसी वस्तु में आसक्त होता है। तुलसीदास की इस पंक्ति **'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध'** (रामचरितमानस) का यही अभिप्राय है।

गोपी-प्रेम

इस प्रकार के प्रेमी भक्तों मे गोपियों का स्थान विशेष है। 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' में तो इन गोपियों की भक्ति को रागात्मिका भक्ति और मधुर भाव के उपासकों की भक्ति को रागानुगा—अर्थात् गोपियों के अनुसरण पर की जाने वाली भक्ति कहा गया है।[2] इसी प्रकार माधुर्य्य भक्ति के अन्य आचार्यों ने भी गोपी-प्रेम को आदर्श माना है। अतः गोपी-प्रेम की संक्षिप्त चर्चा के बिना यह प्रेम-प्रसंग अधूरा ही रहेगा।

गोपियों का प्रेम सब जगह से सिमट कर कृष्ण-चरणों में केन्द्रित हो गया है। चाहे वे किसी भी अवस्था में क्यों न हों—उनका मन श्रीकृष्ण में अनुरक्त रहता है। ये अपने शरीर की रक्षा भी कृष्ण-सेवा के लिए करती है—अतः इनसे बढ़कर प्रेमी और कौन हो सकता है।[3] श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखकर भी जिनको तृप्ति नहीं होती और इस कारण जो आँखों मे पलक बनाने वाले ब्रह्मा को मूर्ख कह देती है, उन गोपियों का कृष्ण के वनादि मे चले जाने पर उनके दर्शन बिना एक-एक पल युग के समान व्यतीत होता हो तो कोई आश्चर्य नही।[4] दर्शन के अभाव में एक पल को युग के समान मानने वाली गोपियां जीती किस प्रकार है—इसका भी समाधान भागवतकार ने कर दिया

---

१. 'अमृतस्वरूपा च।'—नारद भक्ति-सूत्र ३

२. विराजन्तीमभिव्यक्तं ब्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते॥ १।२।६०-६१

३. निजांगमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥—हनुमान प्रसाद पोद्दार के गोपी-प्रेम से उद्धृत : पृष्ठ १५

४. अटति यद् भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥ भागवत १०-३१-१५

है। ये गोपियाँ गायों का दूध दुहते समय, धान कूटते समय, दही बिलोते समय रोते हुए बच्चों को लोरी देते समय, घरों में छिड़काव करते समय वा झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण चित्त से आँखों में आँसू भरे, गद्गद वाणी से श्रीकृष्ण के गुणगान किया करती है।[1] तात्पर्य यह है कि कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शनाभाव की पूर्ति वे उनके गुण आदि में मन को रमाकर मानसिक पटल पर उनका चित्र अंकित करके कर लेती है। इसी तन्मयता के कारण वे कृष्ण को अपने वश में कर सकीं। रसखान ने कृष्ण को **'छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै'** इन्ही गोपियों के विषय में कहा है। श्रीकृष्ण-प्रेम में इनका मन ही श्याममय हो गया है। अतः इनकी दशा यह है कि इन्हें सब कुछ श्याममय दिखता है। गोपियो की इस प्रेम-दशा का वर्णन किसी कवि ने बहुत अनूठे ढंग से किया है—

जित देखों तित स्याममई है।
स्यामकुंज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घन घटा छई है॥
सब रंगन में स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
हौं बौरी की लोगन ही की, स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चन्द्रसार रविसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठ कौ कंठ स्याम है, मनों स्यामता बेलि बई है॥
श्रुति को अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखा पर स्यामतई है।
नर देवन की कौन कथा है, अलख-ब्रह्म छबि स्याममई है॥[2]

इस प्रकार श्याम के प्रेम में पूर्ण रूप से रंगी होने पर भी गोपियो के के हृदय में कृष्ण का माहात्म्य-ज्ञान पूर्ण रूप से है। रास के आरम्भ मे जब वे कृष्ण से यह कहती हैं—'यह निश्चय है कि आप केवल यशोदा के पुत्र नहीं है, वरन् समस्त देहधारियों के अन्तरात्मा साक्षी है। हे सखे! ब्रह्मा जी की प्रार्थना से ही आपने सम्पूर्ण जगत् की रक्षा के लिए यदुकुल में अवतार लिया है।'[3] उस समय उनका यही माहात्म्य-ज्ञान स्पष्ट होता है। यह माहात्म्य-ज्ञान

---

१. या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप—
प्रेखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥ भागवत १०-४४-१५

२. हनुमान प्रसाद पोद्दार के गोपी-प्रेम मे उद्धृत : पृष्ठ १२—१३

३. न खलु गोपिकानन्दनो भवा—
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ भागवत १०—३१—४

उनको भगवद्-निष्ठा को पूर्ण रूप से दृढ़ कर देता है। अतः गोपियों में माहत्म्य-ज्ञान रहित प्रेम स्वीकार करना उनके प्रेम को अधूरा समझना है।

गोपियों का प्रेम केवल संयोग परक नहीं है, उसकी उत्कृष्टता हमें कृष्ण-वियोग में लक्षित होती है। कृष्ण के विरह में रो-रोकर जब उनका शरीर बिल्कुल दुर्बल हो गया है, ऐसे अवसर पर उद्धव उन्हें योग का उपदेश देने पहुँचते हैं। इसी अवसर पर वे अपनी वास्तविक दशा स्पष्ट करते हुए उद्धव से कहती हैं—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन
आठो जाम ऊधो हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये
आँधे की सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्राणपति
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधौ तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखें यहाँ रोम रोम स्याम है॥[1]

अन्ततः उद्धव को कृष्ण-नाम-स्मरण से ही प्रेम-दशा को प्राप्त हो जा वाली गोप-वधुओं के सम्मुख सिर झुकाना पड़ता है। तदुपरान्त उन्होंन गोपियों की जो प्रशंसा की—भागवत मे लिपिबद्ध वह प्रशसा आज भी गोपियों की प्रेम महत्ता से स्वतः मुखरित हो उठती है। उनके अनुसार 'इन महाभागा गोपियों ने कठिनता से छोड़े जा सकने वाले बन्धुओं को और आर्यधर्म को त्याग कर श्रुति जिसकी खोज करती है, उस मुकुन्द पदवी का अनुसरण किया है। अहो! क्या ही उत्तम हो, यदि मैं आगामी जन्म में इस वृन्दाबन की लता, औषधि या झाड़ियों में से कोई होऊँ, जिन पर इन गोपियोंकी चरण-धूलि पड़ी है।'

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥[2]

इस प्रकार गोपियों का प्रेम सभी प्रकार से शुद्ध सिद्ध होता है। अतः यदि वह भक्तों के लिए अनुकरणीय तथा स्पृहणीय हो तो आश्चर्य क्या। मधुर भाव

१. हनुमान प्रसाद पोद्दार के प्रेमदर्शन से उद्धृत : पृष्ठ २६
२. भागवत १०। ४७। ६१

की भक्ति में यही प्रेम भक्तों का प्राप्य माना गया है।

प्रेम नित्य साध्य वस्तु, साधनेर सार।
ईहा बिना साध्य वस्तु केह नहे आर॥[1]

राधा-कृष्ण की रति-लीलाएँ इसी प्रेम की प्राप्ति का सहज उपाय है। यद्यपि यह सत्य है कि कृष्ण-रति के रूप में प्रेम सभी रसिक भक्तों के हृदय में विद्यमान रहता है तथापि उसकी पुष्टि के लिए तथा उसको रसावस्था तक पहुँचाने के लिए राधा-कृष्ण की इन रति-क्रीड़ाओं की आवश्यकता स्वीकार की गई है। **'क्योंकि प्रेम और मदन (अप्राकृत) के योग से ही यह रस निष्पन्न होता है।'**[2] वैसे राधा-कृष्ण स्वयं रस-रूप माने गए हैं, किन्तु वे भी अपने प्रेम को सदा पुष्ट बनाए रखने के लिए सदा केलि का आश्रय लेते हैं। अतः **'परस्पर की काम केलि के योग से जिस प्रकार श्यामा-श्याम का प्रेम हरा बना रहता है, उसी प्रकार रसिक उपासक का प्रेम इन दोनों की केलि के योग से रस-रूप बना रहता है।'**[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रेम को आस्वाद्य बनाने के लिए ही प्रेमरूपी सिन्धु में भोग्य कमल (राधा) और भोगी भ्रमर (कृष्ण) के प्राकट्य का वर्णन किया गया है—

श्रीमद् हित हीय तें प्रगट प्यारी कंज रूप।
प्रगट भये आस्वाद हित षट्पद लाल अनूप॥[4]

और राधा-कृष्ण की इसी पारस्परिक काम-केलि में भक्त भी अपने साध्य प्रेम का आस्वादन कर लेता है—

उभय संगम सिंधु सुरत पूषण बन्धु।
द्रवत मकरंद हरिवंश अलि पावै॥[5]

माधुर्य्य भक्ति का साहित्यिक आधार

माधुर्य्य भक्ति का साहित्यिक आधार भी उतना ही दृढ़ एवं पुष्ट है जितना दार्शनिक आधार। साहित्यिक आधार से हमारा अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक सहृदय पाठक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' नाटक पढ़कर शृंगार रस का आस्वादन करता है उसी प्रकार भक्त भी भक्ति-सम्बन्धी 'रामचरितमानस', 'सूरसागर'

---

१. चैतन्य चरितामृत
२. 'श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य' ललिताचरण गोस्वामी : पृष्ठ १०४
३. वही पृष्ठ १०४
४. वही : पृष्ठ ८६ से उद्धृत
५. हित चौरासी : पद ८१

आदि रचनाएँ पढ़कर एक रस का आस्वादन करते हैं। यह रस भक्ति रस है। जैसे भावानुसार भक्ति के पाँच भेद हैं, उसी प्रकार भक्ति रस भी पाँच प्रकार का माना जाता है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा मधुर। मधुर भाव का उपासक माधुर्य्य भक्ति परक पदों के पठन-पाठन द्वारा इनमें से जिस रस की अनुभूति करता है—वह है मधुर भक्ति रस। यही मधुर भक्ति रस माधुर्य्य भक्ति का साहित्यिक आधार सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि भक्ति रस भी शृंगार, वीर, करुण आदि रसों के समान एक स्वतन्त्र रस है। इसकी निष्पत्ति प्रायः उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार उक्त शृंगारादि रसों की। किन्तु भक्ति रस में एक निजी विलक्षणता है, जिसके कारण इसे अन्य रसों से श्रेष्ठ माना गया है। अधिकांश विद्वान् भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में नहीं हैं और कुछ अन्य इसे केवल भाव मानते हैं। आचार्य विश्वनाथ, पं० जगन्नाथ आदि विद्वानों ने 'देवादि विषयक रति' अर्थात् भक्ति को भाव-मात्र माना है। परन्तु यदि रस के स्वरूप को सम्मुख रखते हुए विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भक्ति को केवल भाव स्वीकार करना उचित नहीं है। वह एक स्वतन्त्र रस है। यहा हम इसी विषय पर विचार करेंगे।

रस का स्वरूप

साहित्य-दर्पण में कविराज विश्वनाथ ने रस को सत्त्वोद्रेकयुक्त, अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार प्राण आदि गुणों से युक्त कहा है।

सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणा कैश्चित्प्रमातृभिः॥
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥[1]

संक्षेप की दृष्टि से रस-स्वरूप-निरूपण में इस प्रकार की पदावली अत्यधिक उपयुक्त है। किन्तु रस के स्वरूप को हृदय-गम्य बनाने के लिये इसकी व्याख्या की आवश्यकता बनी रहेगी।

विश्वनाथ के अनुसार रस सहृदय-संवेद्य है अर्थात् रस का आस्वादन होता है किन्तु इसके आस्वादक सभी नहीं हो सकते। केवल सहृदय ही रस का उपभोग कर सकते हैं। रस के आस्वादन से अनिवार्यतः सहृदय को आनन्द

१. साहित्य दर्पण : तृतीय परिच्छेद

की प्राप्ति होती है। यह आनन्द किसी अन्य प्रकार की भावना के अभाव के कारण अखण्ड माना गया है। रस का आविर्भाव उस दशा में होता है जब सहृदय अपनी ऐन्द्रियता अर्थात् स्वार्थ-भावनाओं से ऊपर उठकर सत् की व्यवस्था में स्थित होता है। रस चमत्कारप्राण इसलिए कहा गया है कि इसके द्वारा चित्त-विस्तृति होती है। जिस समय सहृदय का हृदय स्वार्थ की भावनाओं से मुक्त हो जाता है, उस समय चित्त का विस्तार आरम्भ हो जाता है।

यह रस न ज्ञाप्य है न कार्य है, न साक्षात् अनुभव है, न परोक्ष है, न वह निर्विकल्प ज्ञान है, न सविकल्पक, अतएव किसी मौलिक (लौकिक) परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है। ब्रह्मानन्द सहोदर है : सवितर्क ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं। क्योंकि उसमें तो अहंकारमयी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु रस में ऐसा नहीं होता।'

रस की आस्वाद्यता

रस आनन्द-स्वरूप है—यह जानने के उपरान्त अब हमें यह विचार करना है कि सहृदय को आनन्द की प्राप्ति किस प्रकार होती है। इस विषय में आचार्य भरत एक सूत्र छोड़ गए हैं—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः।[२]

इस सूत्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में वासना-रूप से कुछ भाव सदा विद्यमान रहते हैं, जिन्हें स्थायीभाव की संज्ञा दी गई है। जिस समय इस स्थायीभाव का विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव से संयोग होकर सहृदय के हृदय में इन सबकी ऐक्य दशा प्राप्त होती है उस समय रस का आविर्भाव होकर सहृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है। विभाव से तात्पर्य उन कारणों से है जो सहृदय में वासना रूप से विद्यमान रति आदि चित्त-वृत्तियों को सुप्तावस्था से जागृत अवस्था में लाने में सहायक होते हैं। ये दो प्रकार के हैं—(१) वासना को जागृत करने वाले, जिन्हें आलम्बन विभाव कहा जाता है और (२) वासना को उत्तेजित करने वाले जिन्हें उद्दीपन कहा गया है। चित्तवृत्तियों (वासना रूप स्थायी भावों) के आविर्भूत हो जाने पर शरीर, वाणी आदि में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे अनुभाव कहलाते हैं।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ५६

२. नाट्य शास्त्र : ६-३४

इस प्रकार विभाव कारण हैं और अनुभाव कार्य हैं। वे अन्यान्य चित्तवृत्तियाँ जो रति, उत्साह आदि चित्तवृत्तियों की सहकारी और सहायक हैं—उन्हें व्यभिचारी भाव स्वीकार किया गया है। स्थायी चित्तवृत्तियों के विपरीत ये चित्तवृत्तियाँ संचरणशील हैं—अर्थात् आती जाती रहती है। इसीलिए व्यभिचारी भाव को संचारी भाव की संज्ञा दी गई है।

भरत के **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रस निष्पत्तिः'**—इस सूत्र की व्याख्या बाद के कई आचार्यों ने की। जिनमें से प्रसिद्ध चार हैं–भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त। इन सभी ने भरत के रस-निष्पत्ति सम्बन्धी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अपने-अपने विचारानुसार रस की स्थिति और रसास्वादन पद्धति पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें से अभिनव गुप्त की व्याख्या को ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त हुई। इसका कारण यह है कि इस व्याख्या में अन्य सभी आचार्यों द्वारा की गई व्याख्याओं को ध्यान में रख कर रस-सूत्र को अधिकाधिक सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। अतः रसास्वादन-पद्धति को समझने के लिए हम नीचे अभिनवगुप्त के ही मत का सारांश दे रहे हैं।

सारांश इस प्रकार है—

१. सभी आत्माओं में कुछ मूलगत वासनायें संस्कार रूप में स्थित रहती हैं। ये वासनायें ही पारिभाषिक शब्दावली में स्थायीभाव कहलाती हैं। इन्हें साक्षिभास्य भी कहा जाता है—क्योंकि ये स्वयं प्रकाशित न होकर आत्मा (चैतन्य) द्वारा प्रकाशित होते हैं। यद्यपि रति, उत्साह आदि वासना रूप स्थायीभाव सहृदय-हृदय में सदा विद्यमान रहते हैं—किन्तु प्रकाशित तभी होते हैं जब आनन्दरूप आत्मा पर से अज्ञान (स्वार्थ) का आवरण हटकर पूर्ण प्रकाश हो जाता है।

२. अज्ञान (यह मेरा है—यह दूसरे का है, यह भावना) का आवरण हटाने के लिए काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी का आश्रय लिया जाता है। इनके कुशल प्रदर्शन से स्वार्थ-भावना दूर होकर सहृदय, भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाता है। इस प्रकार रति आदि स्थायी भावों का सम्पर्क आत्मानन्द के साथ होता है और हम रस का अनुभव करते हैं। इस स्थिति में सांसारिक भेद-भाव हटकर केवल आनन्दमयी चेतना रह जाती है।

३. विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के कुशल प्रदर्शन से जो अलौकिक

क्रिया होती है और जिसके द्वारा हमारा भेद भाव वाला अज्ञान अपहृत हो जाता है, वह और कुछ नहीं केवल साधारणीकरण ही है। साधारणीकरण का कारण भाषा का भावमय प्रयोग है। भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर रहता है, और प्रयोक्ता के भावों की संवेदन-शक्ति का मूल आधार है—मानव-सुलभ सहानुभूति।[1]

इन तीन तथ्यों को लक्ष्य में रखकर यह सहज ही निर्णय किया जा सकता है कि अमुक भाव (स्थायीभाव) रसकोटि तक पहुँच सकता है या नहीं।

रस-संख्या

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में रस आठ माने हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत।[2] इनमें भी शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स को प्रधान और मौलिक माना है और हास्य, करुण, भयानक और अद्भुत को गौण एवं व्युत्पन्न स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने शृंगार से हास्य, वीर से अद्भुत, रौद्र से करुण और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति मानी है। किन्तु परवर्ती आचार्यों ने भरत की इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया।[3] काव्यादर्श में भी भरत द्वारा निर्दिष्ट आठ रसों को स्वीकार किया गया है।

उद्भट ने काव्यालंकार सूत्र में नौ रसों का उल्लेख किया है। इन नौ रसों में भरत द्वारा स्वीकृत आठ रस तथा इनके अतिरिक्त शान्त को ग्रहण किया गया है।[4] रुद्रभट्ट ने भी भरत के आठ रसों में शान्त को सम्मिलित करके रस-संख्या नौ स्वीकार की है।[5] अग्निपुराण में भी शान्त सहित नौ रसों का विवेचन है।[6] अभिनवगुप्त ने अपने समय के रस-शास्त्रियों के सम्बन्ध में विचार प्रगट करते हुए कहा है कि कुछ विद्वान् साहित्य में शान्त रस को स्वीकार नहीं करते और केवल आठ रस मानते हैं। इसके साथ-साथ उन्होंने

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ४९

२. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाःस्मृता : ॥ ६–१५

३. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ७०–७१

४. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्तश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ४–५

५. *Some Aspects of Literary Criticism* : Sankaran : page 32

६. वही : पृष्ठ ३६

यह भी बताया है कि भरत के नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के उद्धरण मिलते हैं जिनसे शान्त का स्वतन्त्र रस स्वीकृत होना सिद्ध होता है।[1] अतः अभिनव-गुप्त के आधार पर ही नव रसों के प्रवर्तन का श्रेय आचार्य भरत को दिया जाता है—उद्भट या वासुकी को नहीं।

इन नौ रसों के उपरान्त भी रसों की संख्या बढ़ाने के कई प्रयत्न हुए। रुद्रट ने शृंगार, वीर, शान्त आदि रसों को स्वीकार करते हुए एक अन्य रस 'प्रेयान्' को रस-श्रेणी में परिगणित किया है।[2] विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में वात्सल्य स्थायीभाव को स्वीकार कर वत्सल रस का निरूपण किया।

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥[3]

इसी प्रकार रूपगोस्वामी आदि भक्त्याचार्यों ने भगवद् रति स्थायीभाव से भक्ति रस की निष्पत्ति मानी है।

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः॥
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत्॥[4]

किन्तु इन सभी उद्भावनाओं को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर लिया गया। पंडितराज जगन्नाथ तथा उनके बाद के आचार्यों ने तो स्पष्ट शब्दों में कुछ उद्भावनाओं का विरोध किया है।

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारि तथाऽजितः।
भावः प्रोक्तस्तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः॥[5]

आज भी इन पर विचार-विवेचन हो रहा है। डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रीति काव्य की भूमिका' में इस विषय पर विचार प्रगट करते हुए कहा है **'इन परम्परा-दृढ़ पण्डितों ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति के अयोग्य, ठहराकर 'भाव'—मात्र ही माना। इसमें सन्देह नहीं कि साधारण व्यक्ति**

१. साहित्य-दर्पण : स० काणे : पृष्ठ १२
२. शृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे॥ काव्यालंकार-१२।३
३. तृतीय परिच्छेद : श्लोक २५१
४. हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : २।१।५-६
५. हिन्दी रसगंगाधर : स० श्री पुरुषोत्तम : पृष्ठ १२७

के लिए देवादिविषयक रति, भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ़ पाती, क्योंकि उसका आलम्बन परोक्ष एवं अमूर्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति में असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा। मीरा, सूर, तुलसी की भक्ति रस-दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, लेकिन हाँ इनकी भक्ति को उनकी अन्तःप्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है। सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का। इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होंने प्रत्यक्ष आत्म-निवेदन किया है—वहाँ भी कहीं तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है और कहीं स्पष्ट निर्वेद का, जैसे तुलसी के बहुत से पदों में, जहाँ संसार की असारता और कराल कलि-काल से उसकी रक्षा आदि के लिये प्रार्थना की गई है। शेष कुछ ऐसे पद रह जाते हैं, जिनमें प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुये भी उसका अन्तर्भाव इन्हीं निर्णीत स्थायी भावों में रह जाता है। जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है। वैसे भी आज के मनोविश्लेषकों ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है।'[1]

वास्तव में डा० नगेन्द्र के ये विचार दो विरोधी सिद्धान्तों—(१) भक्ति केवल भाव है और (२) भक्ति स्वतन्त्र रस है, का सामंजस्य-मात्र हैं—समस्या का समाधान नहीं। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि **'भक्ति को उसकी अन्तःप्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है।'** स्पष्ट है कि भक्ति-भाव रस कोटि तक पहुँच सकता है, यह स्वीकार करते हुए भी उन्हें रस-संख्या-विस्तार के भय से उसे अन्य रति आदि स्थायी भावों के अन्तर्गत करने के लिए मनोविश्लेषकों की सहायता लेनी पड़ी है। किन्तु यह सत्य की स्वीकृति नहीं है—केवल समस्या से अपने को दूर रखने की चेष्टा-मात्र है। जहाँ तक भावों के अन्तर्भाव का प्रश्न है उस दृष्टि से तो सभी भावों का मूल एक ही है—आत्म-रति। इसी आत्म-रति से अन्य भाव फूटते हैं। डा० नगेन्द्र ने स्वयं कहा है कि रस मूलतः पाठक की अपनी अस्मिता का आस्वादन है।[2] इस कारण रति को मात्र स्थायीभाव मानकर रस-संख्या को अत्यधिक सीमित किया जा सकता है—किन्तु ऐसा करने से विषय सरल नहीं जटिल ही होगा। अतः उन सभी रसों को हमें

१. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ७०–७१
२. रीतिकाव्य की भूमिका : पृष्ठ ५४

एक स्वतन्त्र रस स्वीकार करना चाहिए जिनमें रस-निष्पत्ति सम्बन्धी सभी गुण विद्यमान हों।

भक्ति रस

रस निष्पत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस का मूल आधार स्थायी भाव है। अभिनवगुप्त के अनुसार यही स्थायी भाव रसास्वादन की सभी बाधाओं का निराकरण करके एक आनन्दमयी चेतना के रूप में अभिव्यक्त होता है।[1] अतः किसी भी रस को स्वतन्त्र रस मानने के लिए उसके स्थायी भाव का परीक्षण आवश्यक है। भक्ति रस का स्थायी भाव भगवद् रति है। उन सभी आचार्यों ने जिन्होंने भक्ति रस का प्रत्याख्यान किया है, भगवद् रति को केवल भाव माना है। किन्तु यदि स्थायी भाव की कसौटी पर कसा जाय तो भगवद् रति स्थायी भाव ही सिद्ध होता है।

स्थायी भाव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए साहित्य दर्पण में कहा गया है कि 'अविरुद्ध (हासादि) और विरुद्ध (क्रोधादि) भाव जिसको न छिपा सकें और जो रसास्वादन का मूल कारण हो वही स्थायी भाव कहलाता है'—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥

भगवद् रति में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं। सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों के पदों में अभिव्यक्त भगवद् रति विरोधी और सहायक सभी भावों की उपस्थिति में भी आनन्द दशा तक पहुँचने में समर्थ है। अन्य स्थायी भावों के समान भगवद् रति भी सभी आत्माओं में पूर्व जन्म संस्कार वश अथवा पठन-पाठन के फलस्वरूप वासना रूप में स्थित रहती है। यह सत्य है कि संस्कार की तीव्रता और पठन-पाठन के आधिक्य के कारण यह वासना भक्तों में विशेष रूप से लक्षित होती है। अतः जिस प्रकार शृंगार, हास्य, करुण आदि रसों की अनुभूति केवल सहृदय ही कर सकता है, उसी प्रकार भक्ति रस की आस्वादन-क्षमता केवल भक्त या रसिक में मानी गई है।[2]

मराठी विद्वान् डा० वाट्वे ने अपने ग्रन्थ 'रस-विमर्श' के भक्ति रस प्रकरण में भगवद् रति स्थायी भाव पर मानसशास्त्र और साहित्यशास्त्र दोनों दृष्टियों

---

१. *Some Aspects of Literary Criticism* : Sankaran : page 105.

२. प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते॥ हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : २।१।७

से विचार किया है। मानसशास्त्र के अनुसार स्थिरवृत्ति (Sentiment) में प्राथमिक भावनाओं का मिश्रण होता है, यह अनेक भावनाओं से घिरी हुई होती है, जो इसका परिपोषण करती हैं तथा अन्य भावों का इसमें समावेश होता है। भगवद् रति में भय, आत्महीनता या शरणागति और जिज्ञासा—इन प्राथमिक भावनाओं का सम्मिश्रण रहता है। उत्सुकता, विषाद, दैन्य, व्याधि, भय, निर्वेद, ग्लानि, गर्व, व्रीड़ा आदि भावनाएँ इसका परिपोषण करती हैं। शान्त, वात्सल्य, शृंगार, वीर, क्रोध, करुण, नम्रता, आत्मसमर्पण आदि भावों का भक्ति भाव में समावेश होता है। इस प्रकार से अनेक संचारी भाव तथा अन्य रसों के स्थायी भाव भी ईश्वरानुरक्ति भाव के चारों ओर जमा हो जाते हैं और उसे उत्कट रूप में आस्वाद्य बनाते हैं।[1] इसी प्रकार साहित्यशास्त्र के अनुसार भी भगवद् रति स्थायी भाव सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति में अपने से श्रेष्ठ के प्रति आदर, किसी बलवान् की शरण में जाने की इच्छा, गूढ़ तत्त्व विषयक जिज्ञासा, उदात्तता के प्रति आकर्षण, अद्भुत के प्रति विस्मय आदि भावनाएँ जन्मजात होती हैं। इन सभी भावनाओं को परमेश्वर जैसा विषय मिलते ही वे उसके चारों ओर केन्द्रित हो जाती हैं जिससे व्यक्ति के मन में एक स्थायी भाव बन जाता है। इसी को हृदयस्थ स्थायी भाव कहते हैं।[2] अतः स्पष्ट है कि भगवद् रति भाव मानसशास्त्र और साहित्यशास्त्र दोनों के आधार पर स्थायी भाव के योग्य सिद्ध होता है। यही भगवद् रति स्थायी भाव विभाव अनुभाव, संचारी आदि द्वारा परिपुष्ट होकर रस दशा तक पहुँचता है।

कुछ विद्वान् भक्ति रस का शृंगार अथवा शान्त रस में अन्तर्भाव करने के पक्ष में हैं। शृंगार रस और भक्ति रस में स्पष्ट अंतर है। एक में रति का आलम्बन लौकिक नायक है और भक्ति रस में रति का आलम्बन स्वयं रस रूप भगवान् हैं। अतः आलम्बन भेद के कारण दोनों रसों को एक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शान्त रस और भक्ति रस में मौलिक अन्तर है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद अर्थात् सांसारिक विरक्ति है, किन्तु भक्ति रस का स्थायी भाव है भगवान् के प्रति प्रेम या अनुरक्ति। दोनों में वही अन्तर है जो ज्ञान और भक्ति में है। एक निवृत्ति मार्ग का पोषक है और दूसरी भक्ति प्रवृत्ति मार्ग की। निर्वेद में सांसारिक विरक्ति पर बल है और भगवद् रति में विरक्ति को स्वीकार करते हुए भी अनुरक्ति पर बल दिया गया है। दोनों का यह अन्तर श्री चन्द्रबली पाण्डेय के इस कथन से बिल्कुल

१. रस-विमर्श : पृ० २८२
२ वही : पृष्ठ २८४

स्पष्ट हो जाता है—**'अनुरति के अतिरिक्त जब हम परमात्मा के अनुध्यान में मग्न होने के लिए शेष सृष्टि से उदासीन हो कुछ-कुछ आत्मग्लानि में पड़ जाते हैं, और हममें निर्वेद छा जाता है, तब हम शान्त भाव के उपासक हो जाते हैं। और परमात्मा का साक्षात्कार किसी निर्विकल्प रूप में करना चाहते हैं, किसी लीला विस्तारी रूप में नहीं।'**[1] अतः स्पष्ट है कि भक्ति रस शृंगार और शान्त रस से भिन्न एक स्वतन्त्र रस है। इसी मान्यता की पुष्टि राम-दहीन मिश्र ने अपने काव्य-दर्पण में की है।[2]

आस्वाद्यता और प्रभाव की दृष्टि से भक्ति रस अन्य शृंगारादि की अपेक्षा बलवत्तर सिद्ध होता है। इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने भगवद् विषयिणी रति को भाव मानने का प्रत्याख्यान करते हुए स्पष्ट कहा है कि भक्ति रस सूर्य के समान है और अन्य रस खद्योत के समान है—

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथोज्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥
देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्द प्रकाशनात्।
तद्योज्यं, परमानन्दरूपे न परमात्मनि॥
कान्तादि विषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्य प्रभेव बलवत्तरा॥[3]

यही आशय मराठी विद्वान् प्रो० केलकर की इस उक्ति से निकलता है—**'मानवसंस्कृतीच्या विकासांत ज्या भावना संस्कारपरंपरे नें दृढ़ झाल्या आहेत त्यांत ईश्वर विषयक भक्ति ही एक जोरदार भावना आहे।.....यास्तव भक्तीची भावना रसपदवीस पात्र होय असें मानणे युक्त होय।'**[4] भक्ति रस की इसी अस्वाद्यता और प्रभाव के आधार पर ही हिन्दी के आधुनिक काव्य-शास्त्रियों ने भक्ति रस को स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष का समर्थन किया है। इनमें से अयोध्यासिंह उपाध्याय[5] और कन्हैयालाल पोद्दार[6] का नाम उल्लेखनीय है।

---

१. साहित्य संदीपनी : पृष्ठ २
२. पृष्ठ २१२
३. भक्तिरसायन : द्वितीय उल्लास : श्लोक ७५-७८
४. काव्यालोचन : पृष्ठ १५७
५. रसकलश २०२-२०६
६. संस्कृत साहित्य का इतिहास : पृष्ठ ६८-७१

सूर-साहित्य के भक्ति-तत्त्व प्रकरण में किये गए भक्ति रस के विवेचन से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी भी भक्ति रस के समर्थक प्रतीत होते हैं ।[1] इस बात की पुष्टि उनके 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'[2] और 'मध्यकालीन धर्म साधना' नामक ग्रन्थों से भी होती है । 'मध्यकालीन धर्म-साधना' में तो उन्होंने स्पष्ट कहा हैं—**'आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति रस है, जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से रसास्वादन करते हैं । मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है ।'**[3]

रूपगोस्वामी ने कृष्ण-भक्त होने के कारण भक्ति रस के स्थान पर कृष्ण-भक्ति रस का हरिभक्तिरसामृत सिन्धु के दक्षिण भाग में सागोपांग विवेचन किया है । उनके अनुसार कृष्ण और कृष्ण-भक्त इस रस के आलम्बन विभाव हैं । कृष्ण के गुण, चेष्टा, प्रसाधन, वंशीनाद, शृंगनाद, नूपुर-वादन आदि क्रियाएँ और पद-चिह्न, तुलसी-क्षेत्र तथा भक्तों के निवास-स्थान उद्दीपन विभाव हैं । कृष्ण रति के उद्‌बुद्ध हो जाने पर भक्त में दृष्टिगत होने वाली नृत्य, गीत, हुँकार, जृम्भण, जमीन पर लोटना, श्वास-प्रश्वास, लोक के प्रति उपेक्षा भाव आदि क्रियाएँ अनुभाव हैं । कृष्ण-सम्बन्ध अथवा उनसे मिलन में व्यवधान होने पर जो सत्त्वोद्रेक होता है उससे स्वतः उत्पन्न भाव सात्त्विकी भाव कहलाते हैं । स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु आदि साहित्य-शास्त्रियों के आठ सात्त्विकी भाव कृष्ण-भक्त में भी पाये जाते है । इसी प्रकार कृष्ण-भक्ति रस मे निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि आदि तैतीस सचारी भाव काव्य-शास्त्रानुमोदित हैं । इन विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी भाव तथा संचारी से परिपुष्ट हो कृष्ण रति स्थायी भाव रस-दशा तक पहुँचता है ।

भक्ति रस के भेद

रूपगोस्वामी के अनुसार कृष्ण रति दो प्रकार की है—मुख्या और गौणी । शुद्ध-सत्त्व युक्त अर्थात् प्रेममयी रति मुख्या रति है ।[4] इसके विपरीत गौणी रति में कृष्ण रति गौण और हास, शोक आदि भाव प्रधान होते हैं ।[5] कृष्ण रति के उक्त दो भेदों के आधार पर कृष्ण-भक्ति रस भी मुख्य और गौण दो

१. सूर-साहित्य : पृष्ठ ३६ से ४१ तक

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका : पृष्ठ ८०

३. पृष्ठ २१६ ।

४. शुद्धसत्त्वविशेषात्मा रतिर्मुख्येति कीर्त्तिता ।— हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : २-५-३

५. विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते ।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते ॥ —वही : २-५-३१

प्रकार का माना गया है। इनमें से मुख्य भक्ति रस के पाँच भेद हैं—शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल और मधुर। इसी प्रकार गौण कृष्ण-भक्ति रस रूपगोस्वामी के अनुसार हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स—इन सात प्रकार का है।[1] तात्पर्य यह है कि काव्य-शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत सभी रसों का समावेश कृष्ण-भक्ति रस में करने की चेष्टा यहाँ की गई है। किन्तु यदि विचार किया जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि वास्तव में भक्ति भाव की दृष्टि से पाँच मुख्य भक्ति रसों को ही भक्ति रस के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। भक्त-भावानुसार भक्ति रसास्वादन के यही पाँच प्रकार हैं। इनमें से भाव-तीव्रता की दृष्टि से मधुर भक्ति रस सर्वश्रेष्ठ माना गया है। माधुर्य्य भक्ति का साहित्यिक आधार यही मधुर रस है।

मधुर भक्ति रस

रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' में अन्य भक्ति रसों के साथ मधुर भक्ति रस की भी चर्चा की है। किन्तु इस ग्रन्थ में इस रस का वर्णन अत्यधिक संक्षिप्त है, जिससे इसकी उत्कृष्टता, महत्व और भक्तिराजत्व सिद्ध नहीं होता। अतः रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ में मधुर रस पर विस्तार से विचार किया है।

मुख्यरसेषु पुरा यः संक्षेपेणोदितो रहस्यत्वात्।
पृथगेव भक्तिरसराट् स विस्तरेणोच्यते मधुरः॥[2]

हम इसी ग्रन्थ के आधार पर भक्ति रस के मधुराख्य भेद को समझने का प्रयास करेंगे। विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी भाव और संचारी भाव से परिपुष्ट मधुर रति स्थायी भाव द्वारा भक्त को जिस भक्ति रस की अनुभूति होती है उसी को मधुर भक्ति रस कहा गया है—

वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः स्वाद्यतां मधुरा रतिः।
नीता भक्तिरसः प्रोक्तो मधुराख्यो मनीषिभिः॥[3]

आलम्बन विभाव

कृष्ण : मधुर रस का आलम्बन विभाव कृष्ण और उसकी प्रियतमा

१. मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा : ॥
हास्योऽद्भुतस्तथा वीर : करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ॥ ह० र० सि० २।५।६६-६७

२. उज्ज्वलनीलमणि : पृष्ठ ४

३. उज्ज्वलनीलमणि : पृष्ठ ५

हैं। कृष्ण सुरम्य, मधुर, सर्वलक्षणयुक्त, बलशाली, नवकिशोर, प्रियंवद, सुधी, प्रतिभावान्, धीर, विदग्ध, चतुर, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेम के वशीभूत, गम्भीरता के सागर, कीर्तिमान्, नारी-मोहन, नित्यनवीन, केलि-सौन्दर्य पूर्ण, वंशी निनाद चतुर आदि सभी शृंगार रसोचित गुणों से युक्त हैं।[1] कृष्ण एक ओर रुक्मिणी आदि के पति हैं और दूसरी ओर राधा आदि गोपियों के उपपति भी हैं। पति और उपपति—दोनों होने के कारण उनमें अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—सभी प्रकार के नायकों की स्थिति स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त नाट्य शास्त्र में स्वीकृत नायक के धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत ये चारों भेद भी कृष्ण पर घटित होते हैं। कृष्ण मे इन विरोधी भावों की स्थिति का कारण स्पष्ट करते हुए रूपगोस्वामी ने कहा है कि कृष्ण शृङ्गार रस-सर्वस्व हैं और उन्होंने केवल भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए नराकार देह धारण किया है अतः उनमें सभी प्रकार के विरोधी गुण सम्भव हैं।[2] इन सभी गुणों को उज्ज्वलनीलमणि में सोदाहरण स्पष्ट किया गया है।

हरिप्रिया : कृष्ण-प्रियाओं के मुख्य दो भेद हैं—स्वकीया और परकीया। कृष्ण की स्वकीया सोलह सहस्र हैं। किन्तु इनमें से आठ मुख्य हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, यमुना, शैव्या, भद्रा, कौशल्या, और माद्री। परकीया कृष्ण-प्रियाएँ दो प्रकार की हैं—कन्या और परोढ़ा अर्थात् अन्य से विवाहिता। इनके कई भेद-प्रभेदों का वर्णन रूपगोस्वामी ने किया है। परकीया-प्रियाओं में से कृष्ण की नित्यप्रिया चन्द्रावली और राधा श्रेष्ठ हैं। ये कृष्ण की तरह नित्य-सौन्दर्य, वैदग्ध आदि गुणों के युक्त हैं। इनमें भी प्रेम की महाभाव रूपा (सर्वश्रेष्ठ दशा प्राप्त) और गुणों में सर्वश्रेष्ठ राधा अग्रणी हैं।[3] अतः रूपगोस्वामी ने राधा के ही गुणों का विस्तार से वर्णन किया है।

वृन्दावनेश्वरी राधा मधुरा, नववया, उज्ज्वलस्मिता, चारुसौभाग्यरेखाढ्या,

---

१. उज्ज्वलनीलमणि : पृष्ठ ८

२. पूर्वोक्तधीरोदात्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदावित्र विश्रुतौ॥
शृंगाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम्।
अंगीकृत नराकारमाश्रये भुवनाश्रयम्॥
अनुकूलदक्षिणशठा धृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते।
प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तभिरमी वृत्त्या।—वही : पृष्ठ ६ तथा ३०—३१

३. तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाधिका।
महाभाव स्वरूपेयं गुणैरतिवरीयसी॥ —वही : पृष्ठ ७३

रम्यवाक्, विनीता, करुणापूर्णा, विदग्धा, लज्जाशीला, मर्यादाधारिणी, धैर्यशालिनी, गाम्भीर्यशालिनी, सखीप्रणयाधीना आदि विशेषताओं से युक्त है।[1] राधा की इन सभी विशेषताओं को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने के बाद रूपगोस्वामी ने नाट्य शास्त्र के अनुकरण पर नायिका के अवस्थानुसार मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा—इन तीन भेदों की चर्चा की है। इसके साथ नायिका-दशा-भेद के आधार पर अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खंडिता विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका और स्वाधीन-भर्तृका आदि नायिकाओं का भी उल्लेख किया है। जिस प्रकार कृष्ण पर नायक के सभी भेद घटित होते हैं, उसी प्रकार नायिका के सभी प्रकार के भेदों को राधा पर घटाया गया है।[2]

विभाव पक्ष में नायक-नायिका रूप में कृष्ण और राधा के स्वरूप को स्पष्ट करने के साथ-साथ इनकी शृंगार-लीलाओं में सहायक सखा-सखी आदि की भी चर्चा की गई है। कृष्ण की मधुर लीलाओं के पाँच सहायक हैं—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसखा। राधा की सखियों में ललिता, विशाखा, सचित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई सखियाँ और दूती राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं में सहयोग देती हैं। इन सभी का स्वभाव, स्वरूप और क्रियाएँ भिन्न-भिन्न हैं, जिनका विस्तार से वर्णन उज्ज्वलनीलमणि में मिलता है।

उद्दीपन विभाव

इस प्रकार उद्बुद्ध मधुर रति स्थायी भाव को आलम्बन के गुण, चरित्र और मण्डन (शृंगार) उद्दीप्त करते हैं। इनके अतिरिक्त उद्दीपन विभाव के सम्बन्धी और तटस्थ नामक दो अन्य प्रकार भी माने गए हैं।[3] आलम्बन के गुण मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रकार के है। कृतज्ञता, करुणा आदि मानसिक गुण हैं, कानों को सुमधुर लगने वाली शब्दावली आदि वाचिक गुण हैं और वय, रूप-लावण्य, सौन्दर्य, माधुर्य, मार्दव आदि कायिक गुण हैं। श्रीकृष्ण के विभिन्न नाम दूसरे प्रकार के उद्दीपन विभाव हैं। चरित्र नामक उद्दीपनों में श्रीकृष्ण की रास, वेणु-वादन, गोदोहन, नृत्य आदि लीलाओं का परिगणन किया गया है। वस्त्र, भूषण, मालाओं का धारण और अनुलेपन

१. उज्ज्वलनीलमणि पृष्ठ ७८

२. दृष्टव्य उज्ज्वलनीलमणि : पृष्ठ १०८—१४८

३. उद्दीपना विभावा हरेस्तदीयप्रियाणां च।
कथिता गुणनामचरित्रमण्डनसंबन्धिनस्तटस्थाश्च। वही : पृष्ठ २६४

मण्डन, उद्दीपन हैं। सम्बन्धी उद्दीपन दो प्रकार के हैं—लग्न और संनिहित। लग्न में वंशीरव, सौरभता, भूषण-क्वण, पदांक आदि आते है और संनिहित के अन्तर्गत लगुड़, वेणु, वृन्दावन और उसके आश्रित खग, मृग, शृंग, कुंज, लता, कदम्ब, यमुना, रासस्थली आदि का परिगणन होता है। इसके अतिरिक्त चन्द्रिका, मेघ, विद्युत, वसन्त, शरत्, पूर्णिमा, गंधवाह आदि तटस्थ उद्दीपन माने गए हैं।

अनुभाव

अनुभाव तीन प्रकार के है—अलंकार, उद्भास्वर और वाचिक। यौवन काल में स्वतः सत्वजात अलंकार बीस हैं। इनमें तीन हाव, भाव और हेला अंगज है, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य्य, प्रगल्भता और धैर्य अयत्नज अलंकार है तथा लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित्, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विकृत ये स्वभावज अलंकार हे। भाव को उद्भासित करने वाले अनुभाव उद्भास्वर है। नीवी, उत्तरीय, कबरी आदि का शिथिल होना, अंगभंगी, जृम्भा, श्वास फूलना आदि इसी प्रकार के अनुभाव है। वाचिक अनुभाव आलाप, सलाप, विलाप, प्रलाप, अनुलाप[1], अपलाप[2], संदेश, अतिदेश[3], अपदेश[4], उपदेश, निर्देश, व्यपदेश[5]—ये बारह माने गए है। इन सभी को रूपगोस्वामी ने सोदाहरण स्पष्ट किया है।

सात्त्विकी भाव

नाटचशास्त्र में स्वीकृत स्तम्भ, स्वेद, रोमांच आदि आठ सात्त्विकी भाव चार वर्गों में विभाजित है—धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त। इनमें से उद्दीप्त सात्त्विकी भाव जिन्हें कहीं-कही सूद्दीप्त कहा गया है श्रेष्ठ है। सात्त्विकी भावों का कारण हर्ष, भय, विषाद, आश्चर्य आदि माने गए हैं।

संचारी भाव

रस शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत निर्वेदादि तैंतीस व्यभिचारी भावों में से मधुर भक्ति रस में आलस्य और उग्रता को छोड़कर शेष सभी स्वीकार किये गए हैं। इन सभी के कारणों पर 'उज्ज्वलनीलमणि' में उचित प्रकाश डाला

---

१. अनुलापो मुहुर्वचः। वही : पृष्ठ ३२४
२. अपलापस्तु पूर्वोक्तस्यान्यथा योजनं भवेत्। वही : पृष्ठ ३२४
३. सोऽतिदेशस्तदुक्तानि मदुक्तानीति यद्वचा। वही : पृष्ठ ३२६
४. अन्यार्थकथनं यतु सोऽपदेश इतीरितः। वही : पृष्ठ ३२६
५. व्याजेनात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीर्यते। वही : पृष्ठ ३२८

गया है। उदाहरण के लिए विषाद इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, विपत्ति और अपराध जन्य है तथा गर्व सौभाग्य, रूप, गुण, सर्वोत्तम आश्रय और इष्टलाभ से उद्भूत है।

उक्त विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी भाव द्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रति स्थायी भाव रसिक भक्त के हृदय में रसदशा को प्राप्त होता है। रस-दशा प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में राधा-कृष्ण और उनकी मधुर-लीलाओं से इतर केवल लीला-जन्य अखंड आनन्दमयी चेतना अवशिष्ट रह जाती है। और भक्त सदा इसी अखंड आनन्द मे निमग्न रहना चाहता है। शृंगार रस की भाँति मधुर भक्ति रस के भी संयोग और वियोग दो पक्ष स्वीकार किए गए हैं। रूपगोस्वामी ने मधुर भक्ति रस के इन दोनों पक्षों की विस्तार से उदाहरण सहित चर्चा की है।

मधुर भक्ति रस के परिपाक को हम गोस्वामी हितहरिवंश के निम्न पद के द्वारा समझ सकते हैं—

सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।
नव-नव घन अनुराग परस्पर खेलत कुंवरि नागरी नायक॥
शीतल हंस सुता रस बीचिनि परस पवन सीकर मृदु बरषत।
वर मन्दार, कमल, चंपक कुल सौरभ सरस मिथुन मन हरषत॥
सकल सुधंग बिलास परावधि नाचत, नवल मिले सुर गावत।
मृगज, मयूर, मराल, भ्रमर, पिक, अद्भुत कोटि मदन शिर नावत॥
निर्मित कुसुम शैन, मधु पूरित भाजन कनक निकुंज विराजत।
रजनी मुख सुख रासि परस्पर, सुरत समर दोऊ बल साजत॥
विट कुल नृपति किशोरी कर धृत बुधि बल नीवी बन्धन मोचत।
नेति नेति बचनामृत बोलत, प्रणय कोप प्रीतम नहिं सोचत॥
जै श्री हितहरिवंश रसिक ललितादिक लता-भवन अवलोकत।
अनुपम सुख भर भरित विवस अस, आनन्द वारि कण्ठ दृग रोकत॥[1]

इस पद में राधा-कृष्ण के विहार का वर्णन है। यमुना का पुलिन, वहाँ शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन बह रही है, नाना प्रकार के फूल खिले हैं और विविध पक्षी कूजन कर रहे हैं। इस प्रकार के उद्दीपक वातावरण में मधुर रति स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर तीव्रतम रूप धारण कर लेता है। जिसका परिणाम है कृष्ण का नीवीबन्धन मोचन करना और राधा का 'प्रणय-कोप'।

---

१. हित चौरासी : पद-संख्या ७२

यही अनुभाव हैं। राधा के 'नेति नेति' वचन से व्यंजित व्रीड़ा संचारी भाव है। भक्त के लिए राधा-कृष्ण आलम्बन विभाव हैं। इनकी क्रीड़ा को देखकर सत्वोद्रेक द्वारा उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसी का वर्णन गो० हितहरिवंश ने अन्तिम पंक्ति में किया है।

मधुर भक्ति रस की विलक्षणता

'उज्ज्वलनीलमणि' में मधुर भक्ति रस की निष्पत्ति का जो विवरण प्रस्तुत कियागया है, उसका आधार काव्य-शास्त्र हैं। और इस रस-निष्पत्ति के प्रसंग को पढ़कर यही प्रतीत होता है कि मधुर भक्ति रस का परिपाक भी शृंगारादि काव्य रसों के समान होता है। किन्तु यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि मधुर भक्ति रस की निष्पत्ति में अन्य रसों से कुछ अन्तर है। भक्ति रस के सभी भेदों में और विशेषतः मधुर भक्ति रस में साधारणीकरण के लिए कवि-प्रतिभा-जनित विभावन-व्यापार को स्वीकार नहीं किया गया। यहाँ विभावादि का स्वरूप ही ऐसा बताया गया है कि समान वासना वाले भक्त के हृदय में वे स्वयं विभावित हो जाते हैं। वास्तव में भक्त और भगवान् के बीच एक मधुर आत्मीय सम्बन्ध स्थापित रहता है जिसके कारण वह अपने-पराए का भेद भूलकर भगवत्प्रेम-रस का निर्विघ्न आस्वादन कर सकता है। काव्य के क्षेत्र में इस सम्बन्ध की कल्पना नही की जा सकती। अतएव वहाँ कवि-प्रतिभाजनित विभावन-व्यापार की आवश्यकता रहती है।'

शृंगारादि काव्य रसों से भक्ति रस अथच मधुर भक्ति रस की अन्य विलक्षणता यह है कि जहाँ प्रथम केवल सामाजिक निष्ठ है वहाँ भक्ति रस भक्त निष्ठ होने के साथ-साथ भगवन्निष्ठ भी है। काव्य रस में विभाव (आलम्बन-नायक अथवा नायिका) केवल रति को उद्बुद्ध करने के कारण है। स्पष्ट है कि नायक-नायिका आदि विभाव स्वयं उस रस की अनुभूति नहीं करते जिसकी अनुभूति वे अपने कुशल प्रदर्शन के द्वारा सामाजिक को करवाते हैं। इसी प्रकार नायक-नायिका जिनका अनुकरण करते हैं उस अनुकार्य में भी रस की स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। उनका रस काव्य रस नहीं केवल लोक रस अर्थात् भाव मात्र है। अतः स्पष्ट है कि शृंगारादि काव्य रस केवल सामाजिक निष्ठ हैं। इसके विपरीत भक्ति रस अनुकार्य निष्ठ भी होता है—क्योंकि भगवान् स्वयं रस रूप हैं। इसी रस-रूपता के कारण श्रीकृष्ण की रति-लीलाओं का कारण विभावादि नहीं वरन् रस माना जाता है—'नायक

१. 'श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य'—ले० ललिताचरण गोस्वामी : पृष्ठ १००

तहाँ न नायिका रस करवावत केलि।' हाँ भक्त के लिए कृष्ण और राधा आलम्बन विभाव हैं। इसलिए भक्त की मधुरा रति की परिपुष्टि में राधा-कृष्ण के अनुभाव और व्यभिचारी भाव कारण रूप हैं। इस प्रकार भक्ति रस अथच मधुर भक्ति रस एक ओर भगवन्निष्ठ (अनुकार्य निष्ठ) सिद्ध होता है और दूसरी ओर भक्तनिष्ठ। यदि भगवान् को रसरूप होने के कारण आलम्बन विभाव न स्वीकार किया जाए, जैसा कि कुछ विद्वानों की मान्यता है,[1] तो भक्ति रस केवल भगवन्निष्ठ ही रहेगा—भक्तनिष्ठ नहीं। भक्त भगवान् की भाँति रसरूप नहीं है। इस कारण उसके भगवद् रति स्थायी भाव को उद्बुद्ध एवं पुष्ट करने के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की आवश्यकता सदा बनी रहेगी और ऐसी स्थिति में विभावादि कारण ही कहे जायेंगे, चाहे उनका मूल स्वरूप कुछ ही क्यों न हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शृंगारादि काव्य रस चिन्मय, स्वप्रकाश आदि होते हुए भी नित्य नहीं है। काव्य रस की निष्पत्ति कवि-प्रतिभा-जनित विभावन व्यापार वा साधारणीकरण पर निर्भर है। यह व्यापार अलौकिक भले ही हो किन्तु कवि-प्रतिभा-जन्य होने के कारण नैसर्गिक नहीं कृत्रिम है। यही कृत्रिमता काव्य रस की अनित्यता का प्रमुख कारण है। काव्य रस के अतिरिक्त लोक रस (शृंगारादि भाव) भी संकुचित सीमाओं एवं अंतरायों के कारण क्षणिक एवं अनित्य हैं। किन्तु इनके विपरीत भक्ति रस कृत्रिमता और संकुचितता—दोनों से मुक्त है। और मधुर भक्ति रस अपरिमित, अलौकिक तथा अन्तराय-शून्य होने के साथ नित्य-मधुर और परमोज्ज्वल है। इसीलिए उसे मधुर रस के अतिरिक्त उज्ज्वल रस नाम भी प्राप्त हुआ है। मधुर भक्ति रस की नित्यता का समर्थन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी किया है। उनके विचार में **'मधुर रस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत की वस्तु नहीं है। उसके विभावादि का कभी विलय नहीं होता, इसलिए उसके लिए सम्भवासम्भव प्रसंग उठता ही नहीं।'**[2]

वृन्दावन रस

राधावल्लभ सम्प्रदायी विद्वानों ने मधुर भक्ति रस की चर्चा वृन्दावन रस के रूप में की है।[3] वृन्दावन रस में रूपगोस्वामी विवेचित उज्ज्वल रस से दो

---

१. वही : पृष्ठ १०१

२. 'मध्यकालीन धर्म साधना' : पृष्ठ २१६

३. 'श्रीहितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य'—ले० ललिताचरण गोस्वामी पृष्ठ १०५

विशेषताएँ स्वीकार की गई हैं। प्रथम विशेषता का आधार स्थूल संयोग और वियोग की स्थिति से रहित नित्य विहार का सिद्धान्त है। नित्य विहार में राधा और कृष्ण को दोनों संयोग और वियोग परक रसों की एक साथ अनुभूति होती है। अतः इस पूर्णता के आधार पर राधावल्लभ सम्प्रदाय के विद्वान् वृन्दावन रस को श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं। भजनदास का निम्न दोहा इसी वृन्दावन रस को सूचित करता है—

मिले अनमिले रहत बिवि अंग अंग अकुलाइ।
प्रेमहि विरह सरूप जहाँ यह रस कह्यो न जाइ॥

वृन्दावन रस की दूसरी विलक्षणता राधा-कृष्ण (नायिका-नायक) के प्रेम की समता पर आधारित है। गो० हितहरिवंश ने हित चौरासी के कुछ पदों में **'समतूल पिय नागरी'** कहकर दोनों के प्रेम की समानता का भाव सूचित किया है। किन्तु रूपगोस्वामी के प्रेम-निरूपण में राधा-कृष्ण के प्रेम में इस प्रकार की समता लक्षित नहीं होती। उनके अनुसार प्रेम की सर्वोच्च स्थिति महाभाव की अवस्था है। प्रेम तीव्रता की दृष्टि से महाभाव के रूढ़ और अधिरूढ़ दो भेद हैं। अधिरूढ़ महाभाव मोदन और मादन दो प्रकार का है। मोदन दशा तक श्रीकृष्ण और राधा दोनों की स्थिति है, किन्तु मादन दशा तक केवल राधा का प्रेम पहुँच पाता है।[1] इसी आधार पर वृन्दावन रस के प्रतिपादक विद्वानों का कहना है कि राधा-कृष्ण के प्रेम की इस विषमता के कारण उज्ज्वल रस में आनन्द की पूर्णता नहीं है।

उपर्युक्त दोनों विशेषताओं पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि वृन्दावन रस की ये विशेषताएँ केवल सम्प्रदाय विशेष के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। इनसे मधुर भक्ति रस की विलक्षणता की कोई विशेष पुष्टि भी नहीं होती। अतः इनका महत्त्व केवल सम्प्रदायिक दृष्टि से माना जा सकता है।

मधुर रस की आस्वादन योग्यता

उपर्युक्त विवेचन द्वारा मधुर भक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट कर देने के उपरान्त यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि मधुर भक्ति रस की आस्वादन योग्यता सभी सामाजिकों में नहीं होती। काव्यशास्त्रियों के अनुसार रसास्वादन दो बातों पर निर्भर है—(१) समाज

---

१. सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥ —उज्ज्वलनीलमणि : पृष्ठ ४९९

की स्थिति पर तथा (२) कवि की सवेदनात्मक शक्ति पर। इन दोनों में से किसी एक के भी अभाव में रसास्वादन सम्भव नहीं है। इसीलिए रस को सहृदय-संवेद्य मानते हुए भी कवि की अनुभूति-तीव्रता का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है। अतः इन्हीं दो बातों के आधार पर हम मधुर रस की आस्वादन योग्यता का निर्णय कर सकते हैं।

सूरदास, गो० हितहरिवंश आदि के मधुर-लीला-परक पद पढ़कर पाठक को अवस्था भेद से दो प्रकार के रसों की अनुभूति होती है। जिन पाठकों की रति भगवद्-भावापन्न नहीं है वे कृष्ण और राधा को सामान्य नायक-नायिका के रूप में तथा कवि की मूल-अनुभूति मधुरा रति को सामान्य रति के रूप में ग्रहण कर शृंगार रस का आस्वादन करेंगे और दूसरे भक्त-पाठक उन्हीं पदों को पढ़कर मधुर रस का आस्वादन करेंगे। यह रस-भिन्नता केवल सामाजिक की स्थिति-भेद के कारण होती है। अतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार शृंगारादि काव्य-रसों के आस्वादन के लिए सामाजिक की कसौटी सहृदयता है उसी प्रकार मधुर रस के आस्वादन के लिए सहृदय पाठक का भगवद् भावापन्न होना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार के भक्त को ही सम्प्रदायिक शब्दावली में 'रसिक' कहा गया है। भगवत् निष्ठा को दृढ़तम रूप देने के लिए माहात्म्य-ज्ञान सर्वोत्तम साधन है। मधुर-प्रेम की आदर्श रूपा गोपियों में भी देवर्षि नारद ने माहात्म्य-ज्ञान की स्थिति मानी है।[1] तात्पर्य यह है कि भक्त की भगवत् निष्ठा जितनी दृढ़ होगी उतनी ही तीव्र अनुभूति उसे मधुर रस की हो सकेगी।

सामाजिक की स्थिति के अतिरिक्त कवि की निजी अनुभूति अथवा संवेदनात्मक शक्ति का भी रसास्वादन में महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति के सभी पदों को पढ़कर मधुर रस का आस्वादन भक्त को नहीं हो सकता। इसका मात्र कारण यही है कि वहाँ अनुभूति की तीव्रता का अभाव है—अतः उन्हें पढ़कर भक्त को तन्मयता प्राप्त नहीं होती। किन्तु ब्रजभाषा के मीराबाई, सूरदास, हितहरिवंश, श्रीभट्ट, ध्रुवदास, बिहारिनदेव आदि ऐसे अनेक कवि हैं जिनके पदों को पढ़कर सभी रसिक भक्तों को रस की समान अनुभूति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मधुर रस की अनुभूति में काव्य रसों की तुलना में सामाजिक का भगवद् भावापन्न होना विशेष कसौटी है।

---

१. तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवाद :। भक्ति-सूत्र २२

माधुर्य्य भक्ति का मनोवैज्ञानिक आधार

भक्ति के स्वरूप पर विचार करने वाले सभी आचार्यों तथा भक्तों ने बाह्याचारों की अपेक्षा भक्ति के मानसिक पक्ष का अधिक महत्त्व स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में भक्ति में स्वीकृत कायिक आचार केवल भगवत्प्रेम की प्राप्ति का साधन हैं। अतः जहाँ भक्त इस तथ्य को भूलकर अपने को केवल भक्ति के बाह्याचारों तक केन्द्रित कर लेता है वहाँ भक्ति प्रदर्शन मात्र रह जाती है। मधुरा भक्ति में तो बाह्याचारों का आलम्बन भक्त की दृष्टि को सीमित बना देने के कारण उसके पतन में सहायक होता है। स्पष्ट है कि मधुरा भक्ति में भक्तों का ध्यान भगवत्प्रेम की तीव्रता की ओर रहता है—उसकी प्राप्ति के साधन बाह्याचारों की ओर नहीं। इसी स्थिति में उसके मन का विकास सम्भव है।

भक्ति के मानसिक पक्ष का विवेचन मुख्यतः दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक इन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। किन्तु मन के स्वरूप और विकास-क्रम का वास्तविक परिचय प्राप्त करने के लिए दर्शन और मनोविज्ञान दोनों की ही आवश्यकता है। केवल एक के आधार पर किया गया विवेचन सर्वांगीण नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि दार्शनिकों के विवेचन में जहाँ हमें मनोविज्ञान का आश्रय लक्षित हो जाता है वहाँ मनोवैज्ञानिक भी मानसिक विश्लेषण और स्वरूप-निर्धारण में दर्शन के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर लेते है। इसी अर्थ में दर्शन और मनोविज्ञान एक दूसरे के सहायक एव पूरक हैं। इस बात को पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है।[1] युग के अनुसार भी दर्शन की उपेक्षा फ्रॉयड की सबसे बड़ी त्रुटि थी।[2] फिर भी दर्शन और मनोविज्ञान का कार्यक्षेत्र और कार्य करने का ढग एक दूसरे से स्वतन्त्र है। माधुर्य्य भक्ति के दार्शनिक आधार की चर्चा हम ऊपर कर आये है। अतः यहाँ हम उसके मनोवैज्ञानिक आधार पर विचार करेंगे।

---

१. Psychology is inevitably bound up with philosophy and religion ····· East has specialised for centuries in just this line of investigation and has collected a vast store of knowledge...
—*Sane Psychology for sane people* : Psychology : London Uni. 1951.

२. It was a great mistake on Freud's part to turn his back on philosophy.—***Modern Man in search of soul*** : page 15.

भारत में मनोवैज्ञानिक अध्ययन

मनोविज्ञान शास्त्र को पश्चिम की देन स्वीकार किया जाता है। भारत में प्राचीन काल में इस विषय पर अध्ययन प्रायः नहीं हुआ। प्राचीन ऋषियों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिये मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का यत्र तत्र उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से उस पर कुछ विचार करने की आवश्यकता उन्हें प्रतीत न हुई। इसी कारण भारत में मनोविज्ञान शास्त्र का स्वतन्त्र रूप से विकास न हो पाया। पर भारत में मनोविज्ञान का प्रचलन पश्चिम के सम्पर्क के कारण हुआ—यह कहना भी अधिक संगत नहीं है। उपनिषदों में ही ऐसे कई स्थल है जिनमें मानसिक प्रवृत्तियों के विश्लेषण और स्वरूप-निर्धारण की प्रवृत्ति लक्षित हो जाती है। यह बात सत्य है कि यहाँ दर्शन प्रधान है और मनोविज्ञान गौण—पर उसका अस्तित्व अवश्य है। अतः स्पष्ट है कि यदि मनोविज्ञान मानसिक प्रवृत्ति और प्रकृति के निरूपण करने वाला शास्त्र ही है[1] तो उसके मूल तत्त्व निश्चित रूप से उपनिषदों और बाद के दार्शनिक ग्रन्थों में खोजे जा सकते है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार मन की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। उनके विचार में मन अन्तःकरण का एक प्रमुख भाग है, जिसका कार्य इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण कर गृहीत प्रभाव को एकत्र करके उसे ज्ञान रूप देना है। तात्पर्य यह है कि मन अन्तःकरण का वह तत्त्व है जो बाह्य जगत् से इन्द्रियों और नाड़ियों द्वारा प्राप्त प्रभाव तथा चेतना का विश्लेषण करता है, परीक्षण करता है और उन्हें परस्पर सम्बद्ध कर ज्ञान रूप में प्रस्तुत कर देता है। आधुनिक मनोविज्ञान का विषय यही मन है। स्पष्ट है कि मन के कार्यों, सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाओं और उसके ज्ञान प्राप्ति के साधनों पर विचार करना ही मनोविज्ञान का कार्य क्षेत्र है।

इन्द्रियों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने साधना के क्षेत्र में मन का महत्त्व आरम्भ से स्वीकार किया है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'**—यह पंक्ति इसी तथ्य को सूचित करती है। मन की स्थिरता के सम्बन्ध में प्राचीन काल से विचार होता आया है। इस सम्बन्ध में पतंजलि के योग दर्शन में निरूपित—राजयोग की महत्ता सभी साधकों ने स्वीकार की है। उनके **'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'** इस सूत्र से स्पष्ट है कि मन पर नियन्त्रण योग-साधना का मूल मन्त्र है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों

---

१. Psychology is the positve science of mental processes and dispositions.—*Social Psyhology* : Thouless : P. 10.

ने इस प्रकार के नियन्त्रण को दमन बताते हुए हानिकर स्वीकार किया है। किन्तु भारतीय मनीषियों के अनुसार मन की स्थिति एक बालक के समान है। बालक सदा माता के भाव को भाँप कर स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करता है। नियन्त्रण के अभाव में वह उच्छृंखल हो जाता और जरा भी उस पर नियन्त्रण किया जाय तो वह संभल जाता है। इसलिये साधक के लिये मन का अनुशासन अत्यधिक आवश्यक है।

वस्तुतः यह मानसिक नियन्त्रण अथवा आत्म-संयम, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के दमन से सर्वथा भिन्न है। आत्म-संयम में चित्त-वृत्ति का निरोध केवल जीवन में आध्यात्मिक उन्नति की अभिलाषा से किया जाता है, जिससे कि सांसारिक विषयों में नष्ट होने वाली शक्ति का सदुपयोग हो सके। दमन में केवल निरोध है—उसका विकास में योग नहीं है। इसी कारण दमन के द्वारा अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु आत्मसंयम के द्वारा जब शक्ति का आध्यात्मिक विकास के लिए समुचित प्रयोग किया जाता है तब किसी प्रकार का मानसिक विकार उत्पन्न नहीं होता। वह परिवर्तन उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि पेड़ पर जब नये पत्ते आने लगते हैं, तो पुराने स्वतः झड़ जाते हैं किन्तु उनके झड़ने से किसी प्रकार की हानि पेड़ को नहीं होती। अतः सुख-प्राप्ति के लिये इस प्रकार का आत्म-संयम अत्यधिक आवश्यक है।[1]

भारतीय तत्त्व-चिन्तकों के अनुसार जागृत मन की चार अवस्थाएँ हैं—सुषुप्ति, स्वप्न, जागृति और तुर्या अथवा समाधि। प्रत्येक साधक का लक्ष्य मन की अन्तिम अवस्था समाधि तक पहुँचना है। इसी अवस्था में उसे भगवत्प्राप्ति का सुख प्राप्त होता है। पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों ने मन की समाधि अवस्था की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। उनके अध्ययन का विषय अचेतन मन (Unconscious) ही रहा है। किन्तु भारतीय मनीषी उसे मन की एक सबसे निम्न अवस्था स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार केवल मन की अचेतन अवस्था का अध्ययन मन का पूर्ण अध्ययन नहीं है। मन के समुचित अध्ययन के लिए उसकी सभी अवस्थाओं का क्रमिक अध्ययन करना आवश्यक है।[2] पाश्चात्य विद्वान् वस्तुतः मन की समाधि अवस्था को केवल भ्रम स्वीकार

---

१. *Hindu Psychology* : Akhilanand : Page 49-52.

२. We make bold to say that the western psychologists are mostly concerned with the different phases of mental functioning by taking them seperately and individually

करते हैं और इसी कारण उनका ध्यान मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के लिए अचेतन मन की ओर जाता है। किन्तु केवल अचेतन मन में सुप्त भावनाओं का विश्लेषण कर देने मात्र से मानसिक ग्रन्थियाँ सुलझ नहीं सकतीं। उनको केवल मन की एकाग्रता से सुलझाया जा सकता है और यही मानसिक एकाग्रता समाधि अवस्था तक पहुँचने का मात्र मार्ग है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि मन की अचेतनावस्था और समाधि अवस्था में जमीन-आसमान का अन्तर है। एक मन की जागृतावस्था से नीचे की अवस्था है और दूसरी जागृत अवस्था से ऊपर की। इसलिए दोनों को एक ही में मिलाना अन्धकार और प्रकाश को मिलाने की चेष्टा करना है। अचेतनावस्था में जीव ईश्वर की सत्ता से सर्वथा अपरिचित होता है किन्तु समाधि में वह ईश्वर में ही मिल जाता है।[1]

मन की इस पूर्ण एकाग्रता को सूचित करने वाली समाधि अवस्था तक पहुँचने के लिए योग-दर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ क्रमिक अंग स्वीकार किये गये है। ध्यान अवस्था जब दृढ़ हो जाती है तभी व्यक्ति समाधि दशा तक पहुँच पाता है। भारतीय चिन्तकों के अनुसार ध्यान कोई सुन्दर विचार अथवा कल्पना नहीं है। ध्यान मानसिक एकाग्रता की वह दृढ अवस्था है जिसमें कि मन अपने इष्ट का तैल-धारवत चिन्तन करता है। ध्यान के लिए इष्ट का चुनाव साधक अपनी सुविधानुसार दो रूप में कर सकता है—सगुण रूप में और निर्गुण रूप में किन्तु दोनों की चरम स्थिति में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। माधुर्य्य भक्ति का सम्बन्ध ध्यान की सगुणावस्था से है, जिस पर हम विस्तार से विचार ऊपर कर आये है। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने मन

---

in their experimental methods, while Hindu psychologists are primarily interested in the study of the total mind...

Hinau Psychology : Page 16

१. So the unconscious contents and superconscious experiences are as far apart as the two poles. One is below the development of consciousness, the other is above ordinary consciousness... To identify the superconscious state with the unconscious state is to mix darkneas and light. In one case man is completely oblivious of the existence of God, in the other case man is fully aware of the existence of God, nay identified with him. - *Hindu Psychology* : Page 169.

का जो विवेचन किया है वह कम महत्वपूर्ण नहीं है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के विविध पंथ

भारतीय मानसशास्त्र का आधार आध्यात्मिक साधना रही है—इसी कारण वह दर्शन की क्रोड़ में ही सदा खेलता रहा है किन्तु पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने इसे साधना परक दृष्टिकोण से प्रस्तुत नहीं किया। उनका दृष्टिकोण सर्वत्र ही भौतिक रहा है। मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों में भक्ति-भावना का क्या स्थान है। वह मनुष्य की जन्म-जात प्रवृत्ति है अथवा किन्हीं प्रवृत्तियों के संघर्ष अथवा सम्मिश्रण से उसका उदय हुआ है—इन सभी प्रश्नों पर पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने विचार किया है। किन्तु वहाँ भी कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसे अवश्य हैं जो कि केवल भौतिक आधार को मन की वृत्तियों के सम्यक् विवेचन के लिए पर्याप्त नहीं मानते। उनके मन मे भारतीय मनीषियों द्वारा गृहीत आध्यात्मिक आधार अध्ययन की पूर्णता के लिए आवश्यक है। पर आज के युग में मान्यता भौतिक आधार पर चलने वाले मनोवैज्ञानिकों को ही प्राप्त है। अतः माधुर्य्य भक्ति को उनके दृष्टिकोण से समझ लेना आवश्यक है।

पश्चिम में मानसशास्त्र का विकास मुख्यतः तीन पंथों के रूप में हुआ है—(१) मनुष्य के व्यापारों पर ही विचार करने वाले (Behaviourist) (२) मनुष्य के अचेतन मन पर विचार करने वाले और (३) मनुष्य के व्यापारों की सामाजिक रूप में व्याख्या प्रस्तुत करने वाले। प्रथम मत प्रवर्तक डा० वाट्सन तथा उनके अनुयायी मन का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार मनुष्य मन की प्रेरणा से कोई कार्य नहीं करता। वह तो एक यन्त्र की भाँति है—अतः उसका प्रत्येक कार्य यन्त्र की भांति स्वतः होता रहता है। स्पष्ट है कि इस पंथ के अनुयायियों का दृष्टिकोण बिल्कुल भौतिक धरातल पर आधारित है। मन की सत्ता स्वीकार न करने के कारण उसकी अचेतन अथवा चेतनावस्था पर विचार करना इनकी दृष्टि मे व्यर्थ है। भारतीय चार्वाकों के अनुसार **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** की नीति का अनुसरण करते हुए सांसारिक विषयों का सुखोपभोग ही इनके लिए सर्वस्व है। इस मत को आज कितनी मान्यता प्राप्त है—इस पर विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति को समझने के लिए इस मत के सिद्धान्तों से कोई लाभ नहीं हो सकता। ईश्वर के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचारकों का मत है—'ईश्वर केवल आलसी मनुष्यों द्वारा उत्पन्न

किया गया भ्रम है।' अतः यहाँ हम इस पंथ का इतना परिचय दे देना ही पर्याप्त समझते हैं।

दूसरा पंथ प्रसिद्ध चिकित्सक फ्रॉयड, एडलर और युंग के सिद्धान्तों पर आधारित है। चिकित्सक होने के कारण इन्होंने रोगियों की विभिन्न मानस-ग्रन्थियों को समझने का प्रयास किया और उन्हीं ग्रन्थियों का विश्लेषण करते हुए इन्होंने उन ग्रन्थियों के मूल तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। यद्यपि तीनों के दृष्टिकोण में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। फ्रॉयड केवल ग्रन्थियों का विश्लेषण करना ही रोग-मुक्ति का उपाय मानता है। एडलर के मत में रोगियों को विश्लेषण के उपरान्त विशिष्ट शिक्षा की आवश्यकता रहती है और युंग के अनुसार यह शिक्षा निश्चित ही धार्मिक शिक्षा होनी चाहिए।[1] किन्तु इस अन्तर के होते हुए भी तीनों का कार्यस्थल मन की अचेतन अवस्था (Unconscious) ही रही है—यद्यपि एडलर और युंग ने केवल उसी तक सीमित रहना श्रेयस्कर नहीं समझा है।[2]

स्थूल रूप से इन चिकित्सक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य की प्रमुख वृत्ति काम-वृत्ति है—इसी से अन्य वृत्तियों का अभ्युदय होता है। मधुरा भक्ति के मूल में भी यही काम-वृत्ति कार्य कर रही है। इस पंथ के कुछ विद्वान तो 'गॉड-लव' को 'सैक्स-लव' ही मानते हैं।[3] उनकी यह मान्यता कहाँ तक उचित है इस पर हम आगे विचार करेंगे किन्तु यहाँ यह समझ लेना ही पर्याप्त है कि इस पंथ के अनुयायी विद्वान् कामवृत्ति (लिबिडो) को सभी वृत्तियों का मूल स्वीकार करते हुए धर्म, कला आदि में उसका 'उन्नयन' मानते हैं। तात्पर्य यह है कि वैषयिक भावना का जब उसके स्वाभाविक रूप में विकास रोक दिया जाता है तब उसे समाज के हित की दृष्टि से दूसरी ओर किसी श्रेष्ठ कार्य में लगा दिया जाता है। काम-वृत्ति के इसी दूसरी ओर लगाने को उसका 'उदात्तीकरण' कहा गया है। माधुर्य्य भक्ति भी उनके अनुसार काम-भावना का उदात्त-रूप ही स्वीकार किया जा सकता है।

पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों का तीसरा पंथ समाज-शास्त्रियों का है। विलियम मॅग्डुगल ने सबसे पहले 'समाज मानसशास्त्र प्रवेश'—यह ग्रन्थ

---

१. *Hindu Psychology* : Page 64.

२. *Modern Man in search of Soul* : C G. Jung : Page 51.

३. Theodor Schroder in American Journal of psychology. Quoted by Thouless in his book '*Introduction to Psychology of Religion*' : Page 128

लिखकर इस पंथ का प्रवर्तन किया था। इसे हेतुवादी पंथ (Purpositive School) भी नाम दिया जाता है। इनके अनुसार मनुष्य एक समाजप्रिय प्राणी है। उसके प्रत्येक कार्य में अथवा व्यवहार में सहेतुक प्रेरणा (Drive) है, जिसे लक्ष्य में रखकर ही मन का पूर्ण अध्ययन हो सकता है। स्पष्ट है कि इस पंथ के अनुयायियों ने मानसशास्त्र और समाजशास्त्र के संयुक्त अध्ययन को भी लक्ष्य स्वीकार किया है और इसी के आधार पर सहज प्रेरणा (Instinct), भावना (Emotion) और स्थिर वृत्ति (Sentiment) की विस्तार से चर्चा की है।

विलियम मॅग्डुगल ने फ्रॉयड की भाँति काम भावना को जीवन की मुख्य वृत्ति स्वीकार किया है। किन्तु उसे मूल वृत्ति नहीं माना। इसके अतिरिक्त वह सभी प्रेम-सम्बन्धों में काम-भाव (Sex-feeling) का लाना उचित नहीं समझता। उसके अनुसार इस प्रकार की मान्यता काम-भाव और प्रेम की स्थिर वृत्ति को एक समझने के कारण है।[१] सामाजिक महत्त्व को देखते हुए वह काम भावना का दमन और उसका उन्नयन अत्यावश्यक मानता है। क्योंकि किसी भी उच्च संस्कृति वाले समाज में इसकी अत्यधिक आवश्यकता है।[२] उदात्तीकरण का रूप मॅग्डुगल ने भी वही स्वीकार किया है—जो कि फ्रॉयड के पंथ में मान्य है। अतः स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति की दृष्टि से इस पंथ का दो कारणों से विशेष महत्त्व है। प्रथम यह है कि इस पंथ में भक्ति-वृत्ति (Religious Sentiment) पर अन्य वृत्तियों के साथ-साथ प्रकाश डाला गया है। दूसरा मन की सत्ता को स्वीकार करके उसे केवल अचेतन अवस्था तक ही सीमित नहीं रखा गया है, वरन् इस मत में उसे सामाजिक दृष्टिकोण से परखने का भी प्रयत्न किया गया। इस प्रकार माधुर्य्य भक्ति के मनोवैज्ञानिक आधार को समझने के लिए फ्रॉयड और मॅग्डुगल द्वारा स्थापित पंथों के सिद्धान्त सहायक हो सकते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि पाश्चात्य मानसशास्त्र का आधार

१. I have already indicated the fallacy of one piece of reasoning advanced in support of the Freudian view, namely the acceptance of all manifestation of personal love or affection as evidence of sexuality ; for this, as was said, is due to the confusion of the sexual instinct with the sentiment of love.

—*Introduction to Social psychology* : p. 351.

२. *Introduction to Social Psychology* : Page 358–59.

भौतिक रहा है। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्होंने इस विषय पर अधिक विचार नहीं किया। किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि पश्चिम में भक्ति-भावना का प्रचार ही नहीं है—सर्वथा अनुचित होगा। बाइबिल में ही अनेक इस प्रकार के भक्तों का वर्णन हमें मिलता है जिन्होंने भगवत्प्रेम अथवा भगवान् के मिलन की अनुभूति उसी प्रकार की थी जिस प्रकार की भारतीय सन्तों अथवा भक्तों ने।[1] उनकी उस आध्यात्मिक सुख की अभिव्यक्ति में उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है जो हमें कबीर आदि सन्तों की वाणियों में लक्षित होती है। यह सत्य है कि माधुर्य्य भक्ति के उस रूप का विकास वहाँ नहीं हो पाया, जो हमें कृष्ण-भक्त कवियों में लक्षित होता है। अतः वहाँ की भक्ति-भावना सन्तों की कोटि की ही मानी जायेगी, लीला में ही अनुरत रहने वाले भक्त कवियों की नहीं। किन्तु स्त्री-भक्तों की भावना में क्राइस्ट के प्रति वही पति-पत्नी भाव लक्षित होता है जो आंदाल आदि आलवार स्त्री-भक्तों में कृष्ण के प्रति था। अतः स्पष्ट है कि पश्चिम में भी सामान्य शृंगारिक भक्ति का सर्वथा अभाव नहीं है। इन्हीं सन्तों की जीवनी से प्रभावित होकर ही अनेक मानस-शास्त्रियों ने भक्ति-भाव के प्रति सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है—और उसे केवल काम-भाव का ही रूप स्वीकार नहीं किया।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पश्चिमी मानसशास्त्र मे माधुर्य्य भक्ति का स्वतन्त्र रूप से कहीं विवेचन नहीं हुआ। वहाँ 'रिलीजन' शब्द से अभिव्यक्त भाव का विवेचन हुआ है। हिन्दी में सामान्य रूप से इस शब्द का अर्थ 'धर्म' लिया जाता है। किन्तु मानस-शास्त्रियों के इस शब्द के प्रयोग से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने धर्म के रूढ़ अर्थ में इसका प्रयोग कहीं नहीं किया। उन्होंने 'रिलीजन' की जो परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं उनसे

---

१. द्रष्टव्य—*Mysticism* : Underhill ; *The varieties of religious—Experience*—William James and *Religious Consciousness* : Pratt.

१. Religion is a felt practical relationship with what is believed in as a superhuman being or beings.

—Thouless : *Introduction to psychology of Religion* : p 4.

and

Religion shall mean the feelings, acts and experiences of individual men in their solitude, so far as they apprehand themselves to stand in relation to whatever they may consider the devine

–William James : *Varieties of Religious Experience* p. 31-32.

भी इस बात की पुष्टि होती है। वे इस शब्द का व्यवहार आत्मा का परमात्मा के प्रति पारमार्थिक सम्बन्ध सूचित करने के लिए करते है। भारतीय शास्त्रों में व्यवहृत 'भक्ति' शब्द ही इसके अधिक निकट प्रतीत होता है। अतः हमें उसी अर्थ में ही 'रिलीजन' शब्द को ग्रहण करना चाहिए।

क्या भक्ति-भावना एक स्वतन्त्र वृत्ति है ?

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भक्ति-भावना पर विचार करते समय इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि क्या भक्ति-भावना मनुष्य की काम-भावना, क्षुधा आदि की भाँति सहज, स्वतःजात एवं स्वतन्त्र वृत्ति है। यदि ऐसा नहीं है तो वह किन विभिन्न वृत्तियों के संयोग से निष्पन्न होती है। इस विषय में पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के दो मत है—(१) भक्ति को क्षुधा आदि की भाँति स्वतन्त्र वृत्ति स्वीकार करने वाले और (२) भक्ति को विभिन्न वृत्तियों का सम्मिश्रित रूप स्वीकार करने वाले। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इस प्रकार के भी है जो भक्ति-भाव को केवल काम-भावना का ही रूप मानना उचित समझते हैं। किन्तु इस प्रकार के विद्वानों के दृष्टिकोण को अधिक मान्यता प्राप्त नहीं हुई है और उनमें से अधिकांश विद्वानों ने जिन्होंने भक्ति-भावना पर विचार अभिव्यक्त किये है—इस मत का प्रबल शब्दों मे खडन किया है।

भक्ति-भावना को एक स्वतन्त्र वृत्ति मानने वाले पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको मे प्रो० स्टॉरबक, प्रो० मॉरिस जस्ट्रो, प्रो० हॉकिंग, डा० किंग आदि विद्वानों का नाम उल्लेखनीय है। इन विद्वानों का मत है कि भक्ति-भावना मनुष्य के हृदय की एक दृढ़ तथा स्थिर भावना है और मनुष्य को इसका अनुभव उसी प्रकार स्वतः होता है जिस प्रकार क्षुधा आदि भावों का। मनुष्य के मन में यह भाव आरम्भ से ही होता है और चेतना-संस्थान को सदा प्रभावित तथा प्रेरित करता है।[1] प्रो० मॉरिस जस्ट्रो ने भी अपनी पुस्तक 'The Study of Religion' में इसी प्रकार का आशय अभिव्यक्त किया है।[2] किन्तु इस मत को स्वीकार करने वाले विद्वानों की संख्या सीमित है। अधिकाश विद्वानों का विचार है कि मनुष्य का कोई भी धार्मिक कार्य अथवा भक्ति-भाव उसी प्रकार सहज प्रेरित नहीं है जिस प्रकार कि क्रोध या प्रेम आदि हैं। अतः यदि भक्ति-भाव को एक स्वतन्त्र सहज-वृत्ति स्वीकार किया जाता है तो मनुष्य के विभिन्न विचारों या भावों में से कोई भी ऐसा न बचेगा जिसको कि सहज-वृत्ति

१. Quoted from *Introduction to the Psychology of Religion.* by Thouless: P. 124.

२. *The Study of Religion* : P. 101, 153.

स्वीकार न किया जा सके। किन्तु इस प्रकार मानसशास्त्र का महत्त्व ही समाप्त हो जायेगा। अतः इनके विचार में सहज-वृत्तियों की संख्या को सीमित रखना वैज्ञानिक मानसशास्त्र की पूर्णता के लिए आवश्यक है।[1]

भक्ति-भावना को विभिन्न सहज-वृत्तियों का सम्मिश्रित रूप स्वीकार करने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं—ल्यूबा, मॅग्डुगल, विलियम जेम्स, थाउलेस और जेम्स प्रट। इन सभी के अनुसार भक्ति-भावना की विभिन्न वृत्तियों में से 'भय' एक महत्वपूर्ण सहज-वृत्ति है। डा० मॅग्डुगल के अनुसार भक्ति-भावना को यथोचित रूप देने वाले प्रमुख भाव हैं—श्रद्धा, भय और आदर। इन्हीं के साथ आश्चर्य, आत्महीनता या शरणागति, दयालुता और जिज्ञासा आदि प्राथमिक भावनाएँ भी भक्ति-भाव में मिश्रित रहती हैं।[2] इन सभी भावों का मिश्रित रूप होने के कारण ही भक्ति-भाव विश्व का ऐसा व्यापक भाव हो सका है जिसमें सभी प्रकार का शुद्ध प्रेम—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर समाविष्ट हो सका है। इन सभी भावों का मनुष्य मात्र से सम्बन्ध है। इसी कारण भक्ति-भाव व्यक्तिगत नहीं विश्वजनीन स्वीकार किया जाता है। इसके विश्व व्यापक रूप को देखते हुए विद्वानों ने इसे स्थिरवृत्ति (Sentiment) मानने में भी संकोच नहीं किया है।[3]

डा० मॅग्डुगल ने भक्ति-भावना के स्वरूप का जो विश्लेषण किया है वह उनके सामाजिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। उसमें काम-भाव को मनुष्य की मूल वृत्ति स्वीकार नहीं किया गया। इसीलिए उन्होंने भक्ति-भाव के स्वरूप-निर्माण में सहायक अन्य भावों मे काम-भाव को स्वीकार नही किया। किन्तु इसको जीवन की मूल वृत्ति स्वीकार करने वाले विद्वान् भक्ति-भावना मे उपरोक्त मॅग्डुगल द्वारा दी गई भावनाओं के साथ काम-भाव को भी रखते

१. Certainly the tendency of psychologists to-day to narrow rather than to broaden their terms is not only justified but absolutely essential to the perfection of a truly scientific psychology.

—*Introduction to the Psychology of Religion* . Thouless

२. *Introduction to Social psychology* : Chapter 13 : P. 260

३. It's origin is not probably to the working of a religious instinct, but rather to the fact that many primitive instincts work in such a way as to point to a religious interpretation of the universe and of life, and so to give rise to a religious sentiment." W. B. Selbie. *The Psychology of Religion*. P. 31.

हैं। अतः इन विद्वानों के अनुसार भक्ति-भावना के मूल भाव भय, काम, यूथ-वृत्ति, दृढ़ता, प्रार्थना और शरणागति हैं।[1] इसी प्रकार थाउलेस ने आत्म-रक्षा के भाव को इन विभिन्न भावों में सम्मिलित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधिकांश पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के विचार में भक्ति-भाव कोई स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है। क्योंकि मनुष्य सहज रूप में न तो उसका अनुभव करता है और न उसके द्वारा किसी प्रकार की प्रेरणा प्राप्त करता है। फिर भी मनुष्य जीवन में उसका महत्त्व कम नहीं है। भक्ति-भाव की परिणति एवं परिपाक में जो भाव संयुक्त हैं वे मनुष्य जीवन के प्रमुख भाव हैं। अतः उनकी सहज विद्यमानता के कारण मनुष्य किसी अवस्था में भक्ति-भाव की अनुभूति कर सकता है। इसी कारण स्वतन्त्र और सहज वृत्ति न होते हुए भी भक्ति-भावना का महत्त्व अन्य काम आदि साहजिक वृत्तियों से कम नहीं है। इस तथ्य को युंग आदि मनोविश्लेषक भी स्वीकार करते है।[2]

भक्ति भावना और कामुकता

कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भक्ति-भावना को केवल कामुकता का रूप स्वीकार किया है। इस प्रकार के विद्वानो में थिएडोर श्रोडर, स्विशर और डा० फॉरसीथ का नाम उल्लेखनीय है। थिएडोर श्रोडर के अनुसार भक्ति-भावना कोई स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है। कामुकता को ही भक्ति-भाव के रूप में अनुमान द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। इसीलिए उनके मत में 'ईश्वर-प्रेम' सामान्य काम-प्रेरित प्रेम का प्रच्छन्न रूप है और ईश्वर कामियों के द्वारा कल्पित अपने प्रिय का रूप ही है।[4] इस प्रकार अत्यधिक सशक्त शब्दों में

१. *Psychology & Religious Quest* : R. B. Cattel : P. 38.

२ *Introduction to the psychology of Religion* : P. 126.

३. Freud has unfortunately overlooked the fact that man has never yet been single handed to hold his own against the powers of darkness that is, of the unconscious. Man has always stood in need of the spiritual help which each individual's own religion held out to him.—*Modern Man in search of soul* : P. 277.

४. All religion in its beginning is a mere misinterpretation of of sexecstasy, and the religion of to-day is, only the essentially unchanged evolutionary product of psycho-sexual perversion... Thus literally may we say "God is love"—Sex-love, sometimes in disguise and indistinctly recognised as such, by the lover whose love-sick longings even now create a god to take the place of undiscovered and much craved by human lover.
Thouless : *Introduction to psychology of Religion* P. 128.

थ्रोडर ने भक्ति-भाव की शुद्धता का प्रत्याख्यान किया है। स्विशर ने भक्ति भाव को आदर्शपूर्ण काम-भाव कहकर कुछ संयत शब्दों में प्रायः इसी आशय को अभिव्यक्त किया है।[1] फ्रॉयड भी इसी मत को मानता है। इन विद्वानों के मत की पुष्टि भक्ति-मार्ग में प्रचलित लिंग-पूजा तथा भक्त-कवियों द्वारा व्यवहृत शृंगारमयी भाषा से भी हो जाती है। किन्तु काम-भाव और भक्ति-भाव की इस ऊपरी समानता के आधार पर दोनों को एक स्वीकार कर लेना अधिक युक्ति-संगत नहीं है। दोनों का मूल भाव सर्वथा भिन्न है—इस सम्बन्ध में हम ऊपर विचार कर आये हैं। यही धारणा विलियम जेम्स, थाउलेस, जेम्स ग्रट, डा० मॅग्डुगल आदि पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों की भी है।

विलियम जेम्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भक्ति-भाव पर विचार करते समय हमें उसकी मूल चेतना की ओर ध्यान देना चाहिए। इस पर विचार करने से पता चलता है कि भक्ति और काम की मूल चेतना सर्वथा भिन्न एवं परस्पर असम्बद्ध है। अतः दोनों को एक स्वीकार नहीं किया जा सकता।[2] डा० मॅग्डुगल तो काम-भाव को सभी प्रकार के पारिवारिक अथवा सामाजिक प्रेम-सम्बन्धों का मूल भाव भी नहीं मानते।[3] इसी प्रकार थाउलेस

---

१. Since Sex-instinct is the strongest of all instincts, the one upon which the perpetuation of the race depends, it is to be expected that religion should be full of idealized sex-emotion.

—*The Psychology of Religion* : W. B. Selbie P. 11.

२. The plain truth is that to interpret religion one must in the end look at the immediate content of the religious consciousness. The moment one does this, one sees how wholly disconnected it is in the main from content of the sexual consciousness. Everything about the two things differs, objects, moods, faculties concerned and acts impelled to.

—*The varieties of Religious Experience* P. 13.

३. It seems to me that this immense extension of the sphere of sexuality is in large part an error due to the neglect of the distinction insisted upon in the forgoing paragraph. For Freud and his disciples, taking the sentiment of sex love as the type of all love, regard as manifestations of sexuality all modes of beheviour and of feeling that are of the same kind as those that occur as phases in the life history of this sentiment.

—*Introduction to Social Psychology* : P. 339.

ने जीवन में काम-भाव का महत्त्व अवश्य स्वीकार किया है और यह माना है कि भक्ति-भाव में पाई जाने वाली उत्तेजना में काम-भाव का थोड़ा बहुत सहयोग अवश्य है। किन्तु उनका विचार है कि भक्ति को कामुकता का विकास मात्र नहीं कहा जा सकता।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्ति-भाव को कामुक वृत्ति का रूप स्वीकार करना तथ्यों के अनुकूल नहीं है। यह मानने में शायद ही किसी को आपत्ति हो कि भक्ति-भाव के स्वरूप-निर्माण में कामुक वृत्ति का संयोग है। किन्तु उसे ही भक्ति मान लेना उचित नहीं है। अतः थिओडर श्रोडर का मत संगत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

फ्रॉयड का मनोविश्लेपण सिद्धान्त और भक्ति-भाव

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रॉयड का महत्त्व दो दृष्टियों से है—(१) अचेतन (Unconscious) मन के विस्तृत अध्ययन के कारण और (२) काम-वृत्ति को जीवन की मूल वृत्ति सिद्ध करने के कारण। फ्रॉयड से पूर्व भी कई मनोवैज्ञानिकों ने अचेतन मन के सम्बन्ध में विचार किया था। किन्तु इसका मनोविश्लेपण शास्त्र में आज जो महत्त्व है उसका श्रेय फ्रॉयड को ही है। फ्रॉयड ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के चेतन मन में रहने वाली सभी भावनाएँ अचेतन मन की भावनाओं द्वारा किसी न किसी रूप में नियंत्रित हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के फलस्वरूप मनोविज्ञान के क्षेत्र मे अचेतन मन के अध्ययन का महत्त्व बढ़ गया।

फ्रॉयड ने मन के तीन विभाग माने है—(१) चेतन (Conscious) (२) पूर्व चेतन (Preconscious) और (३) अचेतन (Unconscious)। मन के इन तीन विभागों के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए फ्रॉयड ने एक उदाहरण दिया है। उसके अनुसार मन का चेतन भाग एक छोटे कमरे में बैठे हुए प्रेक्षक के समान है। इसी कमरे को मन का पूर्व चेतन भाग माना जा सकता है। यह कमरा एक बड़े कमरे से पर्दे द्वारा अलग कर दिया गया है। यही बड़ा कमरा मन का अचेतन विभाग है। उस बड़े कमरे (मन के अचेतन भाग) में बहुत से लोग विद्यमान हैं, जिन्हें देखना प्रेक्षक के लिए श्रेयस्कर नहीं है। बड़े कमरे के लोग छोटे कमरे में प्रेक्षक के सामने न आ सकें, इसके लिए पर्दे के पास रुकावट का साधन विद्यमान है। इसी रुकावट को फ्रॉयड ने 'सैन्सरशिप' नाम दिया है।

मन के ऊपर उल्लिखित तीन भागों में से फ्रॉयड अचेतन भाग के अध्ययन

---

१. *Introduction to the psychology* : P. 130 and 134.

पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार मनुष्य के मन में विभिन्न इच्छाएं अथवा प्रेरणा उत्पन्न करने वाली मूल शक्ति 'लिबिडो' अचेतन मन में रहती है। 'लिबिडो' मूलतः नैसर्गिक काम-वृत्ति है। फ्रॉयड के विचार में 'लिबिडो' या राग बिल्कुल क्षुधा की तरह है। यह वह बल है जिसके द्वारा नैसर्गिक यौन-वृत्ति वैसे ही अपनी अभिव्यक्ति करती है जैसे पोषण की निसर्ग-वृत्ति भूख के द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करती है।[१] किन्तु मनुष्य उन इच्छाओं का जो अनुचित हैं निरोध करके 'लिबिडो' द्वारा प्राप्त शक्ति का प्रयोग दूसरी दिशाओं—कला, भक्ति-भाव अथवा अन्य उच्चत्तर कार्यों के लिए कर सकता है। फ्रॉयड ने सहज वृत्तियों का निरोध कर शक्ति के दूसरी श्रेष्ठ दिशाओं में प्रयोग को ही उन्नयन या उदात्ताकरण नाम दिया है।

फ्रॉयड के इस मत-निरूपण से यह स्पष्ट हो जाता है कि फ्रॉयड जीवन की मूल वृत्ति 'काम' स्वीकार करता है और उसका स्थान अचेतन मन। भक्ति को उसने इसी कामवृत्ति का उदात्तीकृत रूप माना है। किन्तु उसका यह निश्चित मत है कि उदात्तीकरण के लिए नैसर्गिक वृत्तियों का जो विरोध या दमन किया जाता है—वह सर्वथा अनुचित है। मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए इस प्रकार का दमन श्रेयस्कर नहीं है।[२]

फ्रॉयड के अनुसार जीवन के सभी व्यापारों को प्रेरित करने वाली 'काम-वृत्ति' की चार अवस्थाएँ हैं—

(१) Auto-Erotism (आत्मकाम) व्यक्ति का अपने प्रति प्रेम।

(२) Oedipus Complex (मातृकाम) लड़के का अपनी माँ के प्रति कामुक प्रेम अथवा Electra Complex (पितृकाम) लड़की का अपने पिता के प्रति कामुक प्रेम।

(३) Homo-Sexual (समकाम) पुरुष का पुरुष के प्रति अथवा स्त्री का स्त्री के प्रति कामुक प्रेम।

(४) Hetero-Sexual (विषम काम) स्त्री का पुरुष के प्रति और पुरुष का स्त्री के प्रति कामुक प्रेम।

स्पष्ट है कि कामवृत्ति प्रेम के इन चार रूपों में मनुष्य जीवन को पूर्णतया आच्छादित कर लेती है। फ्रॉयड के अनुसार प्रेम काम से भिन्न नहीं है।

---

१. *Introductory Lectures of Psycho-analysis* : Freud : Page 263

२. *Introductory Lectures of Psycho-analysis* : Freud : Page 362

'प्रेम' में यौन आवेगों के मानसिक पहलू पर बल दिया जाता है और आवेगों के आधारभूत शारीरिक अथवा 'ऐन्द्रिक' पहलू की आवश्यकताओं को छोड़ दिया जाता है या जरा देर के लिए उसे भुला दिया जाता है।[1] इस काम-वृत्ति का उदय मनुष्य के जीवन में बचपन से ही होने लगता है। फ्रॉयड के विचार में बालक का स्तन चूसना, अंगूठा चूसना आदि क्रियाएँ उसके मन में उद्भूत इसी—काम-वृत्ति को सूचित करती हैं। यही फ्रॉयड का बाल-काम-भाव (Infantile Sexuality) का सिद्धान्त है। बचपन में इस काम-वृत्ति के उदय के साथ-साथ दमन की मानसिक प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है और उसके यौन उद्देश्यों के कुछ हिस्से का ज्ञान उससे छीन लिया जाता है।[2] इस प्रकार बचपन में ही उदात्तीकरण के लिए आधार तैयार होने लगता है। इसी को लक्ष्य में रखकर फ्रॉयड ने कहा है कि भक्तिभाव, नैतिकता और सामाजिक रुचि मनुष्य के ये सभी उच्च आदर्श कामवृत्ति के एक ही रूप से उद्भूत हैं, जिसे सामान्यतया 'मातृकाम' तथा 'पितृकाम' कहा जा सकता है।[3]

भक्ति-भाव के उदय में बचपन की मनोवृत्ति किस प्रकार कार्य करती है—इस पर फ्रॉयड ने काफ़ी विस्तार से विचार किया है। उसके अनुसार जब बच्चा बड़ा हो जाता है तो उसे शीघ्र इस बात का अनुभव होता है कि मेरी स्थिति पहले की अपेक्षा सुधरी नहीं। बचपन में वह जिन असीमित शक्तियों की कल्पना युवावस्था के बारे में किया करता था—उनका यहाँ सर्वथा अभाव है। थोड़ा सा विचार करने पर वह समझ जाता है कि प्राकृतिक शक्तियों पर उसका कोई अधिकार नहीं है और उनसे अपनी रक्षा करने में आज भी वह उसी प्रकार असमर्थ है जितना कि वह बचपन में था। इस

१. *Introductory Lectures of Psycho-analysis* : Freud : Page 277

२. *Ibid*, P. 277

३. Religion, morality and a social sense—the chief elements of what is highest in man—were originally one and the same thing According to the hypothesis which I have put forward in 'Totem and Tabu' they were acquired phylogenetically out of the father-Complex : religion and moral restraint by the actual process of mastering the oedipus Complex itself, and social feeling from the necessity for overcoming the rivalry that then remained between the members of the younger generation.

—*The Ego and Id.* P. 49.

प्रकार अपने को असहाय पाकर वह ऊपर से चुपचाप सभी प्राकृतिक कष्टों को सहता रहता है। किन्तु उसके अचेतन में प्राकृतिक शक्तियों से सदा रक्षित रहने तथा उनका पितृवत् स्नेह प्राप्त करने की भावना निरन्तर कार्य करती रहती है। इस प्रकार जब उसकी आन्तरिक भावनाएँ अधिक प्रबल हो उठती हैं तब वह ऐसे ईश्वर की कल्पना कर लेता है, जो निराधार है—अथच भ्रम है। इसका स्वरूप भी भौतिक पिता के अनुरूप होता है। इसीलिए प्रायः सभी व्यक्तियों द्वारा कल्पित ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता, बुद्धिमत्ता, सर्व-व्यापकता आदि समान गुण पाये जाते हैं। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना में मूलतः दो वृत्तियाँ कार्य करती हैं। इनमें से प्राकृतिक शक्तियों से रक्षा का उपाय सोचने की वृत्ति प्रधान है और भावुकता की वृत्ति गौण है। किन्तु इन दोनों का मूल बचपन की मनोवृत्ति है, जिसके अनुसार वह प्राकृतिक शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें प्रसन्न करना चाहता है।[1] स्पष्ट है कि फ्रॉयड के अनुसार भक्ति-भाव के उदय में यही बचपन की मनोवृत्ति कार्य करती है।[2] डा० फ्रॉरसीथ, कॅटेल आदि विद्वानों ने भी फ्रॉयड के इस मत की पुष्टि की है।

फ्रॉयड के मत के इस विवेचन से दो बातें स्पष्ट होती हैं—(१) भक्ति का मूल काम-वृत्ति है और (२) यह बचपन की अपने को असहाय समझने वाली मनोवृति का पुनरावर्तन है। कामवृत्ति के दमन से उदित भक्ति-भावना को इसीलिए फ्रॉयड ने केवल चित्त की भ्रान्ति स्वीकार किया है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भक्ति-भाव में कल्पना के लिए ही स्थान है, वहाँ सत्य की स्वीकृति नहीं।[3] कल्पना का कोई आधार नहीं है, केवल मन की विशिष्ट

---

१. I believe, rather, that when he personifies the forces of nature man is once again following an infantile prototype. He has learnt from the persons of his earliest environment that the way to influence them is to establish a relationship with them, and so, later on, with the same end in view, he deals with everything that happens to him as he dealt with these persons.

—*The Future of an Illusion* : Freud : P. 38

२. Future of an Illusion : P. 42.

३. If after this survey we turn again to religious doctrines, we may reiterate that they are all illusions, they do not admit of proof, and no one can be compelled to consider them as true or to believe in them. —*Future of an Illusion.* P. 55.

धारणा को सम्मुख रखते हुए ईश्वर की कल्पना कर ली जाती है। अतः यहाँ कल्पना ही कल्पना है प्रत्यक्ष कुछ नहीं है।

फ्रॉयड के मत की आलोचना

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रॉयड को जितनी मान्यता प्राप्त हुई उसके सिद्धान्तों की उतनी आलोचना भी हुई। फ्रॉयड के अनुयायी समझे जाने वाले ऍडलर और युंग ने स्वयं उसके सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया है। फ्रॉयड के प्रायः सभी मुख्य सिद्धान्तों—अचेतन मन की महत्ता, जीवन में कामवृत्ति की सर्वव्यापकता और बाल कामभाव को आलोचना का विषय बनाया गया है। भक्ति-भाव को सम्मुख रखते हुए हम यहाँ कामवृत्ति और बाल काम-भाव की ही संक्षेप में चर्चा करेंगे।

ऍडलर के विचार में जीवन की मूल प्रेरक शक्ति काम-वृत्ति नहीं है। उसके अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य प्रभुत्व की इच्छा अथवा आत्माभिव्यक्ति की भावना द्वारा प्रेरित है। मनुष्य की इस प्रभुत्व की इच्छा अथवा आत्माभिव्यक्ति में जिस समय बाधा उत्पन्न होती है उसी समय कठिनाई खड़ी हो जाती है।[1] स्पष्ट है कि ऍडलर के अनुसार मानसिक विकार काम-वृत्ति के दमन के कारण नहीं प्रभुत्व की इच्छा अथवा आत्माभिव्यक्ति के निरोध के कारण उत्पन्न होते हैं। ऍडलर अचेतन मन की अधिक छानबीन करने के पक्ष में भी नहीं है। फ्रॉयड ने उसके महत्त्व पर जितना अधिक बल दिया है ऍडलर ने उससे दूर रहने का उतना ही अधिक प्रयत्न किया है। उसका कहना है कि साधारण व्यक्ति के लिए इस दलदल में प्रवेश करना हानिकारक है। यह सत्य है कि मनुष्य में बुराइयाँ हैं किन्तु उन बुराइयों को शिक्षा के द्वारा हटाने का यत्न करना ही उचित है न कि विश्लेषण द्वारा उसके सामने बुराइयों का नग्न चित्र प्रस्तुत कर देना।[2] इसीलिए ऍडलर ने फ्रॉयड की मनो-

१. It is interesting to note that Adler takes a different view from Freud regarding the fundamental urge in man. It is his belief that the dominant instinct in man is the urge to power, or self expression, and he does not agree that it is the sex urge which lies at the root of man's activities. ..... when this is denied, thwarted, or repressed, difficulties are bound to arise.
—*Hindu Psychology* ; Akhilanand ; Page-70

२. The investigator may see in the mud-puddle a world full of wonders, but to the ordinary man it is something upon which he prefers to turn his back ..... But habits are only won by exercise, and appropriate education is the sole mean to this end. —*Modern Man in search of Soul* : Jung : P. 51–52

विश्लेषण पद्धति से अपने को पृथक् कर मनोविज्ञान में 'व्यक्तिमनोविज्ञान' नाम से एक स्वतन्त्र पद्धति स्थापित की। मानसिक बुराइयों के उद्घाटन के सम्बन्ध में अभिव्यक्त एँडलर के मत का समर्थन युंग ने भी किया है। युंग के मत में फ्रॉयड ने केवल रोगी मनुष्य के मन का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया है और उसी रूप में वह ठीक है। किन्तु केवल रोगी मन के विश्लेषण द्वारा हम सामान्य-सिद्धान्तों का निरूपण नहीं कर सकते। इसीलिए फ्रॉयड का मनोविज्ञान मन के एक पक्ष को ही प्रस्तुत करता है। निश्चित रूप से वह स्वस्थ मन का मनोविज्ञान नहीं है। इसके अतिरिक्त युंग के अनुसार फ्रॉयड की अन्य त्रुटि यह भी है कि उसने भक्ति-भाव के अनुभवों की ओर ध्यान नहीं दिया।[१] इसका कारण यह है कि फ्रॉयड ने कामवृत्ति को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति स्वीकार किया है। किन्तु युंग के विचार में कामवृत्ति जीवन की महत्त्व-पूर्ण वृत्ति होने पर भी मूल-वृत्ति नहीं है। इसी प्रकार युंग ने 'लिबिडो' का महत्त्व स्वीकार किया है पर उसे कामवृत्ति का केन्द्र स्थान नहीं माना। वह उसे सामान्य चेतना का रूप देना उचित समझता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मनोविश्लेषण पद्धति को स्वीकार करने वाले विद्वानों में युंग भक्ति-भाव के अधिक अनुकूल है। इन्होंने आत्मा के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है।[२] फ्रॉयड ने भी अपनी वृद्धावस्था में भौतिक धरातल से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता का सहारा लिया और तदनुसार बोधात्मा (Ego), अबोधात्मा (Id) और प्रबोधात्मा (Super-Ego) की सत्ता स्वीकार की।

---

१. A convincing example of this in Freud's case is his inability to understand religious experience, as is clearly shown in his book : The Future of an Illusion. ..... Freud's teaching is definitely one sided in that it generalizes from facts that are relevant only to neurotic states of minds ..... In any case, Freud's is not a psychology of the healthy mind.

—*Ibid.* Page 134–155

२. I do not doubt that the natural instincts or drives are forces of propulsion in human life, whether we call them sexuality or the will to power but I also do not doubt that these instincts come into collision with the spirit, for they are continually colliding with something, and why should not this something be called spirit ?

—*Modern Man in search of Soul* : P. 136.

फ्रॉयड के कामवृत्ति परक सिद्धान्त की भाँति विद्वानों ने बाल कामभाव का भी प्रबल विरोध किया है। उनका विचार है कि माता-पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता-पिता के प्रति प्रेम स्वाभाविक है उसे कामुकता के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न अधिक समीचीन नहीं है।[1] इसी प्रकार विद्वानों ने भक्ति-भाव को बचपन की मनोवृत्ति के कारण मानने के सिद्धान्त के प्रति संदेह प्रकट किया है। उनके अनुसार यह धारणा किसी तथ्य पर नहीं केवल अनुमान पर आधारित है।[2]

अनेक त्रुटियों के होते हुए भी फ्रॉयड के मनोविश्लेषण सिद्धान्त का महत्त्व स्वीकार किया जाता है। आज के युग में मनोविश्लेषण का आधार केवल जीवशास्त्र नहीं रहा है समाजशास्त्र का भी उसमें पूर्ण योग है। अतः समय के परिवर्तन के कारण यदि आज फ्रॉयड की मान्यता कम हो गई है तो इसमें आश्चर्य क्या। किन्तु फिर भी फ्रॉयड के सिद्धान्तों—विशेषरूप से उदात्तीकरण द्वारा भक्ति अथच माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

उदात्तीकरण (Sublimation)

ऊपर कहा जा चुका है कि फ्रॉयड कामवृत्ति को जीवन की मूल प्रेरणा-शक्ति स्वीकार करता है। किन्तु उसने यह भी कहा है कि काम-वृत्ति अपने सभी रूपों में सामाजिक नियमों के अनुकूल हो—यह आवश्यक नहीं। अतः ऐसे अनेक कारण हो सकते हैं जिनसे कि हमारी यह सहज काम-वृत्ति दबा दी जाये। परिस्थितियों के अनुसार उसने इस नियन्त्रण के लिए निरोध, दमन, संयम आदि अनेक नाम दिये हैं। उसके विचार में निरोध, दमन आदि के कारण मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के विकारों से अपने को मुक्त रखने के लिए व्यक्ति कभी-कभी काम-वृत्ति को समाज-स्वीकृत दूसरा रूप देने का प्रयत्न करता है। काम-वृत्ति का इस दूसरी दिशा में

१. *Introduction to the Social Psychology* : Mcdougall, Page 339.

२. The most hopeful suggestion comes from the psycho-analyst's suggestion that the child's attitude towards his parents in his framework on which is later modalled his attitude towards God. There has, however, been much more speculation along these lines than precise study.

—*Social Psychology* : Thouless Page-358,

उपयोग ही फ्रॉयड की दृष्टि में काम-भावना का 'उन्नयन' अथवा 'उदात्तीकरण' है।[1] इस प्रकार के दिशान्तर द्वारा मनुष्य अपने चित्त की व्याकुलता को शमित कर पाता है और उसे मानसिक शान्ति प्राप्त होती है।[2]

फ्रॉयड के इस 'उदात्तीकरण' के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि उदात्तीकरण केवल काम-भावना का होता है। उसका उद्देश्य सामाजिक नियमों के अनुकूल व्यवहार करना तथा मानसिक विचारों को टालने का प्रयत्न करना है। अतः उदात्तीकरण के द्वारा काम-भावना सर्वथा निर्मूल नहीं हो जाती। वह भक्ति-भाव या इसी प्रकार का अन्य कोई वेष धारण कर हमारे सामने आती है। फ्रॉयड की इस मान्यता का मूल कारण यह है कि वह आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता[3] और भक्ति भाव को केवल चित्त का भ्रम स्वीकार करता है।[4] किन्तु उसकी इस मान्यता का विरोध उसी के साथी युंग ने किया है। युंग 'उदात्तीकरण' के व्यापार को 'रूपान्तर' के नाम से प्रस्तुत करता है और काम-वृत्ति की प्रमुखता को स्वीकार न करने के कारण तथा दैवी शक्ति के अस्तित्व में विश्वास रखने के कारण वह रूपान्तर को उदात्तीकरण की अपेक्षा अधिक संगत और स्थायी व्यापार मानता है। इसी विरोध के फलस्वरूप फ्रॉयड ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में काम-वृत्ति मूलक 'लिबिडो' के स्थान पर जीवन में बोधात्मा (Ego) का महत्त्व स्वीकार कर लिया था।

युंग के अतिरिक्त आधुनिक युग के अन्य कई मनोवैज्ञानिकों ने फ्रॉयड के

---

१. The energy of the instinctual sexual forces is turned aside from its sexual goal and diverted towards other ends no longer sexual, though psychically related and socially more valuable —*Introductory Lectures*, Page 290

२. At the cost of sublimation converting sexuality into love of his fellows and self-assertion into various self assertion through God—he thereby obtains peace of mind.

—*Psychology & Religious Quest*. Page–37.

३. Probably the spiritual part of man, the soul, which in the course of time has so slowly and unwillingly detached itself from the body, is to be regarded as the object of this elevation and exaltation. –*Future of an Illusion*, Page–3

४. The religions of humanity too, must be classified as mass delusion of this kind. —*Civilization and its discontents* p. 36.

इस 'उदात्तीकरण' व्यापार की असंगति की ओर ध्यान आकर्षित किया है। कैनिथ वॉकर ने फ्रॉयड के इस मत की टीका करते हुए कहा है 'उदात्तीकरण को यह पद्धति वह पद्धति है जिसमें शक्ति का अत्यधिक व्यय होता है, और आध्यात्मिक वा दैवी रूप में इसकी चर्चा जितनी आसान है उतना इसे कार्यान्वित करना नहीं।'[१] इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उदात्तीकरण के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता है वह मनुष्यों में बहुत कम पाई जाती है। स्पष्ट है कि कैनिथ वॉकर उदात्तीकरण को काम-भावना का केवल भक्ति की 'वेष-भूषा' धारण कर लेना नहीं मानते। विद्वानों ने फ्रॉयड की इस मान्यता का भी विरोध किया है कि व्यक्ति तभी भक्ति-भाव की ओर झुकता है जबकि सामाजिक परिस्थितियों से विवश होकर उसकी काम-भावना अपने को स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाती।[२] अनेक सन्तों अथवा भक्तों की जीवनी के द्वारा यह बात सिद्ध की जा सकती है कि काम-भाव और सामाजिक नियमों के परस्पर संघर्ष के कारण ही भक्ति-भाव का उदय नहीं होता। इसलिए भक्ति-भाव की तीव्रता काम-भाव की प्रबलता के कारण नहीं मानी जा सकती।

स्पष्ट है कि विद्वानों ने फ्रॉयड के 'उदात्तीकरण' नामक सिद्धान्त का भी प्रत्याख्यान किया है। किन्तु उन्होंने उसे सर्वथा अमान्य कहा है—ऐसी बात नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि युंग ने फ्रॉयड के 'उदात्तीकरण' नामक व्यापार को रूपान्तर के नाम से स्वीकार किया है। वे उसे केवल काम-वृत्ति द्वारा प्रेरित या उसी का अन्य परिष्कृत रूप स्वीकार नहीं करते। पर उनके रूपान्तर की मूल भावना में उदात्तीकरण से विशेष विभिन्नता नहीं है। इसी प्रकार डा० मॅग्डुगल उदात्तीकरण की वृत्ति को स्वीकार करते हुए उसे केवल काम-भाव तक सीमित रखना उचित नहीं मानते। उनके अनुसार उदात्तीकरण सभी प्रकार की सहज प्रवृत्तियों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।[३] इसी आधार पर उसने उदात्तीकरण के मुख्यतः दो रूप स्वीकार किए

१. This process of sublimation is a process involving much expenditure of force, and in its metaphysical and spiritual form far easier to talk about than to achieve.

—*The Physiology of sex* p. 80.

२. *The psychology of sex* : Oswald Schwarz page 23.

३. We may fairly widen the conception of sublimation by applying it to all instinctive energies.

—*Outline of Abnormal Psychology* : p. 473.

हैं— बौद्धिक उदात्तीकरण और नैतिक उदात्तीकरण। स्पष्ट है कि इसमें फ्रॉयड की भाँति व्यक्ति के दृष्टिकोण को प्रधानता न देकर समाज के हित को प्रमुखता दी गई है। किन्तु उदात्तीकरण के मूल-भाव को यथासम्भव सुरक्षित रखा गया है। थाउलेस ने भी 'रूपान्तर' की चर्चा करते समय उसे 'लिबिडो' या राग का उदात्तीकरण स्वीकार किया है।

इस प्रकार 'उदात्तीकरण' के इस सिद्धान्त-विवेचन से स्पष्ट है कि फ्रॉयड का उदात्तीकरण का सिद्धान्त अपने मूल रूप में दोष पूर्ण है। इस रूप में उदात्त भक्ति-भाव से काम-भावना सर्वथा नष्ट नहीं हो जाती। वह सुप्त अवस्था में अथवा निरोधित दशा में सदा मनुष्य के मन में विद्यमान रहती है। इसे इन शब्दों मे भी कहा जा सकता है कि काम-भावना भक्ति-भाव का वेष धारण कर हमारे सम्मुख आती है। अतः भक्ति-भावना की श्रेष्ठता वा उज्ज्वलता केवल कल्पना का विषय सिद्ध होती है। तदनुसार माधुर्य भक्ति केवल शृंगार-भाव ही कही जा सकती है। किन्तु काम-भाव और भक्ति-भाव में जो स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है उसके कारण इस धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि भक्ति-भाव के उदय काल में मानसिक संघर्ष मान्य हो सकते हैं और उन्हीं में हम काम-भाव सम्बन्धी संघर्ष भी ले सकते हैं, किन्तु भक्ति-भाव अपनी परिपक्व अवस्था में काम-भाव से सर्वथा भिन्न हैं—यह मान्यता विभिन्न उदाहरणों से पुष्ट होने के कारण निर्विवाद कही जा सकती है। इस कारण माधुर्य भक्ति के स्पष्टीकरण के लिए हम फ्रॉयड के उदात्तीकरण के मूल-भाव परिवर्तन को मानने के पक्ष में हैं। परिवर्तन का दूसरा रूप ही 'रूपान्तर' है।

रूपान्तर (Conversion)

हमने ऊपर देखा है कि फ्रॉयड द्वारा प्रतिपादित उदात्तीकरण के सिद्धान्त से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि मनुष्य की सहज-वृत्तियाँ किस प्रकार मिल कर भक्ति-भाव को जन्म देती हैं। किन्तु उसके द्वारा इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि सहज-वृत्तियाँ कुछ कारणों से भक्ति-भाव में परिवर्तित हो सकती हैं। यह परिवर्तन फ्रॉयड के उदात्तीकरण वाला बाह्य एवं अस्थायी परिवर्तन नहीं है वरन् यह परिवर्तन एक नवीन जन्म के समान है, जिसमें पुरानी वैषयिक वृत्तियाँ 'भूर्जित बीज' के समान निःसत्व हो जाती हैं। और आह्लादमयी भक्ति-भावना ही हृदय में व्याप्त हो जाती है। मनोवैज्ञानिकों में इस प्रकार के परिवर्तन के लिए 'रूपान्तर' शब्द प्रचलित है। रूपान्तर में दैवी भावना या

उच्च मानसिक वृत्ति के सम्पर्क में आकर मनुष्य की खोटी वृत्तियाँ धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगती हैं। यह परिवर्तन वैषयिक वृत्तियों के 'काया-कल्प' की अवस्था तक होता रहता है। इस अवस्था में मनुष्य की विषय-भावनाएँ निःशेष हो जाती हैं और उसका मन भगवान की भक्ति में सदा के लिए लीन हो जाता है। इस प्रकार का परिवर्तन किसी-किसी महापुरुष के जीवन में शीघ्र भी हो जाया करता है। कभी किसी महान् या दिव्यात्मा का स्पर्श इस परिवर्तन का कारण सिद्ध होता है। विलियम प्रट के अनुसार किसी के प्रेम में बन्ध जाना या स्वदेश-प्रेम आदि के कारण परिवर्तन सम्भव है किन्तु परिवर्तन की सबसे बड़ी शक्ति भक्ति-भाव है जिसके आगे अन्य सभी कारण तुच्छ हैं। क्योंकि भक्ति-भाव ही ऐसा भाव है जो असहाय और सब प्रकार से निराश व्यक्ति के लिए निश्चित सहायता प्रस्तुत करता है।[1] इसी भाव की पुष्टि विलियम जेम्स ने की है।[2]

रूपांतर की प्रथम अवस्था तब आरम्भ होती है, जिस समय व्यक्ति के मन में अपनी वास्तविक दशा का बोध होता है। वह अपने को सांसारिक दुःखों से त्रस्त और उनसे अपने को मुक्त करने में असमर्थ पाता है। इस प्रकार की भावना ज्यों-ज्यों तीव्रतर होती जाती है, उसी प्रकार उसके मन में दुःख-मुक्ति की इच्छा प्रबल होने लगती है। वह महापुरुषों के सत्संग द्वारा सांसारिक दुःखों से मुक्त होने के उपाय सोचने लगता है और इस प्रकार उसके मन में सांसारिक विषयों से विरक्ति और ईश्वर के प्रति प्रेम बढ़ने लगता है। और यही ईश्वर-प्रेम परिपक्व होकर सांसारिक विषयों का स्थान ग्रहण कर लेता है। इस अवस्था में भक्त अपने मन में भगवत्प्रेम की उसी प्रकार सहज अनुभूति करने लगता है जिस प्रकार कि पहले सांसारिक विषयों के उपभोग की क्रिया करता है। इसी सम्पूर्ण प्रक्रिया के लिये 'रूपान्तर' शब्द का व्यवहार किया जाता है। डी० सेक्टिस द्वारा अभिव्यक्त रूपांतर की इन तीन विशेष-

१. Falling in love at a critical moment can sometimes do this; patriotism may; but as a fact the great power for the transformation of life that dwarfs all others combined is religion. For religion deals with the deepest questions and the most abiding values, and it holds out to the desperate man who has lost all hope in himself or in human help, the promise of supernatural and unfailing assistance.

—*Religious consciousness* : p. 158

२. *The varieties of Religious Experiences* : Page 186.

ताओं से यह प्रक्रिया बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—(१) दुःख-मुक्ति की भावना (२) परमात्मा के सान्निध्य का दृढ़ विश्वास और (३) परमेश्वर के प्रति प्रेम-भाव। इन्हीं तीनों विशेषताओं को एक साथ मिलाकर पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने रूपान्तर के स्वरूप का आभास देने का यत्न किया है।[1]

रूपान्तर की जिस प्रक्रिया का ऊपर उल्लेख किया गया है उसे ध्यान से परखने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य और भारतीय विचारकों के भक्ति-सम्बन्धी इस मत में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दुःख-मुक्ति के भाव से आरम्भ करके ईश्वर-प्रेम में लीन हो जाना—यही दोनों का अभीष्ट है। पश्चिमी और भारतीय सन्तों एवं भक्तों की जीवनी से यही बात स्पष्ट होती है कि परिस्थितियों से असन्तोष और अशान्ति ही परिवर्तन का मूल कारण है। इसीलिए स्टॉरबक ने रूपान्तर को दुःखों एवं पापों से दूर भागने की ही प्रक्रिया स्वीकार किया है।[2]

इस प्रकार की प्रवृत्ति मनुष्य में किस अवस्था में उत्पन्न होती है—इस पर भी पश्चिमी विद्वानों ने विचार किया है। उनके अनुसार बारह वर्ष से पच्चीस वर्ष के काल में रूपांतर की प्रक्रिया आरम्भ होती है। इसका कारण यह है कि तारुण्यावस्था में मानसिक संघर्ष विशेष हो जाते हैं—क्योंकि इस अवस्था में मनुष्य का स्वभाव साहजिक कम और विचारपूर्ण अधिक हो जाता है। इस विचारपूर्ण प्रवृत्ति के कारण ही मानसिक संघर्ष की भावना का उदय होता है और इसी का फल 'रूपांतर' का आरम्भ है।[3] अतः पश्चिम के अधिकांश विद्वानों ने रूपांतर को 'युवावस्था की घटना' स्वीकार किया है और उसी रूप में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। रूपांतर को युवावस्था की

१. Conversion may be described as the process by which the self, hitherto divided and unhappy, becomes unified and satisfied under the impulse of religious ideas and motives.

—*The Psychology of Religion* : W. B. Selbie : p. 187.

२. Conversion is "a process of struggling away from sin rather than of striving towards righteousness"

—*Quoted from the varieties of Religious Experience* : William-James : P. 205.

३. The nature becomes less instinctive and more reflective, and reflection gives birth to the sense of conflict and disease of which conversion is the issue.

—*The Psychology of Religion* : W. B. Selbie, P. 192

घटना स्वीकार करने का एक कारण यह भी है कि पश्चिमी विद्वानों ने काम-भाव को ही मानसिक संघर्ष का मूल कारण माना है। और तदनुसार काम-भावना का वेग इसी अवस्था में लक्षित होता है। डा० फॉरसीथ ने तो रूपांतर को काम-भावना का ही रूप स्वीकार किया है।[1] किन्तु विचार करने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी कि पश्चिमी विद्वानों की यह धारणा सर्वथा निर्भ्रान्त नहीं है। रूपांतर की प्रक्रिया में काम-भावना का सहयोग स्वीकार करने पर भी ऐसा नहीं माना जा सकता कि वह इस प्रक्रिया का मूल कारण है। मन में विद्यमान सभी सहज वृत्तियों का सम्मिलन और उनके ईश्वर की ओर झुकाव द्वारा रूपांतर आरम्भ होता है। अतः काम-भाव के साथ-साथ अन्य लौकिक इच्छाएँ भी रूपांतर की प्रक्रिया के आरम्भ में एक कारण हैं और रूपांतर की अन्तिम अवस्था में पहुँचकर काम-भाव के समान वे भी निःशेष हो जाती हैं। यदि केवल काम-भाव को रूपांतर का कारण स्वीकार किया जाय तो ऐसी कई बलवती लौकिक इच्छाएँ शेष रह जायेंगी जो हमारे परम सुख में बाधक सिद्ध हो सकती हैं। इस कारण काम-भाव को पृथक् न लेकर सामान्य रूप में 'सांसारिक विषयों' के प्रति इच्छा को रूपांतर का मूल कारण स्वीकार करना अधिक संगत होगा। इससे स्पष्ट है कि रूपांतर के लिए तारुण्यावस्था का कोई बन्धन नहीं है। क्योंकि सांसारिक सुख की इच्छा मनुष्य के जीवन में आरम्भ से पाई जाती है। यही बात उन महा-पुरुषों की जीवनी से पुष्ट होती है, जिनमें रूपांतर की यह प्रक्रिया बचपन से आरम्भ हो गई थी। रामकृष्ण परमहंस—ऐसे ही महापुरुष थे।

रूपांतर के अनेक प्रकार हो सकते हैं। थाउलेस के अनुसार एक रूपांतर साधारण है जिसमें अधार्मिक व्यक्ति धार्मिक बन जाता है और दूसरा रूपांतर विशेष है जिसमें धार्मिक व्यक्ति उच्च संत की अवस्था में पहुँच जाता है। रूपांतर के ये दोनों ही रूप उसके अनुसार 'लिबिडो' के भक्ति-भाव में उन्नयन का परिणाम हैं। किन्तु जहाँ पहले प्रकार के रूपांतर में 'लिबिडो' के काम-भाव वाले भाग का उन्नयन होता है वहाँ दूसरे प्रकार के रूपांतर में काम-भाव के अतिरिक्त 'लिबिडो' की उन शक्तियों का भी, जो अन्य

---

१. Psychologically, the phenomenon (Religious Conversion) is none other than the new strong tide of sexual feeling that accompanies puberty, being chocked in its ususal course and deflected into religion.

—*Psychology and Religion* : Forsyth. P. 135.

कार्यों को संचालित करती हैं—उन्नयन होता है।[1] स्पष्ट है कि प्रथम रूपांतर आंशिक है और दूसरा पूर्ण है। इससे भी हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है कि काम-भाव को रूपांतर का मूल कारण स्वीकार करना असंगत है। भक्ति-भाव में रूपांतर की प्रक्रिया पूर्ण होती है और इसीलिए भक्ति-भाव की चरम अवस्था में सभी प्रकार के लौकिक-भाव निःशेष हो जाते हैं। यही थाउलेस के इस कथन का मूल आशय है कि 'यह (दूसरा रूपांतर) मनुष्य की सभी सहज वृत्तियों का भक्ति-भाव में उन्नयन है।'[2]

रूपांतर में भगवल्लीला का योग

रूपांतर के इस विवेचन से भक्ति-भाव के मनोवैज्ञानिक आधार निर्धारण में इसका क्या महत्त्व है यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य के मन में सांसारिक विषयों के प्रति स्वाभाविक झुकाव रहता है—यह पाश्चात्य के ही नहीं भारतीय मनीषियों ने भी स्वीकार किया है। इसीलिए उनकी साधना मन को इन विषयों की ओर से हटा देने से आरम्भ होती है। जब तक हमारा मन विषयों की ओर उन्मुख रहता है तब तक अनेक साधन करने पर भी हमें सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। कठोपनिषद् में इसी ओर संकेत किया गया है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥[3]

किन्तु मन को विषयों से पराङ्मुख करने की साधना अत्यधिक कठिन है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक विरला ही इसे सिद्ध कर पाता है। शेष सभी आसन, प्राणायाम आदि में अटक जाते हैं। भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने मन को साधने के प्रमुख दो मार्ग निर्देशित किए हैं—ज्ञान और भक्ति।

१. Both are the result of sublimation of the libido into religious channels; but in mystical conversion it is not only that part of the libido specialised in the sex-instinct that is sublimated, but the whole of the libido employed in the activities and affections of this world-life.

—*Introduction to the Psychology of Religion* : Thouless : P. 224

२. We may express this in other words by saying that it is the religious sublimation of the entire instinctive nature.

—*An Introduction to the Psychology of Religion* : P. 213.

३. कठोपनिषद् : २-३-१४

ज्ञानमार्ग अत्यधिक दुरूह है। इसका समझना कठिन है, इसका अनुसरण करना कठिन है तथा इस मार्ग के सिद्ध हो जाने पर भी साधक सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो पाता। इसके विपरीत भक्ति मार्ग सहज है, सरल है और सुगम है। यहाँ मानसिक वृत्तियों का अवरोधन नहीं—रूपांतर है। मानसिक वृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटा कर ईश्वर की ओर उन्मुख कर दिया जाता है। धीरे-धीरे सांसारिक विषयों के प्रति मानसिक झुकाव कम होता जाता है और ईश्वर का प्रेम बढ़ता जाता है। इस प्रक्रिया की पूर्णता पर मनुष्य की भावना बिल्कुल बदल जाती है—यही रूपांतर की पूर्णता है। पश्चिम में भक्ति का जो रूप स्वीकार किया गया उसमें भगवान् की लीला के ध्यान का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः वहाँ की माधुर्य्य भक्ति केवल सन्तों की रहस्यभावना को ही सूचित करती है। विलियम प्रट के अनुसार 'बहुत से उदाहरणों में रूपांतरित होने का अभिप्राय जीसस क्राइस्ट से प्रेम करने लगना है।'[२] यह ठीक हमारे यहाँ के कबीर आदि सन्तों की भक्ति की ओर संकेत करता है जिसमें आत्मा को प्रिया और परमात्मा को प्रियतम का रूप स्वीकार कर उनके परस्पर मिलन में वही विह्वलता दिखाई गई है जो कि सामान्य नायक-नायिका के मिलन में लक्षित होती है। किन्तु रूपांतर का यह रूप भगवान् की लीला का आश्रय लेने वाले भक्त के लिए अधिक सहज है। वहाँ भगवान् की लीलाओं का आकर्षण सहज ही भक्त की मनोवृत्तियों को भगवान् के प्रेम में लीन कर देने का सुअवसर प्रदान करता है। इसी बात की ओर गो० तुलसीदास ने रामचरितमानस में संकेत किया है—

विषयिन्ह कँह पुनि हरि गुन ग्रामा।
श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥

लीला पर आधारित भक्ति में किसी प्रकार की रहस्य भावना नहीं है—वहाँ स्पष्टता और सहजता है। इसीलिए सगुण भक्ति काव्य और विशेष रूप से कृष्ण-भक्ति-काव्य में रहस्यवाद का प्रचलन नहीं हुआ। इस कारण रहस्यवाद की चर्चा करना हमने अनावश्यक समझा है। किन्तु फिर भी हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं कि रूपांतर की प्रक्रिया केवल रहस्यवादी सन्तों में ही नहीं लक्षित होती वह सभी प्रकार के भक्तों में प्रतिफलित होती है। अतः स्पष्ट है कि पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों का यह सिद्धान्त माधुर्य्य भक्ति के मनोवैज्ञानिक आधार को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है।

---

२. In many cases getting converted means falling in love with Jesus. —*Religious Consciousness* : Pratt. P. 160.

आधुनिक मनोविज्ञान का भक्ति-भाव सम्बन्धी दृष्टिकोण और भारतीय दर्शन

ऊपर किये गए मानसशास्त्रीय विवेचन का सारांश इस प्रकार है। भक्ति-भाव मनुष्य की सहज अथच जन्मजात वृत्ति नहीं है। उसका अनुभव मनुष्य उसी रूप में नहीं करता जिस रूप में क्षुधा का अथवा अवस्थानुसार काम-भाव का। इन भावों को उत्पन्न करने के लिए किसी प्रकार के बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। ये मनुष्य के मन में सदा विद्यमान रहते हैं और उपयुक्त समय पर मनुष्य स्वयं इनका अनुभव करने लगता है। किन्तु भक्ति-भावना के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य के मन में अनेक ऐसे सहज भाव हैं जो परिस्थितियों वश परस्पर सम्बद्ध होकर इस भाव को जन्म देते हैं। श्रद्धा, भय, जिज्ञासा, आदर, दयालुता, आश्चर्य, शरणागति, आत्म-रक्षा, कामुकता आदि कई ऐसे भाव हैं जिनके संयोग का परिणाम भक्ति-भाव है। इन सभी के सहयोग के कारण भक्ति-भाव सहज वृत्ति न होते हुए भी अत्यधिक प्रभावशाली और व्यापक वृत्ति है।

भक्ति-भाव के सम्बन्ध में अभिव्यक्त मनोवैज्ञानिकों के इस मत के सम्बन्ध में हम एक बात अवश्य कहना चाहेंगे। प्रायः सभी विद्वानों का यह विचार है कि सांसारिक दुःखों पर विजय पाना भक्ति-भाव के उदय का मूल कारण है। भारतीय मनीषियों ने इसे जरा दूसरी तरह से—दार्शनिक शब्दावली में व्यक्त किया है। उनके अनुसार जीव में सत्, चित् और आनन्द ये तीन तत्त्व विद्यमान हैं। इनमें से सत् और चित् अपनी जागृत अथवा कार्यशील अवस्था में हैं, जिनका हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। किन्तु आनन्द तत्त्व जीव में सुप्त अवस्था में है ; वह कर्म या संस्कारों वश तिरोभूत हो गया है। अतः उसका हमें केवल आभास मिलता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। यह आनन्द तत्त्व का आभास हम इस रूप में देख सकते हैं कि सभी जीवधारी संसार में आने के उपरान्त एक ही लक्ष्य की ओर विभिन्न मार्गों से अग्रसर होते हैं और वह लक्ष्य है—सुख की प्राप्ति। सुख के सम्बन्ध में सभी व्यक्तियों की अपनी अपनी धारणाएँ हो सकती हैं, किन्तु इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि जीव संसार में ऐसा कोई कार्य प्रसन्नता से करना चाहेगा जिसमें उसे सुख की प्राप्ति न होती हो। उसके इसी सुख की प्राप्ति में अनेक प्रकार की बाधाएँ आती हैं जिनसे उसे दुःख पहुँचता है अथवा वे वस्तुएँ जिन्हें उसने सुख का साधन स्वीकार किया था उसे सुख नहीं दे पातीं। इन दोनों ही कारणों से वह

दुःखी तथा निराश होकर दूसरे सुख-साधनों की खोज में अग्रसर हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि सुख की ओर जाने के लिए प्रेरित करने वाला आनन्द तत्त्व सभी जीवों में सदा विद्यमान रहता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति-भाव क्षुधा आदि की भाँति सहज अनुभूत भाव चाहे न हो किन्तु उसके उदय के लिए प्रेरणा देने वाला आनन्द तत्त्व सदा जीव के हृदय में विद्यमान रहता है। और इसका उदय जीव के कर्मों अथवा संस्कारों पर बहुत कुछ निर्भर है। इसलिए भारतीय विचारक जब भक्ति-भाव की स्थिति मनुष्य के हृदय में स्वीकार करते हैं तो उनका अभिप्राय इसी आनन्द तत्त्व से होता है, जो तिरोहित दशा में सभी में विद्यमान है किन्तु जो अनेक प्रयत्नों (भक्ति-मार्ग के साधनों) के फल स्वरूप आविर्भूत होता है। भारतीय विचारकों का यह मत पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों से थोड़ा सा भिन्न होते हुए भी बिल्कुल गलत नहीं कहा जा सकता।

मानसशास्त्रीय विवेचन के द्वारा दूसरी जिस बात की ओर ध्यान जाता है वह काम-भावना का रूपान्तर है। भक्ति-भाव में केवल काम-वृत्ति का रूपान्तर होता है—इस बात का हम ऊपर खण्डन कर आये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में दो बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना हम अवश्य चाहेंगे। पहली बात यह है कि 'काम' को भारतीय मनीषियों ने भी जीवन का मूल भाव स्वीकार किया है, किन्तु उसका अर्थ अत्यधिक व्यापक है। वहाँ 'काम' केवल 'सैक्स' वाले काम-भाव का सूचक नहीं है। वह 'जिजीविषा' का सूचक है—जिसमें मनुष्य की सभी लौकिक इच्छाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। जब जीव इन सभी लौकिक इच्छाओं को ईश्वर की ओर उन्मुख कर देता है तभी भक्ति-भाव के उपयुक्त रूपान्तर सम्भव होता है। अतः 'काम' का संकुचित अर्थ ग्रहण करना उचित नहीं है। फ्रॉयड के बाद युंग आदि ने 'लिबिडो' को यही व्यापक अर्थ देने का प्रयत्न किया। दूसरी बात यह है कि काम चाहे भक्ति-भाव और विशेष रूप से माधुर्य भक्ति में सर्वेसर्वा न हो, तो भी उसका उसमें बहुत हाथ है, यह मानने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि काम मनुष्य की सबसे प्रबल वृत्तियों में से है। अतः यदि इसका रूपान्तर हो जाता है, जैसा कि हमारे विचार से माधुर्य्य भक्ति में होता है, तो जीव को अत्यधिक सुख की प्राप्ति हो सकती है। और काम-भावना के सम्पर्क से भक्ति का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। यह थाउलेस आदि पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों की भी धारणा है। माधुर्य्य भक्ति के कृष्ण-भक्त-कवियों ने राधा-कृष्ण के जिस मधुर-प्रेम का वर्णन किया है उसका आधार निश्चित ही सामान्य लौकिक प्रेम

है। हाँ यहाँ उसका रूपान्तर हो गया है—इसलिए उसमें पाठकों को भक्ति-भाव में तल्लीन कर देने की शक्ति है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि माधुर्य्य भक्ति को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समझा जा सकता है। साधक अपनी विभिन्न मानसिक वृत्तियों को जिनमें काम-वृत्ति प्रधान है रूपान्तरित कर भगवत्प्रेम की ओर उन्मुख कर देता है। राधा-कृष्ण की शृंगार लीलाएँ इस प्रकार के रूपान्तर में अत्यधिक सहायक सिद्ध होती हैं। इनके ध्यान द्वारा साधक का काम-भाव धीरे-धीरे उन्हीं लीलाओं में लीन होने लगता है। कालान्तर में भगवत्प्रेम के दृढ़ हो जाने पर उसके हृदय का वासनात्मक काम निःशेष हो जाता है। अतः यहाँ काम-भाव का निरोध अथवा दमन बिलकुल नहीं है। उसका स्वाभाविक रूप से राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के माध्यम से कृष्ण के मधुर-प्रेम में रूपान्तर है। इसी प्रेम की अनुभूति माधुर्य्य भक्ति के साधक का मात्र प्राप्य है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि माधुर्य्य भक्ति के दार्शनिक, साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक सभी आधार दृढ़ हैं। दार्शनिक दृष्टि से भक्त भगवान् की लीलाओं का दर्शन करके भाव मग्न हो मधुर प्रेम की अनुभूति करता है। साहित्यिक दृष्टि से वह राधा-कृष्ण के मधुर-लीला-सम्बन्धी सरस पदों को पढ़ता और सुनता है। इनमें वर्णित विभावादि से उसका मधुर रति स्थायी भाव रस-दशा को प्राप्त होता है जिससे उसे अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्त राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के ध्यान द्वारा अपने काम-भाव को उन्हीं में लीन कर देता है। रूपान्तर की इस प्रक्रिया द्वारा काम-भाव के निःशेष हो जाने पर उसे मधुर प्रेम का अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य्य भक्ति का पर्य्यवसान सभी दृष्टियों से आनन्द में है।

माधुर्य्य भक्ति द्वारा प्राप्त प्रेम जितना मधुर है, उसका प्राप्त करना उतना ही कठिन है। इस रस-मार्ग में सफलता उसी साधक को मिलती है जो अपना सर्वस्व अपने आराध्य के चरणों में अर्पण कर दे। माधुर्य्य भक्ति के दोनों मुख्य तत्त्व—तत्सुखीभाव और अनन्यता इसी पूर्ण आत्मसमर्पण पर आधारित हैं। अपनी इन्द्रिय-लिप्सा की पूर्ति का मार्ग तो मनुष्य सर्वत्र ही बना लेता है—मधुर उपासना में उसका इस ओर प्रवृत्त हो जाना कोई आश्चर्यकारी घटना नहीं है। साधना-मार्ग तो साधक के लिए है विषयी के लिये नहीं। हाँ विषयी कौन है और साधक कौन है—इसका निर्णय व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता है।

उपासना के ये विविध मार्ग केवल आध्यात्मिक उन्नति के लिये हैं। अतः इन मार्गों को स्वीकार करना अथवा न करना प्रत्येक की इच्छा पर निर्भर है।

दूसरी बात यह है कि मधुर उपासना ही नहीं अन्य उपासना मार्ग भी तभी तक शुद्ध रहते हैं, जब तक उन्हें बाह्याडम्बर से दूर रखा जाये। जहाँ भी साधक साधना को मानसिक पक्ष से हटाकर शारीरिक (बाह्य) पक्ष पर ले आता है—वहीं से उसके पतन का सूत्रपात हो जाता है। वल्लभ सम्प्रदाय में भ्रष्टाचार फैलने का मात्र कारण यही है कि वहाँ मानसिक साधना सर्वथा निर्बल हो गई थी और बाह्याडम्बर ने प्रबल रूप धारण कर लिया था। मानसिक साधना से अभिप्राय है कि साधक अपने मन को सदा विषयों से हटाकर श्रीकृष्ण-चरणों में ही लगाए रखे। स्पष्ट है कि यहाँ सतत मानसिक निरीक्षण की आवश्यकता है। मन की विकृति का मुख्य कारण है निजी भावनाओं में मन का रमण। और उसके रमण का मुख्य क्षेत्र है काम। काम-परक विषयों का चिन्तन करते समय वह यह भी भूल जाता है कि मेरा मानसिक और शारीरिक बल इस चिन्तन के साथ-साथ क्षीण हो रहा है। माधुर्य्य भक्ति मनुष्य की इसी प्रवृत्ति को लेकर चली है। मधुर-लीलाओं में काम-परक सभी चेष्टाएँ हैं, किन्तु भावना का अन्तर है। ये चेष्टाएँ निजी नहीं राधा-कृष्ण की हैं और इसलिए विकार शून्य हैं। इस प्रकार हम लीलाओं के चिन्तन द्वारा स्व की भावना हटाकर वैयक्तिकता का मूलोच्छेद कर देते हैं। स्व भावना के हटते ही हमारा मन तन्मय होकर मधुर प्रेम की अनुभूति करता है। यही काँटे से काँटा निकालना है। यह सत्य है कि इस प्रकार की साधना अत्यधिक कठिन है, किन्तु गीता के इस श्लोक की सार्थकता तभी तो है —

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

माधुर्य्य भक्ति का उपर्युक्त विवेचन विषय सम्बन्धी सामान्य विवेचन है। ब्रजमण्डल के सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में माधुर्य्य भक्ति का यही स्वरूप स्वीकृत है। किन्तु इस सामान्य स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी उनमें परस्पर उपास्य, उपासना और उपासक तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्नता है। अतः ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझने के लिए इन सभी सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्वतन्त्र रूप से समझ लेना आवश्यक है। ब्रजमण्डल के विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में से यद्यपि सभी की उपासना में मधुरोपासना को स्वीकार किया गया है किन्तु आचार्य वल्लभ

ने अपने सम्प्रदाय में बालभाव की उपासना का प्रचार किया था। इस कारण इस सम्प्रदाय में माधुर्य्य भक्ति की प्रधानता स्वीकार नहीं की जा सकती। पर मधुरोपासना की प्रधानता न होते हुए भी माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप निर्धारण में इसका महत्त्व कम नहीं है। इसलिए अगले अध्यायों में हम पहले राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के ही ध्यान को उपासना स्वीकार करने वाले निम्बार्क, गौड़ीय, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप की चर्चा करेंगे। तदुपरान्त वल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालेंगे। इसके अतिरिक्त विषय (ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति) के अनुसार प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों की माधुर्य्य भक्ति की समीक्षा भी इन्हीं अध्यायों में की गई है।

———

षष्ठ अध्याय

निम्बार्क सम्प्रदाय
माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि

माधुर्य्य भक्ति- प्रवर्तक के रूप में आचार्य निम्बार्क

विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में निम्बार्क सम्प्रदाय का समय सबसे प्राचीन है। इस सम्प्रदाय की स्थापना से पूर्व भी कृष्ण-भक्ति का प्रचलन था—ऐसा भागवत आदि कृष्ण-लीला-परक ग्रन्थों से पता चलता है। किन्तु कृष्ण-भक्ति को सर्वप्रथम साम्प्रदायिक रूप देने का श्रेय आचार्य निम्बार्क को है। इसलिए प्राचीनता के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय का कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य निम्बार्क ने अपनी उपासना की विस्तार से चर्चा अपने किसी भी ग्रन्थ में नहीं की। उनके दशश्लोकी ग्रन्थ में जो कि निम्बार्क के भक्ति-सिद्धान्तों का मुख्य ग्रन्थ है, उपासना के स्वरूप के विषय में केवल यही श्लोक मिलता है—

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥[1]

इस श्लोक में कृष्ण के उस रूप के स्मरण एवं ध्यान के लिये कहा गया है जिसके वाम भाग में श्री वृषभानुजा (राधा) विराजमान हैं और जिनकी सेवा में सहस्रों सखियाँ अलंकार, वस्त्र, ताम्बूल, माला, व्यजन, चामर आदि विभिन्न सेवा उपकरणों को लिए तत्पर हैं। आचार्य निम्बार्क के इस श्लोक से इस सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। किन्तु इस सम्प्रदाय में आगे चल कर माधुर्य्य भक्ति का जो विकास हुआ है, उसका बीज इसी श्लोक में स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य निम्बार्क ने राधा-संयुक्त कृष्ण को उपास्य के रूप में स्वीकार कर कृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में पहली बार राधा को स्थान दिया है। इससे पूर्व

---

१. दशश्लोकी : श्लोक ५

भागवत में कृष्ण और गोपियों की मधुर-लीलाओं का विस्तार से वर्णन मिलता है, किन्तु वहाँ राधा नामक किसी गोपी का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त आचार्य की **'सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा'** यह पदावली एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करती है। भागवत में कृष्ण और गोपियों की लीलाएँ सामान्य रूप से वर्णित है। वहाँ कई स्थलों पर गोपियाँ अपने आपको कृष्ण की दासी कहती है—

'तप्तात्मानां पुरुषभूषण देहि दास्यम्'[1]

तथा

'वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः'[2]

किन्तु सखी रूप में राधा-कृष्ण की जिस सेवा का उल्लेख आचार्य निम्बार्क ने अपने उक्त श्लोक मे किया है, उस प्रकार की सेवा का वर्णन भागवत में कही नही मिलता। भागवत की रचना के समय तक केवल कृष्ण-लीलाओं का महत्त्व स्वीकार किया गया था। सखी रूप मे राधा-कृष्ण की सेवा करते हुए उनकी लीलाओं के दर्शन से अपने नयनों को तृप्त करने का भाव तत्कालीन कृष्ण-भक्तों के हृदय में नहीं आया था। अतः भागवत के रचना-काल तक भक्त कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का ध्यान करके ही मधुर-रस का आस्वादन कर लेते थे किन्तु कालान्तर में कृष्ण की मधुर-लीलाओं की मुख्य नायिका एवं विधायिका राधा स्वीकार कर ली गई। अन्य गोपियाँ इन्हीं के सुख में प्रयत्नशील रहने लगी। यही सखी भाव का उदय था।[3] आचार्य निम्बार्क के समय तक सखी रूप से राधा-कृष्ण की सेवा का भाव तीव्र से तीव्रतर होता जा रहा था। इसीलिए उन्होने सहस्र-सखी-परिसेवित राधा-कृष्ण के ध्यान का उल्लेख किया है। किन्तु यह इस भाव का प्रारम्भिक रूप था। यहाँ हमें सखी के स्वरूप के विषय मे कुछ विशेष पता नहीं चलता। आगे चलकर माधुर्य्य भक्ति में सखी रूप से राधा-कृष्ण की सेवा करना उपासक का मुख्य धर्म स्वीकार किया गया। तात्पर्य यह है कि आचार्य निम्बार्क सखी भाव की ओर संकेत करने वाले प्रथम आचार्य है। यद्यपि बाद मे उपासना के स्वरूप-परिवर्तन के साथ-साथ सखी का स्वरूप भी बदलता गया—किन्तु मूल भाव आचार्य निम्बार्क द्वारा निर्देशित सेवा-सुश्रूषा ही रहा।

---

१. भागवत १०-२९-३८

२. भागवत १०-२९-३९

३. सखी भाव पर हमने इसी अध्याय में आगे विचार किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य निम्बार्क के **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'** इस श्लोक में माधुर्य्य भक्ति का बीज विद्यमान है। यहाँ उपास्य-युगल के रूप में राधा-कृष्ण का स्मरण किया गया है। सहस्रों सखियाँ इनकी सेवा में रत हैं और अपनी इस सेवा से राधा-कृष्ण का सुख-सम्पन्न करती हैं। इस प्रकार माधुर्य्य भक्ति के उपास्य, उपासना और उपासक—इन तीन तत्त्वों में से इस श्लोक में उपास्य-तत्त्व बिल्कुल स्पष्ट है, उपासना के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं पड़ता और उपासक के विषय में सखी भाव से सेवा करने का केवल संकेत मिलता है। आगे सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में आचार्य के इन्हीं सूत्रों को ग्रहण कर केवल निम्बार्क सम्प्रदाय में ही नहीं, अन्य सम्प्रदायों में भी माधुर्य्य भक्ति का रूप स्थिर हुआ। इसलिये अपने उक्त श्लोक के आधार पर निम्बार्क माधुर्य्य भक्ति के प्रवर्तक आचार्य स्वीकार किये जा सकते हैं।

आचार्य निम्बार्क ने जिस माधुर्य्यभक्ति को सूत्र-रूप में अपने उक्त श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया है, उसका विकास इस सम्प्रदाय में शीघ्र न हो सका। दशश्लोकी के टीकाकारों में मुख्य हरिव्यासदेवाचार्य तथा आचार्य पुरुषोत्तम ने भी निम्बार्क द्वारा निर्देशित माधुर्य्य भक्ति के विषय में विशद रूप से कुछ नहीं कहा। यद्यपि उन्होंने आचार्य निम्बार्क के भाव को कुछ अंश में अवश्य स्पष्ट किया है, किन्तु उसके आधार पर निम्बार्क सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप स्थिर नहीं किया जा सकता। इस सम्प्रदाय में स्वीकृत माधुर्य्यभक्ति का स्वरूप क्या है—यह हमें हरिव्यासदेव रचित ब्रजभाषा के 'महावाणी' ग्रन्थ से पता चलता है। इसके अतिरिक्त उपासना के स्वरूप पर श्रीभट्ट कृत 'युगल शतक' से भी कुछ प्रकाश पड़ता है। किन्तु ये दोनों ग्रन्थ सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है, और इन लीलाओं के वर्णन में यत्र-तत्र अपने उपास्य, उपासना और उपासक के स्वरूप की भी चर्चा करदी गई है। इसी चर्चा के आधार पर हम निम्बार्क सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। पर यह दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जिस सम्प्रदाय के आचार्य ने माधुर्य्य भक्ति का सबसे पहले उल्लेख किया था उसी सम्प्रदाय में माधुर्य्य भक्ति का शास्त्रीय विवेचन अधिक नहीं हुआ।

उपास्य का स्वरूप

इस सम्प्रदाय के उपास्य राधा-कृष्ण सदा एक दूसरे के प्रेम में मत्त रहते हैं। उनका यह प्रेम एक रस है, अतः उसमें विषमता के लिए कोई

स्थान नहीं है।

संतो सेव्य हमारे श्री पिय प्यारे वृन्दाविपिन विलासी।
नंदनंदन वृषभानुनन्दिनी चरण अनन्य उपासी॥
मत्त प्रणय बस सदा एकरस विविध निकुंज निवासी।[1]

इनका रूप-लावण्य अद्भुत है, जिसे देख कर भक्त का हृदय प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है। राधा और कृष्ण वास्तव में एक प्राण हैं, किन्तु लीला के लिए उन्होंने दो विग्रह धारण किये हुए हैं। इन्हें लीला के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किन्तु इनकी लीला के प्रति इतनी आसक्ति निजी सुख की प्राप्ति के लिए नहीं है। उनका इस प्रकार विविध रूपों में विहार करना केवल भक्तों के निमित्त है अर्थात् भक्तों को सुख देने के लिये है। भक्त इन्हीं लीलाओं का दर्शन कर आनन्द लाभ करते हैं।

और कछू न रुचे इन्हें इनको नित यही आहार हो।
रसिकन हितकारने श्रीहरिप्रिया विशद विहार हो॥[2]

राधा और कृष्ण का परस्पर सम्बन्ध इस सम्प्रदाय में स्वकीया भाव का स्वीकार किया गया है। स्वकीया भाव को प्रतिपादित करने के लिए पुराणों के विविध प्रसंगों को भी स्वपक्ष में उदाहृत किया जाता है। साम्प्रदायिक विद्वानों की दृष्टि में राधा-कृष्ण का यह सम्बन्ध अलौकिक है, दिव्य है और नित्य है—अतः यह वर्णन का विषय नहीं है।[3] निम्बार्क सम्प्रदायी ब्रजभाषा के कवियों ने भी राधा को स्वकीया स्वीकार करते हुए उनकी विवाह लीला गाई है—

श्री ब्रजराज के युवराज मानों ब्याह वृन्दावन रच्यौ।
पुलिन वेदी विराजै दंपति देखि देखि सखी मन सच्यौ॥[4]

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा के प्रेम का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। श्रीभट्ट और हरिव्यासदेव दोनों ने अपने ग्रन्थों में राधा के प्रेम की

---

१. युगल शतक : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ २
२. महावाणी : पृष्ठ १६१
३. नित्यमेव हि दाम्पत्यं श्री राधाकृष्णयोर्यतः।
पाणिग्रहण सम्बन्धो वर्ण्यते न च वर्ण्यते॥
रसत्वं रसिकत्वंच श्री युग्मे सुप्रतिष्ठितम्।
दाम्पत्यंच तयोर्नित्यं तथात्वे कारणं यतः॥
—युग्मतत्त्व समीक्षा : ले० भागीरथ झा मैथिल, दशमयूख : पृष्ठ २५२
४. युगल शतक : उत्साह : पृष्ठ ४४

महत्ता का गान किया है। उनके अनुसार राधा का प्रेम अद्भुत है। स्वयं श्रीकृष्ण उसके प्रेम के वशीभूत होकर सदा 'राधा' 'राधा' रटते रहते हैं—

प्रीत रीत रस बस भये यदपि मनोहर नैन।
तदपि रटें निज मुख सदा श्री राधे राधे बैन ॥[1]

किन्तु राधा के प्रेम की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी राधा और कृष्ण के प्रेम में किसी प्रकार की विषमता इन रसिक-भक्तों ने स्वीकार नहीं की है। प्रेम की इसी समता के कारण उनका विहार सुखद है। तात्पर्य यह है कि प्रेम-मदिरा से समान रूप में मत्त हो विहार करते हुए उपास्य-युगल को ही इस सम्प्रदाय के भक्तों ने अपना ध्येय स्वीकार किया है—

सब निशि बीती खेल में, तउ उर अधिक उमंग।
ऐसे नवल किशोर वर, हियरे बसौ अभंग ॥[2]

उपासना का स्वरूप

हरिव्यासदेवाचार्य ने दशश्लोकी की टीका में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर एवं उज्ज्वल इन पाँच रसों का उल्लेख किया है।[3] किन्तु इनमें से उत्कृष्ट मधुर रस स्वीकार किया गया है। इस कारण उपास्य-युगल की मधुर रस की लीलाओं का ध्यान तथा चिंतन इस सम्प्रदाय के रसिक भक्तों की उपासना स्वीकार की गई है। क्योंकि राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का प्रेरक तत्त्व प्रेम है। अतः इनके चिन्तन द्वारा भक्त को भी प्रेम की अनुभूति होती है। इस प्रेम का आस्वादन करना इन भक्तों का मात्र प्राप्य है। इसीलिए श्रीभट्ट ने कहा है कि यदि इस विहार-दर्शन के स्थान पर कोई कोटि चिन्तामणि दे तब भी भक्तों के लिए विहार का त्याग उचित नहीं है—

रे मन वृन्दाविपिन विहार।
यद्यपि मिलै कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार ॥...॥[4]

तात्पर्य यह है कि इन रसिक भक्तों के लिए विहार सर्वस्व है—क्योंकि उसी में उपास्य-युगल का वास है। अतः उनके विहार में अपने को तल्लीन कर देना ही भक्त के जीवन की सफलता है। यही भक्तों के साध्य—प्रेम की प्राप्ति का मात्र उपाय है।

---

१. युगल शतक : सहज सुख : पृष्ठ २८
२. महावाणी : सेवा सुख : पृष्ठ २४
३. सा खलु शान्तिदास्यसख्यवात्सल्योज्ज्वलपूर्वा पंचविधा।
—सिद्धान्त कुसमांजलि : श्लोक १०
४. युगल शतक : पृष्ठ ५५

राधा-कृष्ण का विहार

राधा-कृष्ण का यह विहार लौकिक रति से तत्त्वतः भिन्न है। लौकिक रति (काम) का मूल कारण देहेन्द्रियों के सुख की प्राप्ति होता है, पर राधा-कृष्ण के विहार में इस प्रकार के देह-सुख का आभास भी नहीं होता। यहाँ दोनों प्रेम के खिलौने हैं—प्रेम की प्रेरणा से वे विहार में तत्पर होते हैं और प्रेम का आस्वादन स्वयं करना और दूसरों को कराना यही उनके विहार का निमित्त होता है। अतः उनकी ये लीलाएँ केवल प्रेमास्वादन का कारण हैं। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों वे इस विहार रूपी साधन का आश्रय लेते हैं, त्यों-त्यों उनकी प्रेम-रस-पान की लालसा और भी तीव्र होती जाती है।

उरझि रहे सुरझत नहिं क्योंहू दोउ जन तन-तन मन-मन मेलि।
तृपत न होत तृषातुर चितवत, हितू जहां श्री हरिप्रिया सहेलि॥[1]

फलतः वे विहार में और अधिक उमंग के साथ लीन हो जाते हैं। स्पष्ट है कि लौकिक रति के परिणाम श्रम, विरति आदि राधा-कृष्ण के विहार में बिल्कुल लक्षित नहीं होते। यहाँ तो समय के साथ-साथ आनन्द की मात्रा बढ़ती जाती है और इसीलिए विरति का प्रश्न नहीं उठता। आनन्द की इस तीव्रता को लक्ष्य में रखकर ये भक्त राधा-कृष्ण के विहार पर कोटि-कोटि कन्दर्प न्यौछावर कर देते हैं।

राधा-कृष्ण की रसोपासना में लौकिक मर्यादा और शास्त्रीय विधि-विधान बाधक हैं अथवा साधक—इस विषय की चर्चा इस सम्प्रदाय के किसी आचार्य अथवा भक्त-कवि ने नहीं की। किन्तु राधा-कृष्ण के विहार का वर्णन करते हुए स्थान-स्थान पर जो अभिलाषा उन भक्तों ने प्रकट की है, उससे यही आशय निकलता है कि ये भक्त सब कुछ त्याग कर इसी विहार में अपने मन को लीन करना चाहते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि हमारा कल्याण केवल राधा-कृष्ण की केलि से सम्भव है। क्योंकि भक्त के लिए यही 'सुधा के मेह' के समन केलि 'सुमंगलदा और मनमोदप्रदा' है। अतः अन्य किसी विधि-विधान अथवा लौकिक मर्यादा की उसे आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसीलिए 'महावाणी' में हरिव्यासदेव ने अपने पंथ को आगम और निगम से परे कहा है—

निगम निगम आगम अगम लहि न सके गुन ग्रन्थ।

---

१. महावाणी : सेवा सुख : पृष्ठ २४

नेम प्रेम ते पर चल्यो परम परा को पंथ ॥[1]

विहार की साधना

राधा-कृष्ण का विहार मधुर होने के कारण रसदायक अवश्य है, किन्तु इसकी साधना अत्यधिक कठिन है। यदि साधक निरन्तर सावधानी से इस मार्ग में अग्रसर होता जाय तभी सफलता प्राप्त हो सकती है। अन्यथा तनिक भी असावधानी से सभी श्रम व्यर्थ हो जाता है। अतः मानसिक विरक्ति की इस रस-साधना में परम आवश्यकता है। श्री हरिव्यासदेव ने इस उपासना-मार्ग में सफलता प्राप्त करने के अभिलाषी साधक के लिए कुछ साधनों का उल्लेख किया है, जिनका आश्रय लेकर साधक क्रम-क्रम से अपने मार्ग पर निर्विघ्न बढ़ता जाता है। उनके शब्दों में ये साधना की दस 'सीढ़ियाँ' हैं। जिन्हें एक-एक करके पार करते हुये साधक अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचता है और यहीं उसे साध्य की प्राप्ति हो जाती है। ये दस 'सीढ़ियाँ' क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) रसिक जनों की सेवा (२) हृदय में दया धारण करना (३) धर्म में निष्ठा करना (४) बिना तृप्त हुए कथा-श्रवण करना (५) इष्ट के चरण-कमलों के प्रति अनुराग बढ़ाना (६) उपास्य-युगल के स्वरूप में अपने मन को रमाना (७) इन साधनों से उसके प्रेम में वृद्धि होती है (८) तब वह सदा उपास्य-युगल के रूप का ध्यान और उनके गुणों का गान करता है (९) इस ध्यान एवं गुण-गान से उसके मन में रसोपासना के प्रति दृढ़ता आती है और इसी से पूर्ण सुख एवं आनन्द की प्राप्ति सम्भव है ऐसा निश्चय हो जाता है। (१०) तदुपरान्त दसवीं दशा में साधक के हृदय में रस की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है।

जाके दश पैड़ी अति दृढ़ हैं, बिन अधिकार कौन तहाँ चढ़ि हैं।
पहिले रसिक जनन को सेवै, दूजी दया हृदय धरि लेवै।
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं, चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनि हैं।
पंचमि पद पंकज अनुरागै, षष्ठी रूप अधिकता पागै।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावै, अष्टमि रूप-ध्यान गुन गावै।
नवमी दृढ़ता निश्चय गहिबै, दशमी रस की सरिता बहिबै ॥[2]

इन विभिन्न साधनांगों तथा साधक की अवस्थाओं से स्पष्ट है कि रस की साधना के लिए हृदय की शुद्धि परम आवश्यक है। इसी के लिए विभिन्न

---

१. महावाणी : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १७६
२. महावाणी सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १८८

साधनों की आवश्यकता पड़ती है। हृदय के शुद्ध हो जाने पर जीव केवल राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के रसास्वादन के योग्य ही नहीं वरन् संसारासक्ति छूट जाने पर वह राधा-कृष्ण के परिकर (सखी-वर्ग) में प्रवेश का अधिकारी भी बन जाता है।

इस प्रकार साधक जब साधना करते-करते भाव-दशा सिद्ध हो जाने पर राधा-कृष्ण के परिकर में प्रविष्ट हो जाता है, तब उसे किसी प्रकार की ध्यान-धारणा आदि साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। इस दशा में वह देह-सुधि भूल कर राधा-कृष्ण की क्रीड़ाओं का प्रत्यक्ष दर्शन करता है। उसके लिये उपास्य-युगल की यही प्रेम-लीलायें सर्वस्व हो जाती है और उन्हीं के आस्वादन में वह निरन्तर मग्न रहता है।

अरी मेरे नैनन को आहार।
कल न परे पल एक बिना मोहिं अवलोके सुखसार ॥...॥[1]

इस भाव-दशा में प्रिया-प्रियतम भक्त के सम्मुख विविध लीलायें प्रकट करते है। कभी वे जल-विहार करते है, तो कभी वन-विहार। कभी भक्त उनको हिंडोला झूलते हुये देखता है, तो कभी रथ-यात्रा करते हुए। कभी वे एक दूसरे पर अनुराग की पिचकारी छोड़ते हैं और कभी वे विभिन्न रंगों के फूलों से साँझी खेलते हुये उसके अन्तर्नयनों के सम्मुख आते हैं। इन लीलाओं में विभोर हो भक्त स्वयं अन्य उपस्थित सखियों से राधा-कृष्ण की लीलाओं के विधान के लिये कहता है—

दोऊ लालन ब्याह लड़ावो री, छवि देखत नैन सिरावो री।
दूलह दुलहिनि पौढावो री, दुरि दुरि दृग देखि सिहावो री ॥[2]

इस प्रकार भक्त अपनी भाव-दशा में जिन-जिन लीलाओं का दर्शन करता है उन्हीं का वर्णन वह अत्यधिक सरस ढंग से रसिकों के मनोविनोद के लिये कर देता है।

वन-विहार

लता भवन प्रिय रवन संग मिलि विलसत रुचि सों चैन।
मधि दिन फूले कमल दलन सों रचि निज सुकरन सैन ॥
सघन विपिन ऐन जु आनन्द को देखि परत नहिं गैन।
जै श्री भट्ट देखि देखि दोउन तन सुफल करत हौं नैन ॥[3]

---

१. महावाणी : सुरत सुख : पृष्ठ १३६
२. वही : उत्साह सुख : पृष्ठ १२५
३. युगल शतक : सेवा सुख

इन लीला परक पदों को बार-बार पढ़ने से साधक को उनमें रस आने लगता है और राधा-कृष्ण की लीलाओं के प्रति उसकी आसक्ति क्रमशः बढ़ती जाती है। समयानुसार वह भी उक्त भाव-दशा तक पहुँच जाता है। यही रसिक-भक्तों की साधना एवं उपासना है।

वृन्दावन धाम

राधा-कृष्ण की उक्त लीलाओं की स्थली परमधाम वृन्दावन है। इसलिये इस सम्प्रदाय के भक्तों की दृष्टि में वृन्दावन का अत्यधिक महत्त्व है। इनका विश्वास है कि वृन्दावन आनन्द का मूलस्थान है। इसके नाम लेने मात्र से उपास्य-युगल के प्रति जीव का सहज प्रेम हो जाता है। तब राधा-कृष्ण उस पर कृपा करते हैं और इस प्रकार जीव का जीवन सफल हो जाता है।

जय जय वृन्दावन आनन्द मूल।
नाम लेत पावत जु प्रणय रति युगल किशोर देत निज कूल॥[1]

इसी आधार पर वृन्दावन धाम में विरक्त होकर निवास करने का इस सम्प्रदाय में अत्यधिक महत्त्व है। जिस प्रकार वृन्दावन के नाम लेने से राधा-कृष्ण का प्रेम प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार वृन्दावन-वास करने से राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ हृदय में स्वतः स्फुरित हो जाती हैं। इसी दृढ़ विश्वास के आधार पर श्रीभट्ट जी ने अपने 'युगल शतक' में यहाँ तक कह दिया है—

विपिन राज सीमा के बाहर हरिहू को न निहार।[2]

वृन्दावन का महत्त्व राधा-कृष्ण की लीलाओं के कारण ही है। अतः श्यामा-श्याम के विहार का उल्लेख इन भक्तों ने वृन्दावन सम्बन्धी प्रत्येक पद में किया है। स्वतन्त्र रूप से वृन्दावन की सुषमा का वर्णन हमें एक भी पद में नहीं मिलता।

उपासक का स्वरूप

आचार्य निम्बार्क की इस पंक्ति **'सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा'** की व्याख्या करते हुये हरिव्यासदेवाचार्य ने राधा की मुख्य आठ सखियों—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, रंगदेवी, सुदेवी, तुंगविद्या और इन्दुलेखा का उल्लेख किया है। इनमें से प्रत्येक सखी के यूथ में अनेकों सखियाँ हैं। ये सभी राधा-कृष्ण की ताम्बूल, अलंकार, माला, व्यजन, चामर आदि उपकरणों

१. युगल शतक : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ २
२. युगल शतक : पृष्ठ ४६

से सेवा करने में तत्पर रहती हैं। यही प्रिया-प्रियतम की सेवा उनका उपासक धर्म है।[1] इस सम्प्रदाय की ब्रजभाषा की वाणियों में रसोपासना के साधक के लिये इसी सेवा-भाव का निर्देश किया गया है—

प्रातकाल ही उठि के धार सखी को भाव।
जाय मिलै निज रूप सौं याको यहै बनाव॥[2]

सखी का स्वरूप और सखी-धर्म

उक्त दोहे से स्पष्ट है कि सखी इस सम्प्रदाय में रसिक भक्त की भावावस्था का नाम है। साधना करते-करते जब हृदय शुद्ध हो जाता है और उसमें राधा-कृष्ण की लीलाएँ स्फुरित होने लगती हैं तब रसिक भक्त गुरु के निर्देश से अपने को राधा की सखी मानकर राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं में प्रवेश करता है। यहाँ उसके समान अन्य कई सखियाँ होती हैं। ये सभी ललिता, विशाखा आदि मुख्य सखियों की आज्ञानुसार प्रिया-प्रियतम (राधा-कृष्ण) की विविध भाँति से सेवा करती हैं तथा उनकी मधुर-लीलाओं को सम्पन्न कराने में योग देती हैं।

सखियों के सखी, आली, भृत्या, दूती, मंजरी और हितू—ये छह भेद माने गए हैं। किन्तु इनमें से सखी का स्थान इस सम्प्रदाय में सर्वोपरि है। अपनी इस सेवा से वह राधा की कृपा-पात्र बन जाती है और इस प्रकार राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का प्रत्यक्ष दर्शन और तदुपरान्त मधुर रस का आस्वादन उसके लिए सम्भव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन रसिक भक्तों ने राधा की कृपा से ही इस दुर्लभ रस की प्राप्ति सम्भव मानी है। अतः इस सम्प्रदाय के सभी उपासकों ने अपने को श्री राधा की प्रिय सखी मानकर अपने सेवा-धर्म को इस प्रकार सूचित किया है—

मो वित लगौ नित इहि ठाम प्रिया जू के काम।
नैन राधे बसो मूरति बैन राधे नाम।
श्रवन राधे सुजस कीरति हृदय में विश्राम।
कर लगो परिचर्य्यहू में पद लगो परिक्राम।
मधुप ह्वै मन रमो मो इहि विपिन में अभिराम।

---

१. सख्यो ललिताविशाखाचित्राचम्पकलतारंगदेवीतुंगविद्यैन्दुलेखा अष्टौ। तासां प्रत्येकमष्टाष्टौ। तासामप्येवमिति। तासां सहस्रैर्वांसोलंकारताम्बूलस्रग्व्यजन-चामरादिकरै परिषेवितां तात्पर्येणोपासितामित्यर्थः।—श्लोक पाँच पर सिद्धान्त कुसुमांजलि भाष्य।

२. महावाणी : सेवा सुख : पृष्ठ २४

टरहु जिन इनि ठौरहू ते अहु निसा सब जाम।
चरन-रज श्री हरिप्रिया की करौं सिर पर धाम ॥[1]

राधा-कृष्ण के स्नान और शृंगार की व्यवस्था, उनके भोजन और मनोरंजन की व्यवस्था तथा उनके शयन और विहार की व्यवस्था—ये सभी सखियों की सेवा के अन्तर्गत हैं। जिस समय राधा-कृष्ण शारीरिक रति से विरत हो मानसिक विहार में लीन होते हैं, उस समय ये सखियाँ उनकी अस्त व्यस्त वेष-भूषा को यथोचित ढंग से संवार देती हैं। सारांश यह है कि सखियाँ राधा-कृष्ण की रुचि को जानकर उसके अनुसार उन्हें सुख देने में सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

सखी सब रंग रंगीली जानत युगल हिये को हेत।
सोइ सोइ प्रगट दिखावत अनुदिन सब भाँतिन सौं सब सुख देत ॥[2]

इस प्रकार उपास्य-युगल को सुख देने से उन्हें स्वयं सौगुने सुख की प्राप्ति होती है—क्योंकि उनका सुख प्रिया-प्रियतम का सुख है। यदि वे सुखी हैं तो भक्त रूपा सखियाँ भी सुखी हो जाती हैं। स्पष्ट है कि इन सखियों में अपने उपास्य के सुख मे सुखी होने की भावना ही प्रधान होती है। इसी तत्सुखी भाव की प्रधानता के कारण सखियाँ उपास्य-युगल के प्रीति-विधान में सदा प्रस्तुत रहती है—

निरखि हिताई दुहुन को हाव भाव हिय धारि।
सजि आरति वारति सबै प्रात मुदित सहचारि ॥
उझकति सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास।
नव कुंज रस पुंज छवि श्यामा श्याम निवास ॥[3]

निम्बार्क सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के इस स्वरूप-विवेचन का सारांश इस प्रकार है : इस सम्प्रदाय के उपास्य-युगल नन्दनन्दन तथा वृषभानुनन्दिनी हैं, जिन्हें प्रिया-प्रियतम अथवा श्यामा-श्याम भी कहा गया है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध स्वकीया भाव का स्वीकार किया गया है। ये भक्तों के हित के लिए विविध प्रेम-लीलाओं की रचना करते हैं और सदा उन्हीं में तल्लीन रहते हैं। इन प्रेम-लीलाओं में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँच रसों की लीलाओं का समावेश है। किन्तु इस सम्प्रदाय के

---

१. महावाणी : सहज सुख : पृष्ठ १५७
२. महावाणी : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १७६
३. युगल शतक : दोहा ३८ और ७४

आचार्यों ने इनमें से मधुर रस की लीलाओं को सर्वोत्कृष्ट मान है। अतः इस सम्प्रदाय के भक्त मधुर-लीलाओं का गान, ध्यान तथा चिन्तन अपनी उपासना समझते हैं। इन लीलाओं में प्रवेश पाने के लिए इस सम्प्रदाय में सखी भाव से प्रिया-प्रियतम की सेवा करना आवश्यक माना गया है।

माधुर्य्य भक्ति के इस स्वरूप में आचार्य निम्बार्क के **'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा'** वाले श्लोक के मूल भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण किया गया है। आचार्य ने राधा-कृष्ण के केवल ध्यान का निर्देश किया था—किन्तु समयानुसार राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं की महत्ता बढ़ जाने पर बाद के रसिक भक्तों ने मधुर-लीला में लीन राधा-कृष्ण के ध्यान को स्वीकार किया। इसी प्रकार आचार्य ने केवल सखी-सेवा का उल्लेख किया था—किन्तु रसिक भक्तों का सखी भाव भावित हो राधा-कृष्ण की सेवा करना बाद के रसिक भक्तों की देन है। पर ये सब परिवर्त्तन नहीं—केवल परिवर्द्धन तथा स्पष्टीकरण मात्र है। इनका मूल भाव आचार्य निम्बार्क का ही है।

श्रीभट्ट

इतिवृत्त

माधुर्य के सच्चे उपासक श्रीभट्ट जी केशव काश्मीरी के शिष्य थे। यद्यपि इनके गुरु केशव काश्मीरी की साधना ऐश्वर्य परक थी किन्तु भट्ट जी का झुकाव आरम्भ से ही वृन्दावन की रसोपासना की ओर था। इसी कारण उन्होंने अपने गुरु की ऐश्वर्य मिश्रित साधना को छोड़कर मधुर उपासना को स्वीकार किया और उसी में अपने को लीन कर दिया। भट्ट जी का जन्म सम्वत् विवादास्पद है। निम्बार्क सम्प्रदायी विद्वान् जिस तिस प्रकार से उन्हें प्राचीन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं—किन्तु उनकी यह मान्यता तर्क एवं युक्ति के अभाव में सर्वसम्मत नहीं हो सकती। भट्ट जी ने अपने ग्रन्थ 'युगल शतक' का रचना काल निम्न दोहे में दिया है—

नयन वाम पुनि राम शशि गनो अंक गति वाम।
युगल शतक पूरन भयो संवत अति अभिराम॥[1]

युगल शतक के सम्पादक श्री ब्रजवल्लभ शरण[2] तथा 'निम्बार्क माधुरी' के लेखक ब्रह्मचारी बिहारी शरण[3] के अनुसार युगल शतक की प्राचीन प्रतियों में यही पाठ मिलता है। इसके अनुसार 'युगल शतक' का रचना काल वि० सं० १३५२ स्थिर होता है। किन्तु काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पास युगल शतक की जो प्रति है उसमें 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ है। इस पाठ-भेद के अनुसार युगल शतक का रचना-काल वि० सं० १६५२ निश्चित होता है। प्रायः सभी साहित्यिक विद्वानों—श्री वियोगी हरि,[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,[5] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी[6] आदि ने पिछले पाठ को ही स्वीकार किया है। अतः उसके आधार पर उन्होंने भट्ट जी का जन्म-समय विक्रमी संवत् १५९५ तथा कविता-काल वि० सं० १६५२ स्वीकार किया है।

युगल शतक को वि० सं० १६५२ की रचना स्वीकार करने के कई

---

१. युगल शतक : पृष्ठ ४४
२. युगल शतक की भूमिका : निम्बार्क समय समीक्षा
३. निम्बार्क माधुरी : पृष्ठ ६
४. ब्रजमाधुरी सार : पृष्ठ १०८
५. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ १८८
६. हिन्दी साहित्य : २०१

कारण हैं। पहली बात यह है कि वि० सं० १३५२ में (निम्बार्क सम्प्रदायी विद्वान् युगल शतक का रचना काल बताते हैं) ब्रजभाषा का वह प्रौढ़ रूप प्रचलित न था, जो हमें भट्ट जी के 'युगल शतक' में परिलक्षित होता है। उस समय साहित्य का माध्यम या तो अपभ्रंश भाषा थी या चारणों की डिंगल भाषा। अतः युगलशतक को इस काल की रचना मानना अधिक युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि भट्ट जी का अपने गुरु केशव काश्मीरी की ऐश्वर्य परक साधना छोड़कर मधुर रस की उपासना स्वीकार करना यह स्पष्ट सूचित करता है कि भट्ट जी के समय में रसोपासना का प्रचलन पूर्ण रूप से हो चुका था। अतः उन्हें ऐश्वर्य की साधना की अपेक्षा मधुर भाव की भक्ति में विशेष आकर्षण प्रतीत हुआ और उन्होंने इसी की उपासना को अपना लिया। युगल शतक के अनुशीलन से भी पता चलता है कि इस रचना पर श्री हितहरिवंश आदि रसिकों की वाणियों का प्रभाव पर्याप्त है। इन रसिकों का रचना-काल वि० सं० १६५२ से पूर्व का है। अतः इस दृष्टि से भी भट्ट जी का समय वि० सं० १६५२ उचित प्रतीत होता है।

कृष्णदास कविराज ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' ग्रन्थ में किसी दिग्विजयी विद्वान् की और महाप्रभु चैतन्य की परस्पर भेंट का उल्लेख किया है।[1] इस ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत करने वाले प्रभुदत्त ब्रह्मचारी के अनुसार ये दिग्विजयी पंडित केशव काश्मीरी थे।[2] उनके इस कथन की पुष्टि 'लॉर्ड गौरांग' के विद्वान् लेखक शिशिर कुमार घोष ने भी की है।[3] महाप्रभु चैतन्य का जन्म वि० सं० १५४२ में और मृत्यु वि० सं० १५९० में हुई यह बात सर्वमान्य है। अतः इस घटना के आधार पर श्रीभट्ट के गुरु केशव काश्मीरी का समय सोहलवीं शताब्दी सिद्ध होता है और तदनुसार श्रीभट्ट जी का समय सोलहवीं-सत्रहवीं शती ही ठहरता है—चौदहवीं शताब्दी नहीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीभट्ट जी का रचनाकाल वि० सं० १६५२ मानना ऐतिहासिक और साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर ठीक है। उन्हें अधिक प्राचीन सिद्ध करना केवल साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उचित हो सकता है—किन्तु इसे सत्य रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जन्म-संवत् के

---

१. तबेत करिल प्रभु दिग्विजयी जय : चै० च० : पृष्ठ २९४

२. श्री चैतन्य चरितावली : प्रथम खण्ड : पृष्ठ १८६ से २१३

३. *Lord Gaurang* : S. K. Ghosh Page 63

अतिरिक्त भट्ट जी के जन्म-स्थान आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

ग्रन्थ-रचना

साम्प्रदायिक विद्वानों के अनुसार भट्ट जी ने बहुत दोहे लिखे थे, जिनमें से कुछ ही युगल शतक के रूप में अवशिष्ट रह गये हैं। किन्तु जब तक कुछ और उपलब्ध नहीं होता तब तक हमें 'युगल शतक' नामक उनकी मात्र रचना से ही सन्तोष करना पड़ेगा। इस प्रकाशित रचना में छह सुखों का वर्णन है—सिद्धान्त, ब्रजलीला, सेवा, सहज, सुरत और उत्सव। इनमें से केवल सिद्धान्त सुख में कुछ सिद्धान्तों की चर्चा है—अन्यथा अन्य सभी सुखों का प्रतिपाद्य विषय लीला गान है। अतः 'युगल शतक' को एक लीला-ग्रन्थ के रूप में ही हमें ग्रहण करना चाहिए।

माधुर्य्य भक्ति

श्रीभट्ट जी के उपास्य 'वृन्दाविपिन विलासी' राधा और कृष्ण हैं। ये सदा प्रेम में मत्त हो विविध कुंजों में अपनी लीलाओं का प्रसार करते हैं। भट्ट जी की यह जोड़ी सनातन, एकरस-विहरण-परायण, अविचल, नित्य-किशोर-वयस् और सुषमा का आगार है।

राधा माधव अद्भुत जोरी।
सदा सनातन इक रस विहरत अविचल नवल किशोर किशोरी॥
नख सिख सब सुषमा रतनागर, भरत रसिक वर हृदय सरोरी।
जै श्रीभट्ट कटक कर कुंडल गंडवलय मिलि लसत हिलोरी॥[1]

राधा-कृष्ण का पारस्परिक प्रेम सम है। वहाँ विषमता के लिए कोई स्थान नहीं। दोनों ही अन्य के सुख का ध्यान रखते हैं—क्योंकि वे दूसरे की प्रसन्नता को ही अपनी प्रसन्नता समझते है। इस प्रकार स्वार्थ के अभाव में उनका प्रेम शुद्ध अथच दिव्य है। राधा और कृष्ण वास्तव में एकरूप हैं। वे पल भर के लिए भी दूसरे से विलग नहीं होते। ऐसी ही जोड़ी की छवि पर रसिक भक्त अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। निम्न पद में भट्ट जी ने उपास्य-युगल की एकरूपता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—

प्यारी तन स्याम स्याम तन प्यारो।
प्रतिबिंबित तन अरस परस दोऊ पलक देखियत नहिं न्यारो॥
ज्यों दर्पन में नैन नैन में नैन सहित दर्पन दिखवारो।

---

१. युगल शतक : सहज सुख : पृष्ठ २४–२५

जै श्रीभट जोरि की अति छवि ऊपर तन मन धन न्योछावरि डारो ॥[1]

राधा और कृष्ण सदा विहार में लीन रहते हैं। किन्तु इनका यह नित्य विहार कन्दर्प की क्रीड़ा नहीं है। विहार में क्रीड़ा का मूल प्रेरक तत्त्व प्रेम है न कि काम। इसी कारण नित्य विहार के ध्यान-मात्र से भक्त को मधुर रस की अनुभूति हो जाती है। अतः भट्ट जी सदा राधा-कृष्ण के इस विहार के दर्शन करना चाहते हैं और यही उनकी उपासना है।

सेऊँ श्री वृन्दाविपिन विलास।
जहाँ युगल मिलि मंगल मूरति करत निरन्तर वास॥
प्रेम प्रवाह रसिक जन प्यारे कबहुँ न छाँडत पास।
कहा कहौं भाग की श्री भट राधा कृष्ण रस-चास॥[2]

युगल किशोर की वन-विहार, जल-विहार, भोजन, हिंडोला, मान, सुरत आदि सभी लीलाएँ समान रूप से आनन्द मूलक है। अतः भट्ट जी ने सभी का सरस ढंग से वर्णन किया है। यमुना किनारे हिंडोला झूलते हुए राधा-कृष्ण का यह वर्णन बहुत सुन्दर है। इसमें झूलन के साथ तदनुकूल प्रकृति का भी उद्दीपन के रूप में वर्णन किया गया है—

हिंडोरे झूलत हैं पिय प्यारी।
श्री रंगदेवी सुदेवी विशाखा झोटा देत ललिता री॥
श्री यमुना वंशीवट के तट सुभग भूमि हरियारी।
तैसेई दादुर मोर करत धुनि सुनि मन हरत महारी॥
घन गर्जन दामिनि तें डरपि पिय हिय लपटी सुकुमारी।
जै श्री भट्ट निरखि दंपति छवि देत अपनपौ वारी॥[3]

इसी प्रकार वर्षा में भीगते हुए राधा-कृष्ण का यह वर्णन मनोहारी है। यहाँ भाव की सुन्दरता के अतिरिक्त भाषा की सरसता, स्पष्टता और प्रांजलता भी दर्शनीय है—

भींजत कुंजन ते दोउ आवत।
ज्यों ज्यों बूंद परत चूनरी पर त्यों त्यों हरि उर लावत॥
अति गंभीर झीनें मेघन की द्रुम तर छिन बिरमावत।
जै श्री भट्ट रसिक रसलंपट हिलि मिलि हिय सचुपावत॥[4]

---

१. युगल शतक : सहज सुख : पृष्ठ २५
२. वही : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ ४
३. वही : उत्सव सुख : पृष्ठ ४०
४. युगल शतक : उत्सव सुख

राधा-कृष्ण की ये लीलाएँ वृन्दावन में ही होती हैं। वृन्दावन की सीमा के बाहर कृष्ण की लीलाओं में ऐश्वर्य का मिश्रण है। अतः शुद्ध माधुर्य्य भाव के भक्त के लिए आवश्यक है कि वह अपने को वृन्दावन की लीलाओं में लीन करे। इन लीलाओं में तल्लीनता के साथ-साथ वृन्दावन-वास भी अभीष्ट है। भट्ट जी के अनुसार यदि श्रीकृष्ण स्वयं वृन्दावन की सीमा से बाहर दर्शन दें तो उनके दर्शन के लिए भी वृन्दावन छोड़ना अच्छा नहीं है।

रे मन वृन्दाविपिन विहार।
यद्यपि मिलै कोटि चिन्तामणि तदपि न हाथ पसार॥
विपिन राज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहार।
जै श्रीभट्ट धूलि धूसर तनु यह आशा उर धार॥[3]

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं के दर्शन का सहज उपाय उनकी सखी भाव से टहल करना है। भट्ट जी के कई पदों से इसी बात की पुष्टि होती है।

श्रीभट्ट एक रसिक भक्त थे। किन्तु उनकी रचना में भक्ति की तीव्रता के साथ-साथ कवित्व भी उचित मात्रा में मिलता है। युगल शतक के पदों में एक ओर भाव-तीव्रता है और दूसरी ओर भाषा की सरसता। यह सत्य है कि उसमें अलंकारों और शब्द-शक्ति आदि का प्रयोग विशेष लक्षित नहीं होता, किन्तु उनके सभी पदों में भाषा का प्रवाह, माधुर्य गुण और सरलता एवं स्पष्टता देखी जा सकती है। सच तो यह है कि भट्ट जी की उपासना की मधुरता इनके पदों का भी आभूषण बन गई है। अतः इसी प्रमुख गुण के आधार पर हमें भट्ट जी के पदों का मूल्यांकन करना चाहिए।

---

३. वही : मुख पृष्ठ

श्री हरिव्यासदेव

इतिवृत्त

श्री हरिव्यासदेव निम्बार्क सम्प्रदाय के अत्यधिक प्रसिद्ध कवि हैं। इनके समय के विषय में साम्प्रदायिक विद्वानों में दो मत हैं। प्रथम मत वालों के अनुसार हरिव्यासदेव जी का समय वि० सं० १४५० से १५२५ तक है।[1] दूसरे मत वाले इनका समय कुछ और पीछे ले जाते हैं। उनके विचार में वि० सं० १३२० ही श्री हरिव्यासदेव का ठीक समय है।[2] इन दोनों मान्यताओं की पुष्टि में जो प्रमाण दिए जाते हैं—वे ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक नहीं केवल साम्प्रदायिक ग्रन्थों अथवा अनुश्रुतियों पर आधारित हैं।

हरिव्यासदेव के गुरु श्रीभट्ट जी का समय जैसा हम पिछले पृष्ठों में विवेचन कर आए हैं—सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ सिद्ध होता है। अतः उसको सम्मुख रखते हुए हरिव्यासदेव का समय भी सत्रहवीं शताब्दी माना जा सकता है। बलदेव उपाध्याय ने एक नवीन ढंग से इनके समय का अनुमान लगाया है। उनके विचार से रसिक गोविन्द (निम्बार्क सम्प्रदाय के एक आचार्य) का काल जो हरिव्यासदेव से आठवीं पीढ़ी में हुए हैं, १८५८ विक्रमी संवत् है। अतः यदि २५ वर्ष भी एक पीढ़ी के लिए छोड़े जाएँ तो इनका समय १६५८ वि० सं० के आसपास बैठता है।[3] श्रीभट्ट जी के समय को देखते हुए यह अनुमान सर्वथा अनर्गल प्रतीत नहीं होता।

श्री हरिव्यासदेव का जन्म गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। आप श्रीभट्ट के अन्तरंग शिष्यों में से थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पर्याप्त काल तक तपस्या करने के बाद आप दीक्षा के अधिकारी बन सके थे। श्री नाभादास जी की भक्तमाल में हरिव्यासदेव जी के सम्बन्ध में निम्न छप्पय मिलता है—

खेचर नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै।
विदित बात संसार संतमुख कीरति गावै॥
वैरागिन के वृन्द रहत संग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित वैदेही॥

---

१. युगल शतक : सं० ब्रजवल्लभ शरण : निम्बार्क समय समीक्षा : पृष्ठ ८
२. निम्बार्क माधुरी : ब्रह्मचारी बिहारीशरण : पृष्ठ २३
३. भागवत-सम्प्रदाय : पृष्ठ ३२५-२६

श्री भट्ट चरन रज परसि के सकल सृष्टि जाकी नई।
श्री हरिव्यास तेज हरि भजन बल देवी को दीक्षा दई ॥[1]

इससे विदित होता है कि इनमें वैष्णवी भावना प्रबल रूप में थी। इसी भावना के बल पर इन्होंने निरीह बकरों की बलि पर संतुष्ट होने वाली देवी को भी वैष्णव धर्म की दीक्षा देकर उस घोर अहिंसा के कर्म से विरत किया था। नाभादास जी के इस छप्पय से हरिव्यासदेव जी के वैरागी और स्याम-सनेही होने का भी पता चलता है।

रचनाएँ

श्री हरिव्यासदेव की संस्कृत की चार रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—सिद्धान्त रत्नांजलि—दशश्लोकी की बृहत् टीका (२) प्रेम भक्ति विवर्धिनी—निम्बार्क अष्टोत्तर शत नाम की टीका : (३) तत्त्वार्थ पंचक और (४) पंच संस्कार निरूपण। इन चार के अतिरिक्त एक अन्य पुस्तक जिसके रचयिता हरिव्यास-देव कहे जाते हैं, 'राधा माधव अष्टयाम प्रकाश' नाम की हमने सर्वेश्वर कार्या-लय वृन्दावन में देखी है। किन्तु ब्रजभाषा में हरिव्यासदेव जी की केवल एक रचना—'महावाणी' उपलब्ध होती है।

हिन्दी साहित्य के किसी इतिहास में इस रचना अथवा इसके लेखक का कोई उल्लेख नहीं मिलता। श्री वियोगी हरि ने भी अपने 'ब्रजमाधुरी सार' में हरिव्यासदेव नाम के किसी भक्त कवि का उल्लेख नहीं किया। वास्तव में इसका कारण यह है कि महावाणी के रचयिता श्री हरिव्यासदेव ही थे—इस विषय में विद्वान् एकमत नहीं हैं। केवल निम्बार्क सम्प्रदाय के विद्वान् ही महावाणी को श्री हरिव्यासदेव की रचना मानते हैं। अतः इस विषय पर संक्षेप में यहाँ विचार कर लेना असंगत न होगा।

महावाणी के रचयिता हरिव्यासदेव

महावाणी को हरिव्यासदेव की कृति न मानने के कई तर्क दिए जाते हैं। किन्तु इनमें से कुछ में साम्प्रदायिक पक्षपात की तीव्र गन्ध है। अतः इस प्रकार के तर्कों से हमने बचने का प्रयत्न किया है। हम केवल साहित्यिक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि से संगत तर्कों को ही यहाँ दे रहे हैं।

पहला तर्क यह है कि 'वृन्दावन में किसी भी रसिक समाज में 'हरिप्रिया' (हरिव्यासदेव का सखी नाम) का नाम नहीं मिलता। कहीं हरिप्रिया के पदों का गान नहीं होता। यदि उनके पद प्रचलित होते तो 'हरिप्रिया' का नाम

१. छप्पय संख्या ७७

और उनके पदों की चर्चा रसिक-समाज में अवश्य होती। हरिव्यास का नाम अवश्य मिलता है किन्तु उनकी किसी हिन्दी रचना का कोई उल्लेख नहीं है। अतः 'महावाणी' की 'हरिप्रिया' के नाम पर बाद में रचना की गई है। और यह रचना १८ वीं शताब्दी की है।' इस तर्क का आरम्भिक अंश—वृन्दावन के रसिक समाज की इस रचना के बारे में अनभिज्ञता—अवश्य ही ध्यान आकर्षित करता है। किन्तु यह सब मानते हुए भी उसको १८ वीं शती की रचना स्वीकार कर लेना उस तर्क को खोखला बना देता है। अतः महावाणी का समय क्या है इस विवाद में न पड़ते हुए भी इतना तो इस तर्क से सिद्ध होता ही है कि यह रचना रसिकों के सम्मुख बहुत बाद में आई।

दूसरा तर्क यह है कि 'हरिव्यासदेव जी का नाम भी—भक्तनामावली, रसिकमाल, रसिक अनन्यमाल आदि ग्रन्थों में वर्णित रसिकों में नही है।' इस तर्क से यह सिद्ध किया जाता है कि महावाणी किसी रसिक के द्वारा ही लिखी जा सकती है और हरिव्यासदेव साधना से भले ही रसिक हों किन्तु किसी ग्रन्थ के आधार पर रसिक भक्त नहीं सिद्ध होते। इस बात की पुष्टि श्री हरिव्यासदेव जी के 'सिद्धान्त-रत्नांजलि' (दशश्लोकी की टीका) को पढ़ने से भी होती है। वहाँ **'अंगे तु वामे वृषभानुजा'** या **'उपासनीयं नितरां जनैः सदा'**—इन श्लोकों पर टीका करते हुए इन्होंने मधुर भाव पर विशेष कुछ नहीं लिखा है। यदि हरिव्यासदेव वास्तव में महावाणी जैसी मधुरभाव-परक कृति के रचयिता हैं—तो दशश्लोकी की टीका में उनका इस विषय में अपना मन्तव्य प्रकट न करना कुछ रहस्यमय अवश्य प्रतीत होता है।

'महावाणी की कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध न होना'—यह एक अन्य तर्क है जिसके द्वारा महावाणी की अर्वाचीनता सिद्ध की जाती है। इन विद्वानों के अनुसार महावाणी की अधिकांश हस्तलिखित प्रतियाँ १९ वीं शती की हैं। इसकी भाषा भी प्राचीन नहीं है। 'अतर' आदि शब्दों का प्रयोग हरिव्यासदेव के समय का प्रयोग नहीं है। और महावाणी की अभिव्यंजना शैली भी रीतिकालीन प्रतीत होती है।

इन तर्कों के आधार पर महावाणी को हरिव्यासदेव की रचना न मानकर यह सिद्ध किया जाता है कि महावाणी के वास्तविक रचयिता रूपरसिक जी हैं। इस बात की पुष्टि में कई प्रमाण प्रस्तुत किए जाते हैं। उनमें पहला किशोरीअलिशरण का यह पद है—

रूपरसिक से रूपरसिकवर।
दिव्य महावानी रससानी, प्रकट करन प्रकटै अवनी पर॥
अति रहस्य रस की परिपाटी, लखिवे इनकी कोउ न सरिवर।
उमड़ि घुमड़ि हिय भाव घटा सौं बरसत नित प्रति आनन्द को झर॥
गौर श्याम के रंग झकोटे कोरे भय आये नारी नर।
नयननि की सैननि सौं 'अलि' को दरसाये नव केलि कुंज घर॥

इस मान्यता के लिए दूसरा प्रमाण सेवक-वाणी की टीका में सर्वसुख-दास द्वारा उद्धृत रूपरसिक जी की एक साखी है जो महावाणी में भी मिल जाती है—

प्रिया शक्ति आह्लादनी प्रीतम आनन्द रूप।
तन वृन्दावन जगमगै, इच्छा सखी सरूप॥

इन सभी तर्कों का सारांश यह है कि महावाणी बहुत आधुनिक रचना है और इसके वास्तविक रचयिता 'हरिप्रिया' सखी नाम वाले हरिव्यासदेव नहीं वरन् रूपरसिक हैं।[1] किन्तु महावाणी को रूपरसिक की कृति मानने में हमें आपत्ति है। इसका कारण यह है कि रूपरसिक की तीन रचनायें—बृह-दुत्सव मणिमाल, हरिव्यास यशामृत और लीलाविंशति हमने देखी हैं। 'हरिव्यास यशामृत' में तो स्पष्ट रूप से कवि ने हरिव्यासदेव के विषय में कहा है—

अतिदयाल जनपाल गुणागुण सकल लोक आचारज राई।
वेदन को अति ही दुल्लभ सो महावानी आप बनाई॥

ऐसी स्थिति में महावाणी को रूपरसिक की रचना मानना उचित नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त बृहदुत्सव मणिमाल की भाषा का महावाणी की भाषा से कोई साम्य नहीं है। महावाणी जैसी प्रौढ़ भाषा केवल लीला-विंशति में मिलती है—जिसका समय रूपरसिक ने इस प्रकार दिया है—

पंदरा सै रू सत्यासिया मासोत्तम आसोज।
यह प्रबंध पूरन भयो शुक्ल शुभ दिन द्योज॥

किन्तु इस 'पंदरा सै रु सत्यासिया' के स्थान पर डा० सत्येन्द्र ने एक प्राचीन प्रति के आधार पर 'सतरा सै रु सत्यासिया' पाठ माना है (यह प्रति हमें देखने को नहीं मिली)। इन दोनों संवतों में से कौन सा ठीक है यह नहीं

१. ये तर्क हमें अपने अध्यापक डा० विजयेन्द्र स्नातक से प्राप्त हुए हैं—जिन्होंने विभिन्न साम्प्रदायिक विद्वानों से मिलकर इनका संग्रह किया था।

कहा जा सकता। किन्तु यह निश्चित है कि यह रचना १६५० विक्रमी संवत् के बाद की है। क्योंकि इस पर नागरीदास, सरसदास आदि हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवियों की शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है और इन कवियों का कविता काल वि० सं० १६५० या उसके बाद का है। इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि महावाणी का रचना काल बहुत प्राचीन नहीं है और न ही इसे 'हरिव्यास यशामृत' के लेखक रूपरसिक की कृति स्वीकार किया जा सकता है। अतः पुष्ट प्रमाण के अभाव में महावाणी के रचयिता के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय दे सकना हमारे लिये यहाँ सम्भव नहीं है।

महावाणी का प्रतिपाद्य

महावाणी में सेवा, उत्साह, सुरत, सहज तथा सिद्धान्त नाम से पाँच सुखों का क्रमशः वर्णन है। सेवा सुख में सहचरी-रूपा भक्त की अष्टयाम सेवा विभिन्न पदों में गाई गई है। उत्साह सुख में जो कि विषय की दृष्टि से उत्सव सुख होना चाहिए विभिन्न उत्सवों का वर्णन किया गया है। सुरत सुख में रति-लीन प्रिया-प्रियतम की मधुर लीलाओं का वर्णन है जो रस की दृष्टि से उपासना की चरम स्थिति माना जा सकता है। सहज सुख में युगल-किशोर के परस्पर तथा उनके प्रति सहचरियों के सहज स्वाभाविक प्रेम का वर्णन किया गया है। सिद्धान्त सुख राधा, कृष्ण, वृन्दावन तथा सहचरी—नित्य विहार के इस चतुर्व्यूह के स्वरूप को स्पष्ट करता है। अतः हरिव्यासदेव जी की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को इन पाँच सुखों के आधार पर सहज ही हृदयंगम किया जा सकता है।

माधुर्य्य भक्ति

महावाणीकार के उपास्य राधा-कृष्ण प्रम-रंग में रंगे हैं। दोनों वास्तव में एक प्राण हैं—किन्तु क्रीड़ा के लिए उन्होंने दो विग्रह धारण किए हुए हैं। वे सदा संयोगावस्था में रहते हैं—क्योंकि दूसरे का क्षणिक विछोह भी उन्हें सह्य नहीं है। आह्लादनी शक्ति-स्वरूपा राधा का स्थान श्रीकृष्ण की अपेक्षा विशिष्ट है।

मनमोहन वस कारिनी नखसिख रूप रसाल।
सो स्वामिनि नित गाइए रसिकनि राधा बाल॥[1]

---

१. महावाणी : उत्साह सुख : पृष्ठ ५९

प्रिया-प्रियतम के परस्पर प्रेम का स्वरूप भी विलक्षण है। इस प्रेम के वशीभूत वे नित्य-संयोग में नित्य-वियोग की अनुभूति करते हैं।

सदा अनमिले मिले तऊ लागे चहनि चहानि।
हौं बलि जाऊँ अहु कहा अरी अटपटी बानि॥[1]

उनकी स्थिति यह है कि परस्पर छाती से छाती मिली है किन्तु फिर भी वे एक दूसरे में समा जाने के लिए व्याकुल हैं। पर राधा-कृष्ण का यह प्रेम सर्वथा विकार-शून्य है। इसी कारण वह मंगलकारी, आनन्द प्रदान करने वाला और सुधा की वर्षा करने वाला है।

सदा यह राज करो बलि जाऊँ दंपति को सुख सहज सनेह।
सुमंगलदा मनमोदप्रदा रसदायक लायक सुधा को सो मेह॥[2]

दोनों के इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति सुरत में होती है। इसीलिए महावाणी में विहार-लीन नवल-किशोर के ध्यान का निर्देश किया गया है—

सब निशि बीती खेल में तउ उर अधिक उमंग।
ऐसे नवलकिशोरवर, हियरे बसो अभंग॥[3]

युगलकिशोर की सभी लीलाएँ—विहार, झूलन, मान, रास आदि भक्त का मंगल साधन करने वाली हैं। अतः इस सलोनी जोड़ी के प्रेम-रस में अपने को रमा देना ही रसिक भक्तों की मात्र कामना है। अर्थात् वह चाहता है कि वह सदा उपास्य-युगल की मधुर-लीलाओं का दर्शन करता रहे।

अरी मेरे नैननि को आहार।
कल न परे पल एक बिना मोहिं अवलोके सुखसार॥
सकल मनोरथ सफल होत तब करत हिये संचार।
श्रीहरिप्रिया प्रान-जीवन-धन को यह सुरत बिहार॥

अतः कवि जब पूर्ण मनोयोग से राधा-कृष्ण की इन विहार लीलाओं का गान करता है तो उस गान में कविता के सभी तत्त्वों (भाव और भाषा सम्बन्धी) का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है।

मनमोहन मनमोहनी जू भीने रंग अपार।
मोहन मंदिर मध्य करें दोउ सुख सों सुरत विहार॥

---

१. महावाणी : सहज सुख पृष्ठ १५२
२. वही : सहज सुख : पृष्ठ १५२
३. वही : सेवा सुख पृष्ठ २४

गुननिधि गोरी सेज पर जु सोये दोउ सुकुमार ।
मनहु दबी ह्वै अचल चंचला घनश्यामल के भार ।।
रसिक रसीली राखियेजु लै उरजन के आधार ।
अधर सुधारस प्यावति पिय को प्यारी परम उदार ।।
तन मन मिलि एकत भये हो विच न समावत हार ।
निज दासी जहाँ निकट निहारति श्री हरिप्रिया सुख सार ।।[1]

राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का दर्शन उपास्य-युगल की सेवा करते हुए ही सम्भव है। अतः भक्त सहचरी रूप में प्रिया-प्रियतम की सेवा करते हुए सदा उनके समीप बना रहना चाहता है। प्रिया-प्रियतम की रुचि को लक्ष्य में रखकर उनकी विविध लीलाओं की व्यवस्था करना तथा उनके भोजन, शयन, शृंगार आदि की चिन्ता करना सखियों का सेवा धर्म है।

सखी सबै नवरंग-रंगीली जानत जुगल हिये को हेत ।
सोइ सोई प्रकट दिखावत अनुदिन सब भाँतिन सों सब सुख देत ।।[2]....।।

महावाणी का काव्यत्व

महावाणी के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिव्यासदेव ने इसकी रचना केवल लीला-गान के लिए नहीं की है। महावाणी के द्वारा उनका उद्देश्य रस-साधना पर प्रकाश डालना तथा भक्तों को इस उपासना में प्रवृत्ति करना रहा है। इस कारण महावाणी में हरिव्यासदेव का आचार्य रूप तथा उपदेशक का रूप अधिक स्पष्ट होता है। ऊपर किए गए माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप-विवेचन से उनका आचार्य रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। अधिकतः उन्होंने रसोपासना के सिद्धान्त की ही चर्चा महावाणी में की है।

निगम निगम आगम अगम लहि न सके गुण ग्रन्थ ।
नेम प्रेम ते पर चल्यो परम परा को पंथ ।।[3]

इसके अतिरिक्त उनका उपदेशक रूप निम्न कवित्त में देखा जा सकता है—

यही है यही भूलि भर्मा न कोउ भूलि भर्मे ते भव भटक मरि हो ।
लाड़िली लाल के नित्य सुखसार बिन कौन विधि वार ते पार परि हो ।।

---

१. वही : सेवा सुख : पृष्ठ ४६
२. वही सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १७६
३. वही : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १७६

एक अनन्य की टेक उर में धरौ परिहरो भर्म ज्यों फूलि फरि हौ।
श्री हरिप्रिया के परमपद पास ही आशु अनियासहीं वास करि हौ ॥[1]

विषय-वर्णन में भी महावाणीकार ने संगति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। प्रिया-प्रियतम को रति लीन दिखाना उनका मात्र उद्देश्य है और सभी स्थानों पर चाहे वे स्नान कर रहे हों अथवा भोजन कर रहे हों उन्हें रति-रंग में रंगे हुए ही चित्रित किया गया है, जो अच्छा नहीं लगता। कहीं-कहीं तो भाव भी स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। रास के इस वर्णन को पढ़कर—

नाचत नवल नागर रहसि रास रंगे।
..... ॥
अलग लगदाट अपटें झपट झट रपट सुघट संगीत रट थुंग थुंगे।
खिररथिर रेतूवट तिरपउरपेउरनि मुरनि शिर ढुरनि अति गति सुढंगे ॥[2]—

पाठक को नवल नागर का रास-नृत्य इतना प्रभावित नहीं करता जितना कि कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों का नृत्य। शब्दों की लपट-झपट में ही पाठक का मन अटक जाता है और भाव पीछे छूट जाता है। यही कारण है कि सच्चे भक्त के लिए महावाणी साम्प्रदायिक ग्रन्थ के रूप में भले आदरणीय हो—किन्तु भक्ति-भाव की दृष्टि से उसे इसमें उतनी तन्मयता नहीं मिलती जितनी 'युगल शतक' या हितहरिवंश आदि रसिक भक्तों की वाणियों में।

इन सब न्यूनताओं के होते हुए भी महावाणी के कुछ स्थलों से हरिव्यास-देव की काव्य-प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। इन स्थलों को पढ़कर स्पष्ट हो जाता है कि यदि वे सैद्धान्तिक नियमों के फेर में न पड़कर राधा-कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यक्ति करते तो वे सुन्दर काव्य-रचना कर सकते थे। महावाणी के जिन पदों में भाव की ओर ध्यान रखा गया है वहाँ भाषा और शैली में भी सौन्दर्य आ गया है।

सकल निसि विलसि प्रिया लाल जागे।
सुरत-सुख-सेज पर उमगि बैठे दोऊ अंग अंग सहज अनुराग रागे ॥
विमद मद मदन लखि होत विधु-वदन छवि रदन रसरंग दिवि दाग दागे।
श्री हरिप्रिया सहज सुन्दर सुखद रसिकवर परस्पर प्रेम पाग पागे ॥[3]

---

१. वही : सिद्धान्त सुख : पृष्ठ १७७
२. वही : सेवा सुख : पृष्ठ ४५
३. वही : सुरत सुख : पृष्ठ १३१

श्री रूपरसिक

इतिवृत्त

श्री रूपरसिक निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में से हैं। केवल निम्बार्क सम्प्रदाय में नहीं, अन्य सम्प्रदाय के रसिकों में भी इन्हें बहुत आदर प्राप्त है। महावाणी के प्रसंग में उद्धृत किशोरीअलिशरण का पद **'रूपरसिक से रूपरसिकवर'**—इस बात का पुष्ट प्रमाण है। इन्होंने अपने 'हरिव्यास यशामृत' में श्री हरिव्वासदेव को अपना गुरु स्वीकार किया है।

श्री हरिव्यास भजो मन भाई।
असरन सरन करन सुख दुख हर महा प्रेम घन आनन्ददाई॥
अतिदयाल जनपाल गुणागुण सकल लोक आचारज राई।
वेदन को अति ही दुल्लभ सो महावाणी आप बनाई॥
दंपति मिलन सनातन मारग भजन रीति जा प्रभु दरसाई।
रूपरसिक रसिकन की जीवन महिमा अमित पार न पाई॥

इसी आधार पर इनका समय १७ वीं शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है। किन्तु अपने लीलाविंशति ग्रन्थ का रचनाकाल इन्होंने इस प्रकार दिया है—

पंदरा सै रु सत्यासिया मासोत्तम आसोज।
यह प्रबन्ध पूरन भयो शुक्ला सुभ दिन द्योज॥

इस दोहे के आधार पर साम्प्रदायिक विद्वान् रूपरसिक का समय सोलहवीं शताब्दी ठहराते हैं। अतः निर्विवाद रूप से उनका वास्तविक समय निर्धारित करना कठिन है। रूपरसिक जी के जन्म-स्थान तथा कुल आदि के विषय में भी विशेष सामग्री नहीं मिलती। स्वयं ब्रह्मचारी बिहारीशरण ने स्वीकार किया है—**'इनके परिचय के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती।'**[1]

रचनाएँ

रूपरसिक जी के तीन हस्तलिखित ग्रन्थ—बृहदुत्सव मणिमाल, हरिव्यास यशामृत, और लीलाविंशति हमने सर्वेश्वर कार्यालय, वृन्दावन में देखे हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्मचारी बिहारीशरण ने १२० पदों की 'नित्यविहार पदावली' का उल्लेख अपने 'निम्बार्क माधुरी' नामक ग्रन्थ में किया है। किन्तु इस ग्रन्थ का एक भी पद उन्होंने उद्धृत नहीं किया। अतः इस पुस्तक के

१. निम्बार्क माधुरी : पृष्ठ-९४

विषय में कुछ लिखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। उक्त तीन ग्रन्थों में से 'हरिव्यास यशामृत' में आचार्य हरिव्यासदेव के गुणों का वर्णन किया गया है। इसी गुण-वर्णन में उनकी रसोपासना तथा सामान्य भक्ति की भी चर्चा रूपरसिक जी ने की है। दूसरा ग्रन्थ 'बृहदुत्सव मणिमाल' अपने नाम के अनुरूप एक बृहद् ग्रन्थ है, जिसमें वसन्त से लेकर व्यंजनद्वादशी तक के सारे उत्सवों का वर्णन है। यह उत्सव-वर्णन केवल राधा-कृष्ण तक सीमित नहीं है—इनमें से कई उत्सवों का सम्बन्ध विष्णु के राम, वामन, नृसिंह आदि अवतारों से भी है। किन्तु प्रेम-लीलाओं का वर्णन इस ग्रन्थ में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

लीलाविंशति ग्रन्थ की रचना रूपरसिक ने इसी रूप में की थी, जिस रूप में वह आज उपलब्ध होता है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसके कई स्थलों पर 'रूपरसिक महाराजकृत' तथा **'सुमरि सुमरि हरिव्यासपद लिखत राधिकादास'**—ऐसा लिखा हुआ मिलता है। रूपरसिक महाराज और राधिकादास में से 'लीलाविंशति' का वास्तविक रचयिता कौन है—यह निर्णय नहीं किया जा सकता। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रूपरसिक महाराज का कोई बृहद् ग्रन्थ इस नाम का था—जिसका सारांश उपलब्ध 'लीलाविंशति' ग्रन्थ में राधिकादास ने दिया है। क्योंकि आकार में यह ग्रन्थ बहुत छोटा है और इसे प्रबन्ध कहना, जैसा कि ग्रंथ के अन्त में कहा गया है—केवल प्रबन्ध की हँसी करना है। वैसे इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय राधा और कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का सरस ढंग से वर्णन है।

माधुर्य्य भक्ति

उक्त तीन ग्रन्थों में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन करते समय रूपरसिक जी ने अपने उपास्य, उपासना तथा उपासक भाव के प्रति जो विचार प्रगट किए हैं उनका सारांश इस प्रकार है: इनके उपास्य राधा-माधव सर्व समर्थ हैं। इनकी राजधानी वृन्दावन है, जहाँ ये भक्तों को अपनी विभिन्न लीलाओं से सुख प्रदान करते हुए सदा निवास करते हैं। इनकी सेवा से भक्त को अनायास ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

हमारे राधा माधो धेय।
काहु बात की कमी न राखें जो चाहें सो देय॥
रजधानी वृन्दावन जैसी निगमागम की ज्ञेय।
अनायासही रूपरसिक जन पावत सब सुख सेय॥[1]

---

१. बृहदुत्सव मणिमाल (हस्तलिखित)

राधाकृष्ण के विहार का दर्शन कर उसी के ध्यान में सदा लीन रहना ही इनकी उपासना एवं भजन-रीति है। इसी से सहज-प्रेम की प्राप्ति सम्भव है।

पिय लिय लगाय हिय सों प्रबीनि।
मन भायौ सुख ले छांडि दीनि॥
यह दम्पति को मधुरितु विलास।
गावे जो पावे प्रेमरास॥
महा मधुर मधुर ते अति अनूप।
रसपान करे होय रसिक रूप॥[1]

अपनी इसी भजन-रीति के अनुरूप इन्होंने राधा-कृष्ण की सभी विहार लीलाओं—रति, झूलन, राग-नृत्य आदि का सुन्दर वर्णन किया है।

आजु सखी झुलत हिंडोरे देखे।
कबहुँक प्यारी कबहुँक प्यारो दोऊ प्रीति बिसेषे।
कोमल कर को परस पाय के मदत मदन वस कर लीन्हें।
धरें अंक पीवत अधरामृत सहज सुरत सुख दीन्हें।
मंद-मंद सों चलत हिंडोरा प्रेम बिवस भये सुख दीन्हें॥[2]

राधा-कृष्ण की इन प्रेम-लीलाओं के दर्शन का मात्र उपाय उनकी सखी भाव से सेवा है। सखी के विषय में विचार प्रगट करते हुए रूपरसिक ने लीलाविंशति ग्रन्थ में लिखा है—**'तत्त्व एक ही है, सेवा निमित्त अनेक रूप आभासतु हैं, भेद न करनों ए प्यारी प्यारे जू की प्यारी सखी है। जब दोउ प्रीतम परम प्रकाशनमय मोहनमंदिर में अलबेले अति सनेह सौं सुरत युद्ध करते हैं तब वा समें ए न्यारी ह्वै अति सुख अमृत पान करिवे के लिए नीरिक्षण करतु हैं·····प्रेम रंग भरी माधुरी को अवलोकनि करि परसपर निज भाग सराहति हैं, कहति हैं कि धन्य भाग हैं सजनी रसिक रसीले जू की रहसि निहारें।'**

इन पंक्तियों से सखियों के स्वरूप तथा उनकी अभिलाषा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यही संक्षेप में इनकी माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप है।

रूपरसिक जी की वाणी का महत्त्व भक्ति-भावना की दृष्टि से जितना है उतना कवित्व की दृष्टि से नहीं। क्योंकि भावपूर्ण होते हुए भी पद भाषा की दृष्टि से शिथिल हैं। किन्तु जिन पदों में भाव के साथ परिमार्जित तथा सरस भाषा का प्रयोग किया गया है वे पद अवश्य ही सुन्दर हैं।

---

१. बृहदुत्सव मणिमाल
२. बृहदुत्सव मणिमाल

सप्तम अध्याय

गौड़ीय सम्प्रदाय
माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप तथा प्रमुख कवि

गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य द्वारा लिखित माधुर्य्य भक्ति विषयक कोई ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है पर महाप्रभु के अनुयायियों ने अपने ग्रन्थों में माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप और सिद्धान्तों का विशद विवेचन किया है। माधुर्य्य भक्ति के ये ग्रन्थ गौड़ीय सम्प्रदाय में ही नहीं, वरन् सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य हैं। इसका कारण यह है कि इनमें प्रतिपादित माधुर्य्य भक्ति के सिद्धान्त अपने मूल रूप में सभी सम्प्रदायों में स्वीकृत हैं।

महाप्रभु के अनुयायियों में माधुर्य्य भक्ति को शास्त्रीय आधार देने का श्रेय षट्-गोस्वामियों (सनातन, रूप, रघुनाथ दास, रघुनाथ भट्ट, गोपाल भट्ट और जीवगोस्वामी) को है। इनके अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं, जिनमें से रूपगोस्वामी रचित 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा जीव गोस्वामी कृत 'षट् सन्दर्भ' या 'भागवतसन्दर्भ' का नाम उल्लेखनीय है। षट् गोस्वामियों के बाद इस सम्प्रदाय में कृष्णदास कविराज का स्थान है। इन्होंने अपनी वृद्धावस्था में 'चैतन्यचरितामृत' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में महाप्रभु की जीवनी तथा सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों को सुन्दर ढंग से गुम्फित किया गया है। सिद्धान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त गौड़ीय सम्प्रदाय में साहित्यिक ग्रन्थ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। ये जीवनी, नाटक, चम्पू, काव्य—सभी प्रकार के हैं। किन्तु इन सभी ग्रन्थों की भाषा संस्कृत अथवा बंगला है। ब्रजभाषा में अभी तक ब्रजवासी भक्त-कवियों के कुछ पद ही उपलब्ध हो सके हैं। अतः गौड़ीय सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का विवेचन करने के लिए हमने संस्कृत तथा बंगला के ग्रन्थों का ही मुख्य रूप से आश्रय लिया है।

माधुर्य्य भक्ति

गौड़ीय आचार्यों का माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का विवेचन अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक विशद है। यहाँ उसे केवल दार्शनिक आधार देने का ही

प्रयत्न नहीं किया गया वरन् उसे साहित्यिक आधार पर भी प्रतिष्ठित किया गया है। रूपगोस्वामी के 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' में क्रमशः भक्ति रस तथा मधुर भक्ति रस का विस्तार से विवेचन इसी साहित्यिक आधार को सम्मुख रखते हुए किया गया है। इसी विवेचन का अनुसरण रूपगोस्वामी के परवर्ती कवि कृष्णदास कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चैतन्य चरितामृत' में किया है।

उपास्य तत्त्व

गौड़ीय आचार्यों के अनुसार प्रधान उपास्य राधा और श्रीकृष्ण है—

उपास्येर मध्ये कौन उपास्य प्रधान।
श्रेष्ठ उपास्य युगल राधा-कृष्ण नाम॥[1]

ये वास्तव में एक आत्मा हैं, किन्तु परस्पर विलास द्वारा रसास्वादन करने के लिए इन्होंने दो विग्रह धारण किए हुए है। सिद्धान्ततः कृष्ण शक्तिमान् है और राधा उनकी आह्लादिका शक्ति हैं। अतः दोनों में स्वरूपगत भिन्नता होते हुए भी अभिन्नता है।

श्रीकृष्ण : श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघन हैं। उनकी चित् शक्ति आनन्दांश रूपा ह्लादिनी, सद्रूपा सन्धिनी और चिद्रूपा सवित् इन त्रिविध रूपों में विकसित हुई है।

सच्चिदानन्द पूर्ण कृष्णेर स्वरूप।
एकई चिच्छक्ति तार धरे तिन रूप॥
आनन्दांशे ह्लादिनी सदंशे सन्धिनी।
चिदंशे संवित् यारे ज्ञान करि मानि॥[2]

स्वयं अवतारी होने के कारण वे विभिन्न अवतारों के कारण हैं। वे सभी ऐश्वर्यों से युक्त तथा सर्वशक्तिमान् हैं। उनका सौंदर्य और माधुर्य्य अपूर्व है। रूप में वे मूर्तिमान् शृंगार प्रतीत होते हैं। इसी कारण सभी (स्थावर और जंगम) प्राणी उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं।

यद्यपि श्रीकृष्ण का प्राकट्य परव्योम (गोलोक), मथुरा और द्वारका में भी स्वीकार किया गया है, तथापि गौड़ीय सम्प्रदाय के उपास्य कृष्ण की विहार-स्थली ब्रज-भूमि है। यहाँ वे अपने सभी ऐश्वर्यों को तिरोहित करके शुद्ध माधुर्य्य भाव में स्थित रहते हैं। यहाँ उनका रूप चतुर्भुज नहीं, साधारण

१. चै० च० : मध्यलीला : अष्टम परिच्छेद
२. चै० च० : आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद

नर की भाँति द्विभुज है। इस प्रकार ब्रजभूमि में कृष्ण अपना ईश्वरत्व भूलकर मानवोचित सभी प्रेम-लीलाएँ करते हैं। और स्वयं रस-रूप होते हुए भी लीला द्वारा रस का आस्वादन करते हैं।

राधा : कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति होने के कारण राधा कृष्ण का प्रेम-रूप स्वीकार की गई हैं। ये कृष्ण का आह्लादन करती हैं—इसी कारण इन्हें 'ह्लादिनी' ऐसा नाम दिया गया है। स्वयं कृष्ण राधा-रूप ह्लादिनी शक्ति का आश्रय लेकर भक्तों का पोषण करते हैं।

कृष्ण के आह्लाद करे ताते नाम ह्लादिनी।
सेई शक्ति द्वारे सुख आस्वादे आपनि॥
सुख रूप कृष्ण करे सुख आस्वादन।
भक्तगणे सुखदिते ह्लादिनी कारण॥'

कृष्ण की इच्छाओं की पूर्ति राधा की मात्र आराधना है। अपने इस आराधन भाव के कारण ही राधा को पुराणों में 'राधिका' नाम दिया गया है। गोविन्द ही उसके सर्वस्व हैं, अतः उसे गोविन्द-नन्दिनी, गोविन्द-मोहिनी और गोविन्द-सर्वस्वा कहा गया है। राधा सर्वत्र कृष्ण का दर्शन करती हैं, सब समय कृष्ण का गुण-श्रवण करती हैं और सदा कृष्ण का ही स्मरण करती हैं। इस प्रकार राधा कृष्णमयी हैं। कृष्ण के प्रति राधा का प्रेम अपूर्व है। स्वयं कृष्ण इस प्रेम के वशीभूत हैं। संसार को तृप्त करने वाले होने पर भी उन्हें राधा के प्रेम से तृप्ति प्राप्त होती है। यही कारण है कि कृष्ण रास में राधा के प्रेम-वश अन्य गोपियों को छोड़कर राधा के पीछे-पीछे जाते हैं। कृष्णदास कविराज ने राधा-प्रेम का उत्कर्ष दिखाने के लिये चैतन्य चरितामृत में कहा है—'प्रेम ह्लादिनी-शक्ति का सार अंश है। यह प्रेम आनन्द-रूप तथा चिन्मय-रूप है। इसी प्रेम का सार 'महाभाव' है। राधा इसी महाभाव की प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार प्रेम-रूप होने के कारण उनका शरीर प्रेम से विभावित अथच ओतप्रोत है।'

ह्लादनीर सार अंश तार प्रेम नाम।
आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परम सार महाभाव जानि।
सेई महाभाव रूपा राधा ठाकुरानि॥

---

१. चै० च० : मध्य लीला : अष्टम परिच्छेद

प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम विभावित।
कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठ जगते विदित ॥[1]

राधा को महाभाव की प्रतिमूर्ति कह कर रुक्मिणी आदि कृष्ण-प्रियाओं से उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार 'महाभाव' की प्राप्ति आर्य पथ (लोक लाज इत्यादि) का त्याग किए बिना नही हो सकती। यही कारण है कि रुक्मिणी आदि कृष्ण-प्रियाएँ ह्लादिनी शक्ति का रूप होने पर भी महाभाव की स्थिति तक नही पहुँच पाई हैं। दूसरी ओर राधा की अंशभूता ब्रजदेवियों में महाभाव-दशा अवश्य है, किन्तु महाभाव के सार-रूप मादन-भाव की स्थिति इनकी भी नही है।[2] इस प्रकार राधा सर्वकान्ता शिरोमणि स्वीकार की गई हैं।[3]

राधा कृष्ण की मुख्य शक्ति हैं। इस कारण जिस प्रकार श्री कृष्ण अपनी लीला के विस्तार के लिए विभिन्न अवतार ग्रहण करते है—उसी प्रकार राधा भी अवसरोचित कान्ता-गण का प्रसार करती हैं। क्योंकि रसोल्लास के लिए यह प्रसार आवश्यक है। कृष्ण-कान्ताओं के तीन वर्ग है—लक्ष्मीगण, महिषी-गण और ब्रजांगना। इनमे से प्रेम की तीव्रता के कारण ब्रजांगनाएँ श्रेष्ठ स्वीकार की गई है। किन्तु राधा इन सब की अग्रणी है। उनमें केवल प्रेम की प्रधानता नहीं, रूप, गुण और सौभाग्य की दृष्टि मे भी वे अद्वितीय हैं। इस कारण जहाँ अन्य गोपियाँ रस की उपकरण मात्र है वहाँ राधा रस-वृद्धि का कारण हैं। इसीलिए राधा को 'कृष्ण-प्राण-धन' कहा गया है।

सेई गोपीगण मध्ये उत्तमा राधिका।
रूपे गुणे सौभाग्ये प्रेमे सर्व्वाधिका।
राधा सह क्रीड़ार वृद्धिर् कारण।
आर सब गोपी रसोपकरण।
कृष्णेर वल्लभा राधा कृष्ण प्राण धन ॥[4]

गोपी : गौड़ीय सम्प्रदाय मे उपास्य-युगल राधा-कृष्ण के उपरान्त गोपियों का स्थान स्वीकार किया गया है। इसका कारण यह है कि गोपियाँ ही

---

१. चै० च० : मध्य लीला : अष्टम परिच्छेद

२. महाभाव, मादन भाव आदि शब्दों की व्याख्या हमने आगे इसी अध्याय में दी है।

३. उज्ज्वलनीलमणि : राधा प्रकरण। श्लोक ३ पर विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका।

४. चै० च० : आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद।

उपासना-मार्ग में साधक भक्त की आदर्श हैं। इस सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार गोपियों की उपासना 'रागात्मिका' भक्ति है और अन्य जीव इसी भक्ति का अनुसरण करते हैं, अतः उनकी उपासना को 'रागानुगा' भक्ति कहा जाता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि मधुर उपासना में गौड़ीय-आचार्यों ने गोपियों की भजन-रीति का आनुगत्य ही सर्वोत्तम साधन माना है।

राधा के समान गोपियों के लिये भी कृष्ण सर्वस्व हैं। वे अपने प्रिय तथा इष्ट कृष्ण की इच्छाओं को सदा जानती हैं और उन्हीं के अनुसार वे सदा उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं।

गोपिका जानेन कृष्णेर मनेर वांछित।
प्रेम सेवा परिपाटि इष्ट समीहित॥[2]

गोपियों का कृष्ण के प्रति प्रेम सर्वथा शुद्ध है, उसमें काम की गन्ध लेश-मात्र भी नहीं है। इसका कारण यह है कि कृष्ण-सुख ही उनके लिए सब कुछ है। उसके समक्ष वह अपने सुख की रत्ती भर परवाह नहीं करती। वे अपने देह को इसलिए सजाती हैं कि वह किसी प्रकार कृष्ण सुख का कारण बन सके। तात्पर्य यह है कि गोपियों का तन मन सभी कुछ कृष्ण चरणों में अर्पित है। उनके इस तत्सुखीभाव के कारण कृष्ण को तो सुख प्राप्त होता ही है किन्तु गोपियाँ भी कृष्ण को सुखी देखकर अत्यधिक सुखी होती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि गोपियों का सुख कृष्ण-सुख में पर्य्यवसित हो गया है।

गोपिका दर्शने कृष्णेर ये आनन्द हय।
ताहा है ते कोटि गुण गोपी आस्वादय॥
....।
गोपिकार सुख कृष्ण सुखे पर्य्यवसान॥[3]

राधा तथा गोपियों का प्रेम

गौड़ीय आचार्यों के अनुसार दाम्पत्य-भाव-परक मधुरा रति (मधुर प्रेम) तीन प्रकार की है—साधारणी, समंजसा और समर्था। कृष्ण-सुख की अभिलाषा इन तीनों प्रकार की रति में होती है—किन्तु कृष्ण-सुख के साथ निजी सुख की भावना के अभाव के कारण इनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष माना गया है। साधारणी रति में कृष्ण-सुख के साथ-साथ निजी सुख की अभिलाषा भी पूर्ण

१. रागात्मिका तथा रागानुगा भक्ति की चर्चा हमने आगे इसी अध्याय में की है।
२. चै० च० : आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद
३. चै० च० : आदिलीला : चतुर्थ परिच्छेद

रूप से रहती है। निज संभोगेच्छा की वृद्धि और ह्रास के अनुसार क्रमशः इस रति में तीव्रता अथवा क्षीणता आती है। इसलिए इस रति में प्रेम की तीव्रता अधिक लक्षित नहीं होती। साधारणी रति का प्रादुर्भाव कृष्ण के साक्षात् दर्शन अथवा कहीं कहीं गुण-श्रवण से स्वीकार किया गया है।[1] इस प्रकार की रति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कुब्जा है।

समंजसा रति में भी कृष्ण-सुख के साथ-साथ निजी सुख की स्थिति स्वीकार की गई है। किन्तु साधारणी रति की भाँति यह सुख सदा लक्षित नही होता। यह कृष्ण-सुख में एकाकार हो जाता है और यदा कदा ही इसका आभास मिलता है। यह स्वसुख की कामना केवल वयस्-धर्म का परिणाम होता है। अतः समंजसा रति का प्रेम साधारणी रति से तीव्र सिद्ध होता है।[2] पत्नीत्व के अभिमान से युक्त इस रति का उदाहरण रुक्मिणी आदि रानियाँ हैं।

समर्था रति साधारणी और समंजसा रति से विशिष्ट है। इस रति में निजी सुख की भावना कृष्ण-सुख मे विलीन हो जाती है। इस रति से सम्पन्न भक्त सदा कृष्ण-सुख के लिए प्रयत्नशील रहता है। स्व सुख के इस विसर्जन के कारण यहाँ प्रेम का तीव्रतम रूप प्रकट हुआ है। प्रेम में इस तीव्र रूप में कुल की मर्यादा तथा लोक-लज्जा सभी कुछ बह जाता है।[3] इसलिए यह रति अद्भुत, चमत्कारिणी तथा साधारणी और समंजसा रति से श्रेष्ठ है। यही समर्था रति प्रौढ़ दशा को प्राप्त हो महाभाव की अवस्था तक पहुँचती है। अतः कृच्छ्रसाध्य होने पर भी यह रति भक्तों तथा मुमुक्षों द्वारा मृग्य (अनुकरणीय) मानी गई है।[4] समर्था रति की स्थिति केवल गोपियों अथवा राधा

---

१. नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शनसंभवा।
संभोगेच्छा निदानेयं रतिः साधारणी मता॥
—उज्ज्वलनीलमणि : स्थायी भाव : श्लोक ३९

२. पत्नीभावाभिमानात्मा गुणादिश्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदितसंभोगतृष्णा सान्द्रा समंजसा॥
—वही : स्थायी भाव : श्लोक ४२

३. कंचिद्विशेषमायान्त्या संभोगेच्छा ययाभितः।
रत्या तादात्म्यमापन्ना सा समर्थेति कथ्यते॥
समर्था सर्व विस्मारिगन्धा सान्द्रतमा मता॥
—वही : स्थायी भाव : श्लोक ४६-४७

४. इयमेव रतिः प्रौढा महाभावदशां व्रजेत्।
सा मृग्या स्यादिमुक्तानां मुक्तानां च वरीयसाम्॥
—वही : श्लोक ५१

में स्वीकार की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि साधारणी, समंजसा और समर्था रति के विवेचन द्वारा गौड़ीय आचार्यों ने गोपियों के प्रेम की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। प्रेम की वह तीव्रता जो उोपियों में दृष्टिगत होती है रुक्मिणी आदि रानियों में नहीं है। अतः गोपियों का प्रेम ही भक्त के लिए आदर्श अथच अनुकरणीय है।

गोपियों का प्रेम भाव-भिन्नता के कारण घृत-रूप और मधु-रूप दो प्रकार का माना गया है। घृत-रूप प्रेम में कृष्ण के प्रति आदर की भावना पूर्ण होती है और इसलिए इस प्रकार के प्रेम से युक्त गोपियों में सदा यही धारणा रहती है कि 'तू कृष्ण की है।' गोपियों के इस भाव को **'त्वदीया भाव'** कहा गया है। इसके विपरीत मधु-रूप प्रेम में सम्मान का भाव सर्वथा लुप्त हो जाता है। इस प्रकार के प्रेम से युक्त गोपियों में त्वदीया-भाव के विपरीत **'मदीया भाव'** की स्थिति मानी गई है। जिसमें 'कृष्ण मेरे हैं' यही भावना प्रेम का आधार स्वीकार की गई है।[1] तात्पर्य यह है कि घृत-स्नेह में आदर-भावना की प्रधानता के कारण प्रेम की अत्यधिक तीव्रता नहीं आ पाती। किन्तु मधु-स्नेह युक्त प्रेम में इस प्रकार के सम्मान-भाव के अभाव के कारण किसी प्रकार का व्याघात नहीं आता। अतः इस कोटि का प्रेम तीव्रतम स्वीकार किया गया है।

इन दो रूपों के स्नेह (प्रेम) के आधार पर गोप-युवतियों के दो यूथ हैं। प्रथम यूथ उन गोपिकाओं का है जो घृत-स्नेह युक्त हैं और दूसरे यूथ में वे गोपिकाएँ आती हैं जिनमें मधु-स्नेह की प्रधानता है। इनमें से प्रथम यूथ की नायिका चन्द्रावली हैं और दूसरे यूथ की नायिका राधा स्वीकार की गई हैं।[2] अतः स्पष्ट है कि गौड़ीय सम्प्रदाय में गोपियों का प्रेम उत्कृष्ट है—किन्तु इनमें भी राधा का प्रेम अनन्य है।

राधा का परकीया भाव

गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की परकीया स्वीकार की गई हैं। स्वकीया और परकीया से क्या तात्पर्य है—इस विषय की विस्तार से चर्चा हम

---

१. आत्यन्तिकादरमयः स्नेहो घृतमितीर्यते।
मदीयत्वातिशयभाक् प्रिये स्नेहो भवेन्मधुः॥
—वही : स्थायीभाव : श्लोक ७६-८५

२. तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधाचन्द्रावलीत्युभे।
यूथयोस्तु ययोः सन्ति कोटिसंख्या मृगीदृशः॥
—वही : राधा प्रकरण : श्लोक १

पंचम अध्याय में कर आए हैं। गौड़ीय आचार्यों के अनुसार कृष्ण की स्वकीया द्वारिकावासिनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ हैं। इनमें रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और माद्री ये आठ मुख्य हैं। इन आठों में—ऐश्वर्य की दृष्टि से रुक्मिणी और सौभाग्य की दृष्टि से सत्यभामा श्रेष्ठ हैं। कृष्ण की परकीयाओं मे सभी गोपियों को परिगणित किया गया है। इनमें सर्वप्रमुख राधा है। जीव गोस्वामी के अनुसार रुक्मिणी आदि रानियों तथा ब्रजदेवियो की भक्ति में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम वर्ग की भक्ति दास्य-मिश्रित कान्ताभाव की है—वहाँ गोपियों की भक्ति में कान्ताभाव सख्य-मिश्रित है।[1] दास्य भाव में प्रेम की तीव्रता उतनी नही होती जितनी सख्य भाव में। वहाँ ऐश्वर्य का भाव सदा विद्यमान रहता है, जिसके कारण हम अपने प्रिय से अधिक निकटता का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते। और दूसरी ओर सख्य भाव मे किसी प्रकार का दुराव अथवा सकोच नहीं होता। इस कारण परकीया भाव-परायण गोपियो मे प्रेम की जो तीव्रता लक्षित होती है वह स्वकीया वर्ग की कान्ताओं में नही है।

गौडीय सम्प्रदाय मे परकीया भाव को केवल प्रेम-तीव्रता के कारण इतना महत्त्व दिया गया है।[2] जहाँ इस प्रकार की तीव्रता के अभाव मे केवल इन्द्रिय-सुख लक्ष्य रहता है वहां यह भाव अवनति का कारण सिद्ध होता है। गौड़ीय आचार्यों ने भाव की निर्मलता और प्रौढ़ता के प्रतीक के रूप में ही परकीया भाव को ग्रहण किया है। इस प्रकार की भाव-तीव्रता से कृष्ण-माधुरी का आस्वादन सम्भव हो सकता है। इसी आधार पर इस भाव को रसोल्लास (उत्कर्ष) की अवधि कहा गया है। किन्तु परकीया भाव की स्थिति केवल ब्रज-वधुओं में स्वीकार की गई है।

परकीया भावे अति रसेर उल्लास।
ब्रज बिना ईहार अन्यत्र नाहि वास॥[3]

अन्य साधक भक्तों के लिए तो गोपियों के आदर्श प्रेम का अनुकरण ही उचित है। अतः वे परकीया भाव से भाव की शुद्धता और तीव्रता का ही

१. एवं श्री षट्महिषीषु दास्यमिश्रः कान्ताभावः।
श्रीमद्व्रजदेवीषु सख्यमिश्र इत्यादिकं ज्ञेयम्॥
—जीवगोस्वामी कृत षट् सन्दर्भ : प्रीतिसंदर्भ : पृ० ७३९

२. सूर-साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृष्ठ २६-२७ और उसकी टिप्पणी।

३. चैतन्य चरितामृत।

अर्थ ग्रहण करें। इसी आशय को रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में इस श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है —

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
इत्येवं भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥[1]

गौड़ीय सम्प्रदाय में जिस परकीया भाव को 'रसेर उल्लास' माना गया है उसका प्रचलन इस सम्प्रदाय में कब हुआ—यह विवादास्पद विषय है। डा० सुशील कुमार डे के अनुसार गौड़ीय सम्प्रदाय में परकीया वाद का प्रचलन षट्गोस्वामियों के बाद हुआ। क्योंकि रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी के किसी भी ग्रन्थ मे इस भाव की पुष्टि नहीं होती।[2] डा० डे के इस मत का समर्थन "चैतन्य-मूवमेन्ट" ग्रन्थ के लेखक केनेडी ने किया है। इनका कहना है कि आरम्भ मे राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में गौडीय सम्प्रदाय मे दो मत थे। प्रथम वर्ग वाले राधा को कृष्ण की स्वकीया मानते थे और दूसरे वर्ग के विद्वान् उसे परकीया। वृन्दावन के षट्गोस्वामी प्रथम मान्यता के पोषक थे—किन्तु कालान्तर मे परकीयावाद वाला पक्ष प्रबल हो गया और इस प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय में परकीयावाद को ही सर्वमान्यता प्राप्त हुई।[3] श्री बलदेव उपाध्याय ने भी इस बात की पुष्टि करते हुए अपने ग्रन्थ भागवत-सम्प्रदाय में लिखा है—**"श्री जीव गोस्वामी राधा के स्वकीयात्व के ही समर्थक हैं। 'राधाकृष्णार्चन दीपिका' में उनका स्पष्ट कथन है कि अवतार-लीला में जहाँ कहीं श्री राधा के परकीयात्व का आभास मिलता है, वह किसी रस विशेष के पोषणार्थ ही समझना चाहिए।"**[4]

रूपगोस्वामी के ग्रन्थों का अनुशीलन करने से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि वे परकीयावाद के पक्ष मे बिल्कुल नही थे। इस भाव से सामाजिक नियमों मे जो अव्यवस्था आ सकती है उसकी आशंका उनके हृदय में बराबर बनी हुई थी। इसी कारण जहाँ कहीं भी परकीयावाद का प्रसंग आया है वहाँ उन्होंने उसकी निर्दोषता अनेक तर्कों द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है। ऐसे ही एक अवसर पर उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि कृष्ण ने राधा तथा

१. हरिवल्लभा प्रकरण : श्लोक २३
२. *Vaishnava Faith and Movement in Bengal*: Dr. S. K. Dey : Page 443.
३. पृष्ठ १०७
४. पृष्ठ ३४६

अन्य गोपियों से गान्धर्व-रीति से विवाह कर लिया था अतः वास्तव में गोपियाँ कृष्ण की स्वकीया थीं—परकीया नहीं।

गान्धर्वरीत्या स्वीकारात्स्वीयात्वमिह वस्तुतः।
अव्यक्तत्वाद्विवाहस्य सुष्ठु प्रच्छन्नकामता॥[1]

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इस विषय को दार्शनिक दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार राधा कृष्ण की आनन्द-रूपिणी "ह्लादिनी" शक्ति है जो कृष्ण का ही रूप है। इसलिए उनका परस्पर मिलन स्वकीया का मिलन है परकीया का मिलन नहीं। किन्तु उन स्थलों पर जहाँ राधा को परकीया के रूप में चित्रित किया गया है, वहाँ उसका लीला-रूप लिया गया है। किसी आर्ष (ऋषि-प्रणीत) शास्त्र में राधा और कृष्ण के विवाह का उल्लेख नहीं है। इसलिए प्रकट तथा अप्रकट दोनों प्रकार की लीलाओं में राधा को परकीया माना गया है।[2] इस विषय में डा० शशिभूषण दास गुप्त का यह वक्तव्य भी ध्यान देने योग्य है—**'जीव गोस्वामी के परवर्ती काल में परकीयावाद परमतत्त्व के रूप में ही स्वीकृत हुआ है। परवर्ती काल के लेखकों ने जीव गोस्वामी को भी परकीयावादी सिद्ध करने की चेष्टा की है। हमने चैतन्य-चरितामृतकार कृष्णदास कविराज के परकीया-तत्त्व समर्थन की बात लिखी है। परवर्ती काल के पंडित विश्वनाथ ने भी दार्शनिक दृष्टि से इस परकीया मत को प्रकट और अप्रकट दोनों लीलाओं में ही एक समान प्रमाणित करने की चेष्टा की है। यदुनन्दनदास के नाम से प्रचलित कर्णानन्द ग्रन्थ में इस परकीयावाद की स्थापना जीव गोस्वामी का असल उद्देश्य है, यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। परवर्ती काल में स्वकीया-परकीयावाद के सम्बन्ध में वितर्क सभा हुई थी और उसमें युक्ति-तर्क द्वारा परकीयावाद की ही प्रधानता स्थापित हुई थी ऐसे कुछ तथ्यों का पता चलता है। इन तथ्यों की प्रामाणिकता संशयातीत है।**[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि गौड़ीय सम्प्रदाय के

१. उज्ज्वलनीलमणि : हरिवल्लभा प्रकरण : श्लोक १५

२. रागमार्गेण भजने ब्रजभूमौ श्री राधापरिकरत्वेन परकीयाभावं शुद्ध माधुर्यं ज्ञानं प्राप्नोति। यद्यपि श्री राधिका श्रीकृष्णस्य स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिः; तस्या अपि श्रीकृष्ण स्वीय एव, यदपि तयोर्लीलासहितयोरेवोपास्यत्वं न तु लीला-रहितयोः लीलायान्तु तयां ब्रजभूमौ क्वाप्यार्षशास्त्रे दाम्पत्यं न प्रतिपादितमिति श्री राधा हि प्रकटाप्रकट प्रकाशयोः परकीयैव इति सर्वार्थं निष्कर्षं संक्षेपः।
—भक्ति ग्रन्थावली : रागवर्त्मचन्द्रिका।

३. 'श्री राधा का क्रम विकास' : पृष्ठ २३५

प्रवर्तन काल में राधा-कृष्ण का सम्बन्ध क्या था—यह विवाद का विषय है। किन्तु धीरे-धीरे परकीयावाद की स्थापना होती गई और कालान्तर में लीलाओं के लिए राधा-कृष्ण में परस्पर परकीया सम्बन्ध स्वीकृत हो गया।

उपासना तत्त्व

उपास्य राधा-कृष्ण की लीलाओं का श्रवण एवं चिन्तन गौड़ीय सम्प्रदाय की उपासना है। इस प्रकार की उपासना से साधक को राधा-कृष्ण के प्रेम की प्राप्ति होती है। यह प्रेम सर्व्वाकर्षक, सर्व्वाह्लादक और रसपूर्ण है। इसको प्राप्त कर जीव तन्मय हो जाता है और इस अवस्था में अपने उपास्य के प्रेम के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं की उसे विस्मृति हो जाती है। इस प्रकार राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के चिन्तन से जीव कृष्ण की कृपा का पात्र बन जाता है। राधा-कृष्ण की लीलाओं का चिन्तन ही गौड़ीय सम्प्रदाय में भक्ति है।

वैधी भक्ति

गौड़ीय आचार्यों के अनुसार भक्ति दो प्रकार की है—वैधी और रागानुगा। वैधी भक्ति का सम्बन्ध जैसा कि नाम से स्पष्ट है शास्त्रीय विधि-विधानों से है। अतः जिस भक्ति में शास्त्र द्वारा निर्धारित विधि-निषेध भक्ति का प्रेरक तत्त्व होता है, वह वैधी भक्ति मानी गई है। तात्पर्य यह है कि वैधी भक्ति-मार्ग में साधक को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं होती। उसके सभी कार्य शास्त्रीय विधि-विधानों द्वारा शासित होते हैं।

वैधी भक्ति के साधनों के रूप में चौंसठ अंगों का उल्लेख 'हरिभक्ति-रसामृत सिन्धु' में किया गया है।[1] इनमें से गुरुपदाश्रय आदि दस अंग ग्रहणात्मक हैं और सेवा नामापराध आदि दस गुण त्याज्य हैं। शेष चवालीस अंग भक्ति के उन्मेषक साधन हैं। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, वन्दन, परिचर्य्या, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति ही इन चवालीस अंगों का सार है। इस प्रकार की भक्ति शास्त्र द्वारा पूर्णतया मर्य्यादित है, अतः इसे कहीं-कहीं मर्य्यादामार्ग भी कहा गया है।

रागानुगा भक्ति

रागानुगा शब्द का अर्थ है—प्रेम का अन्वेषण या अनुसरण। गौड़ीय आचार्यों की धारणा है कि रागपूर्ण भक्ति केवल ब्रजवासियों में पाई जाती है।

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : १।२।२४-४५।

अन्य साधक इनकी इस भक्ति का अनुसरण करते हैं। अतः जहाँ ब्रजवासियों की भक्ति को राग-प्रधान होने के कारण 'रागात्मिका' भक्ति कहा गया है, वहाँ उनका अनुगमन करने वाली भक्ति को 'रागानुगा' नाम दिया गया है। किन्तु दोनों के मूल भाव में कोई अन्तर नहीं है।

रागात्मिका भक्ति मुख्या ब्रजवासिजने।
तार अनुगत भक्तिर रागानुगा नाम।[1]

रागानुगा भक्ति का मात्र आधार प्रेम है। इस कारण शास्त्र, युक्ति, तर्क आदि का बन्धन यहाँ स्वीकार नही किया गया। इस मार्ग में साधक को मानसिक स्वतन्त्रता पूर्णतः प्राप्त होती है। अतः इष्ट के प्रति प्रेम को तीव्र करने के लिए वह लोक और कुल की मर्य्यादा की सीमाओं से अपने को मुक्त रखता हुआ प्रशस्त प्रेम-पथ में अग्रसर होता जाता है। इस कारण रागानुगा भक्ति में साधक के आध्यात्मिक विकास के लिए अधिक स्थान है। कविकर्णपूर ने रागानुगा भक्ति और वैधी भक्ति के भेद को एक नदी के उदाहरण से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। अपने 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक मे वह कहते हैं कि वैधी भक्ति उस धारा के समान है जो अपनी निश्चित सीमाओं में अग्रसर होती है। इसके विपरीत रागानुगा भक्ति प्रेम का संबल पाकर बहने वाली वह तीव्र-वेगवती धारा है जो किसी प्रकार के बन्धन में न बन्धकर जो कुछ उसके सामने आता है उसे अपने साथ बहा ले जाती है।[2] रागानुगा भक्ति में ब्रज-वासियों की प्रेमासक्ति का अत्यधिक महत्त्व माना गया है। इस प्रकार की भक्ति का अधिकारी वही व्यक्ति स्वीकार किया गया है जिसमें ब्रजवासियों की प्रेम-भावना को प्राप्त करने का तीव्र लोभ हो।[3] तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वैधी भक्ति में प्रेरक तत्त्व शास्त्र का अनुशासन होता है उसी प्रकार रागानुगा भक्ति में प्रेरक तत्त्व प्रेम-प्राप्ति का तीव्र लोभ होता है। अतः रागानुगा भक्ति

---

१. चै० च० : मध्यलीला : द्वाविंश अध्याय।

२. शास्त्रीयः खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः।
प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियमतामंतिमो भेजे॥
वन्यासुररणि सरणिर्जवेन गम्यं नयत्यनियतापि।
न सहज कुटिलेषु पुनर्नदी प्रवाहेष्वनियतापि॥
तृतीय अंक : श्लोक १६-२०

३. रागात्मिकैकनिष्ठा ये ब्रजवासिजनादयः।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान्॥
—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : १।२।७५-७६

में साधक जहाँ एक ओर श्रवण, कीर्तन आदि बाह्य साधनों का अनुष्ठान करता है वहाँ दूसरी ओर आन्तरिक साधना में सिद्ध-देह की भावना कर निरन्तर ब्रज में कृष्ण की सेवा करता है। तात्पर्य यह है कि रागानुगा भक्ति में उपासक श्रवण कीर्तनादि साधनों के साथ-साथ कृष्ण की शृंगार, वात्सल्य, सख्य आदि भावों की लीलाओं में से अपने अनुकूल लीला का ध्यान करता है तथा उस लीला के परिकरों (शृंगार की रूप मंजरी आदि, वात्सल्य के नन्द और यशोदा, सख्य के सुबल, मधुमंगल आदि) का अनुगमन करते हुए कृष्ण की सेवा करता है।[1]

बाह्य अन्तर ईहार दुइत साधन।
बाह्य साधक देहे करे श्रवण कीर्तन॥
मने निज सिद्ध देह करिया भावन।
रात्रदिने करे ब्रजे कृष्णेर सेवन॥[2]

गौड़ीय आचार्यों ने रागानुगा भक्ति को महत्त्व दिया है। उनके विचार में ब्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले पुरुष को रागानुगा-भक्ति ही स्वीकार करनी चाहिए। इस प्रकार की भक्ति से पंचम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति होती है और यही प्रेम शाश्वत आनन्द का स्रोत है।

पंचम पुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन।
कृष्णेर माधुर्य रस कराय आस्वादन॥[3]

प्रेम का स्वरूप

उज्ज्वलनीमणि में प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रूपगोस्वामी ने कहा है कि नाश का कारण उपस्थित होने पर भी जिसका नाश नहीं होता—ऐसा व्यक्ति द्वय का भाव बन्धन प्रेम है।[4] यह प्रेम प्रौढ़, मध्य और मन्द इन तीन प्रकार का है। विलम्ब आदि के कारण जहाँ दो व्यक्तियों में अज्ञात-चिन्ता से अर्थात् हमारे विरह में हमारे प्रिय की क्या दशा होगी—यह सोच-कर अत्यधिक क्लेश होता है वहाँ प्रेम की प्रौढ़ दशा होती है। जिस प्रेम में

---

१. इस विषय की विस्तार से चर्चा हमने आगे उपासक-स्वरूप पर विचार करते हुए की है।

२ चै० च० : मध्य लीला : २२ वाँ अध्याय।

३. चै० च० : आदि लीला : सप्तम परिच्छेद।

४. सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भाववन्धनं यूनोः स प्रेम परिकीर्तितः॥ —स्थायीभाव : श्लोक ५७

विरह की सहनशीलता लक्षित होती है वह मध्यम प्रेम है और जहाँ विरह की अनुभूति ही न हो वह मन्द प्रेम कहलाता है। तात्पर्य यह है जहाँ भक्त कृष्ण के विरह में अत्यधिक विह्वल हो जाता है वहाँ प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रकट होता है। इस स्थिति में कृष्ण के प्रति भक्त के हृदय में इतनी तीव्र ममता जागृत हो जाती है कि भक्त अपने प्रिय के लिए वेद-धर्म, कुल-धर्म तथा आर्य-पथ सभी का त्याग कर देता है। प्रेम की इस स्थिति का उदाहरण गोपियाँ हैं।[1]

प्रेम में ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ता आती है त्यों-त्यों वह स्नेह, मान, प्रणय, अनुराग और महाभाव इन विभिन्न दशाओं को प्राप्त होता जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रेम को उसकी तीव्रता के आधार पर विभिन्न नाम दिए गए हैं और इनमें महाभाव अवस्था में प्रेम पूर्णतम स्वीकार किया गया है। अतः स्पष्ट है कि स्नेह, प्रणय आदि सभी भावों में मूल तत्त्व प्रेम ही है। परन्तु जिस प्रकार ईख का रस, गुड़, खाँड, शर्करा, मिश्री और इन सबके सारभूत पदार्थ ओला दशा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार प्रेम भी स्नेह आदि भावों से क्रमशः होता हुआ महाभावावस्था तक पहुँचता है। स्नेहादि अवस्थाओं में प्रेम की स्थिति क्या होती है इसे संक्षेप में यहाँ जान लेना आवश्यक है।

स्नेह—प्रेम जिस अवस्था में उत्कर्षता को प्राप्त होकर प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति तथा चित्त के द्रवित होने का कारण बनता है, वह अवस्था 'स्नेह' कहलाती है। प्रेम में भी कृष्ण की प्राप्ति है, किन्तु जैसे तेल आदि की अधिकता से दीपक की उष्णता एवं उज्ज्वलता में आधिक्य आ जाता है, वैसे ही प्रेम की अपेक्षा स्नेह में श्रीकृष्ण-दर्शन तथा चित्तद्रवता के लिए अधिक स्थान है। स्नेह के उदय होने पर भक्त श्रीकृष्ण के बार-बार दर्शन करके भी तृप्त नहीं होता।[2]

मान—जब स्नेह उत्कर्षता को प्राप्त होकर भक्त को प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) की माधुरी का एक नवीन अनुभव कराता है एवं स्वयं भी अपने भाव को गोपन करने के लिये कुटिलता धारण करता है, तब प्रेम की उस स्थिति को 'मान' कहते हैं। स्नेह की अपेक्षा मान में ममता बुद्धि अधिक है। मान

---

१. परममोदनतद्गीतावेगान्निजदेहदैहिकाद्यपेक्षया आत्मकर्म लोकधर्मादिकं परित्यज्य।
—भागवत १०।२९। ५-६ पर जीवगोस्वामी कृत वैष्णवतोषिणी।

२. हृदयं द्रावयन्नेव स्नेह इत्याभिधीयते।
अत्रोदिते भवेज्जातु न तृप्तिर्दर्शनादिषु॥
—उज्ज्वलनीलमणि : स्थायीभाव : श्लोक ७१

की कुटिलता स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता नहीं, किन्तु प्रीति का ही एक रूप है।[1]

प्रणय—जब ममता बुद्धि के आधिक्य से मान और अधिक उत्कर्ष को प्राप्त होता है तो एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, उसमें अपने प्राण, मन बुद्धि, देह एवं वेषभूषादि के साथ प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) के प्राण, मन, बुद्धि, देह एवं वेष-भूषा आदि सब अभिन्न प्रतीत होते है। यही 'प्रणय' की अवस्था।[2]

राग—प्रणय की उस अवस्था का नाम 'राग' है जिसमें प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति की सम्भावना में अत्यन्त दुःख भी सुख और उनकी अप्राप्ति में अत्यन्त सुख भी अत्यन्त दुःख रूप प्रतीत होता है।[3]

अनुराग : राग की जिस दशा में सदा अनुभूत प्रेम विषय (श्रीकृष्ण) प्रत्येक क्षण 'नवनवायमान' अर्थात् नवीन माधुरी से युक्त प्रतीत होते हैं, उस उत्कृष्ट दशा को 'अनुराग' कहते हैं।[4]

भाव तथा महाभाव : अनुराग की चरम परिणति का नाम 'भाव' है। इसमें प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) की प्राप्ति के निमित्त आर्यपथादि का त्याग एवं प्राण-विसर्जन का भी दुःख तुच्छ अथच परम सुखमय प्रतीत होता है। भाव अपनी ऊर्ध्वतर अवस्था में पहुँचकर 'महाभाव' के नाम से पुकारा जाता है।[5] महाभाव की दो दशाएँ हैं—'मोदन' और 'मादन'। इनमें से मादनाख्य महाभाव उत्कृष्ट माना गया है। श्रीकृष्ण-मिलन में जितने प्रकार की रस-माधुरी

---

१. स्नेहस्तुतत्कृष्टतावाप्त्या माधुर्यं मानयन्नवम्।
यो धारयत्यदाक्षिण्यं स मान इति कीर्त्यते॥
—वही : स्थायीभाव : श्लोक ८७

२. मानौ दधानो विस्रम्भं प्रणयः प्रोच्यते बुधैः।
—वही : स्थायीभाव : श्लोक ९८

३. दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात्स राग इति कीर्त्यते॥
—वही : स्थायीभाव : श्लोक ११५

४. सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनवः सोऽनुराग इतीर्यते॥
—वही : स्थायी भाव : श्लोक १३४

५. अनुरागः स्वसंवेद्यदशां प्राप्य प्रकाशितः।
यावदाश्रयवृत्तिश्चेद्भावइत्यभिधीयते॥ —वही : स्थायी भाव। श्लोक १४२

सम्भव हो सकती है, उन सभी का एक साथ जहाँ अनुभव होता है, उस अवस्था को 'मादनाख्य महाभाव' कहा गया है। इस मादनाख्य महाभाव की स्थिति समस्त सृष्टि में केवल ह्लादिनी-शक्ति की सारभूता राधा में स्वीकार की गई है।

सर्वभावोद्गमोल्लासी मादनोऽयं परात्परः।
राजते ह्लादिनीसारो राधायामेव यः सदा॥[1]

यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाएगा कि महाभाव में जिस रस की अनुभूति राधा करती है--ठीक उसी रस का आस्वादन राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय की नित्य विहरण परायणा राधा भी उस समय करती है, जिस समय मिलनावस्था में तन, मन, प्राण एक हो जाने पर भी उसकी अतृप्ति चरम अवस्था पर पहुँची हुई होती है।

तन सों तन मन सों जु मन मिले प्राण अरु नंन।
तीव्र प्रेम को रूप यह तऊ हिये नहिं चैन॥[2]

जीव अपने यथावस्थित (प्राकृतिक) देह में, साधन मार्ग में उन्नत अवस्था में पहुँचा हुआ होने पर भी, उक्त प्रेम-दशाओं में से केवल प्रेम की अनुभूति कर सकता है। स्नेह, मान, प्रणय आदि दशाओं का आविर्भाव यथावस्थित देह में सम्भव नहीं है। लब्ध-प्रेम साधक जीव का शरीरान्त हो जाने पर, जब उसका भगवल्लीला में प्रवेश होता है, तब उसमें नित्य सिद्ध परिकर के संग के प्रभाव से स्नेह, मान, प्रणय आदि प्रेम-दशाओं का स्फुरण हो सकता है।[3]

प्रेम और काम

भगवत्प्रेम काम से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार भगवान् की माधुरी विषय मधुरी से भिन्न है।[4] काम में और प्रेम में समता केवल इतनी है कि दोनों की मिलन-स्पृहा समान है। किन्तु जहाँ प्रेम में भक्त अपना सुख कृष्ण के सुख में

---

१. उज्ज्वलनीलमणि : स्थायी भाव : श्लोक २०२

२. गोस्वामी ललिताचरण की पुस्तक गो० हित हरिवंश : सम्प्रदाय और साहित्य से उद्धृत : पृष्ठ ११५

३. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त रत्न संग्रह : मूल लेखक राधा गोविन्दनाथ : हिन्दी रूपान्तरकार श्यामलाल : पृष्ठ ८६

४. विषयमाधुर्य्यानुभववत् भगवन्माधुर्य्यानुभवस्तु ततोऽन्यः। - षट सन्दर्भ : प्रीति-सन्दर्भ : पृष्ठ ७२०

ही पर्य्यवसित कर देता है वहाँ काम में व्यक्ति अपने सुख के लिए ही अधिक से अधिक प्रयत्नशील रहता है। स्पष्ट है कि प्रेम में प्रिय का सुख प्रधान होता है और काम में निजी सुख। इसी कारण लौकिक रति (काम) में सुख का केवल आभास मिलता है, उसकी प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि उस सुख का परिणाम दुःख होता है।[1] किन्तु इसके विपरीत प्रेम में सुख प्रेम-तीव्रता के साथ-साथ निरन्तर बढ़ता जाता है इसका ह्रास तो कभी होता ही नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि प्रेम में प्राप्त सुख शाश्वत है और काम का सुख क्षणिक है।

कृष्ण की मधुर लीलाओं के हाव भाव प्रायः वही होते हैं—जिनकी अनुभूति रति में होती है परन्तु हाव-भाव के इस साम्य के आधार पर ही कृष्ण की मधुर-लीलाओं से व्यंजित प्रेम और काम को एक नहीं कहा जा सकता। मधुर-लीलाओं में काम मुख्य नहीं है—वह प्रेम से नियन्त्रित है। इसीलिए उसे 'प्रेमात्मक-काम कहा गया है।'[2] तात्पर्य यह है कि मधुर-लीलाओं में कृष्ण प्रेम को आस्वाद्य बनाने के लिए काम चेष्टाओं का आश्रय लेते हैं। किन्तु उनका मूल तथा मुख्य भाव प्रेम ही रहता है। इसी कारण सनातन गोस्वामी ने **'रेमे रमेशोः ब्रजसुन्दरीभिः'** (भागवत) की टीका करते हुए स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि अपने माधुर्य्य को प्रकट करने के लिये ही भगवान् ने ब्रज गोपियों से रमण किया।[3]

कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य-चरितामृत' में प्रेम और काम के अन्तर को बहुत सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी इन पंक्तियों से प्रेम और काम का स्वरूप तथा दोनों की पारस्परिक भिन्नता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है—

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य हय प्रेम महाबल॥

---

१. लौकिकस्य रत्यादेः सुखरूपत्वं यथाकथंचिदेव। वस्तु विचारे दुःखपर्य्यवसायित्वात्। —वही प्रीतिसन्दर्भ : पृष्ठ ७६४

२. 'रतिपतिं प्रेमात्मकं कामं'। भागवत १०-२९-४६ पर विश्वनाथ कृत सारार्थदर्शिनीः

३. लीलया शृंगाररसखेलया विचित्रसौरतचेष्टया वा रराम रेमे भगवानिति तदेव भगवत्तासार सर्वस्वप्रकटनमिति ···। भागवत १०-३३-२० पर बृहत्तोषिणी : सनातन गोस्वामी कृत

लोक धर्म्म वेदधर्म्म देहधर्म्म कर्म।
लज्जा, धैर्य, देह सुख आत्म सुख मर्म॥
सर्वत्याग करि करे कृष्णेर भजन।
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि रागानुगा भक्ति से जिस प्रेम की प्राप्ति होती है वह नितान्त शुद्ध है, स्वर्ण के समान दीप्तिमान् है और पूर्ण आत्म-समर्पण का प्रतीक है। इसीलिए इसे भक्ति का मात्र प्रयोजन कहा गया है। और सत्य तो यह है कि इस शुद्ध एवं उज्ज्वल प्रेम की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन होने के कारण ही रागानुगा भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है।

ज्ञान-मिश्रा भक्ति

रागानुगा भक्ति के महत्त्व प्रतिपादन में गौड़ीय आचार्यों ने ज्ञान-मिश्रा भक्ति और ज्ञान-शून्या भक्ति की चर्चा की है। ज्ञानमिश्रा भक्ति को इन्होंने 'बाह्य' स्वीकार किया है। बाह्य शब्द से अभिप्राय यह है कि ज्ञान-मिश्रा भक्ति केवल बाह्य साधन मात्र है। ज्ञान हमें ईश्वर, जीव आदि के सम्बन्ध का ज्ञान ही कराता है, अतः वह सुख का मूल कारण नहीं हो सकता। सुख की प्राप्ति प्रेम पूर्वक कृष्ण की सेवा से ही सम्भव है जो रागानुगा भक्ति द्वारा सिद्ध होती है। यदि ज्ञानमिश्रा भक्ति से जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित करने वाली भक्ति यह अर्थ लिया जाय तब भी यह भक्ति केवल बाह्य सिद्ध होगी। इस ऐक्य दशा में जिस ब्रह्मानन्द (स्वरूपानन्द) की अनुभूति जीव करता है, उससे रागानुगा-भक्ति द्वारा प्राप्त भजनानन्द कहीं अधिक श्रेष्ठ है। इसीलिए मुक्ति-प्राप्त जीव भी लीला-विग्रह धारण कर (सिद्ध देह की भावना कर) श्रीकृष्ण की माधुर्य्य पूर्ण लीलाओं का ध्यान करते हैं।[1] इसका कारण यह है कि भगवान् के जिस स्वरूप में चित् शक्ति की जितनी अधिक अभिव्यक्ति होती है, उतना ही अधिक आनन्द तथा माधुर्य्य उस स्वरूप में होता है। चित् शक्ति का विलास (अभिव्यक्ति) विभिन्न नर-लीलाओं में दृष्टिगत होता है। क्योंकि इन लीलाओं के माध्यम से ही आनन्द आस्वादनीय बनता है। अतः स्पष्ट है कि निर्विशेष या अव्यक्त शक्तिक ब्रह्म के ऐक्य से अनुभूत आनन्द की अपेक्षा कृष्ण की लीलाओं द्वारा आस्वादित आनन्द में

१. स्वरूपानन्दादपि तेषां भजनानन्दाधिक्यम् ... ... तत्र मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्त इति। —षट् सन्दर्भ : भगवत्सन्दर्भ : पृष्ठ १४६।

अधिक मधुरता होती है।

ज्ञान-शून्या भक्ति

ज्ञान-शून्या भक्ति उपर्युक्त भक्ति की तुलना में श्रेष्ठ है। किन्तु रागानुगा भक्ति के समकक्ष यह कदापि नहीं है। इस भक्ति में जीव ज्ञानादि के फेर में न पड़कर श्रद्धापूर्वक भगवद्गुणों का श्रवण तथा गान करता है। इस प्रकार की साधना से कालान्तर में प्रेम का उदय होता है और तदुपरान्त जीव कृष्ण-सेवा के मार्ग पर अग्रसर होता है। अतः ज्ञान-शून्या भक्ति रागानुगा-भक्ति की ही एक सीढ़ी सिद्ध होती है।

ज्ञान-मिश्रा और ज्ञान-शून्या भक्ति के विवेचन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि गौड़ीय आचार्यों के मत में ज्ञान का स्थान केवल बाह्य-साधनों में है। इसलिए प्रेम के उदय के उपरान्त इसकी आवश्यकता तनिक भी नहीं रहती। बाह्य-साधनों में भी श्रवण, कीर्तनादि की अपेक्षा ज्ञान का स्थान नीचा है। प्रेम-प्राप्ति में श्रवण आदि साधन ही सहायक होते हैं—ज्ञान नहीं। अतः जो जीव केवल ज्ञान तक अपने को सीमित रखता है उसकी तुलना गौड़ीय आचार्यों ने 'अरसज्ञ' काक से की है और इसके विपरीत रसिक भक्त को उन्होंने 'रसज्ञ' कोयल कहा है।

अरसज्ञ काक चूषे ज्ञान-निम्बफले।
रसज्ञ कोकिल खाये प्रेमाम्रमुकुले॥
अभागिया ज्ञानी आस्वादये शुष्क ज्ञान।
कृष्ण प्रेमामृत पान करे भाग्यवान्॥[1]

इस प्रकार गौड़ीय सम्प्रदाय में रागानुगा भक्ति ही उपासना का मार्ग स्वीकार किया गया है और साधक इसी भक्ति के अनुरूप सदा राधा-कृष्ण की लीलाओं का चिन्तन करता है।

राधा-कृष्ण की लीलाएँ

राधा-कृष्ण की लीलाएँ, गौड़ीय आचार्यों के अनुसार नित्य हैं। ये प्रकट और अप्रकट दो प्रकार की मानी गई हैं। जब लीला प्रपंचगोचर होती है तब उसे प्रकट और जब यह दिखाई नहीं देती तब इसे अप्रकट लीला कहा जाता है।[2] इस ब्रह्माण्ड के अनन्तों प्रकाशों (लोकों) में से किसी न किसी प्रकाश

---

१. चै० च० : मध्यलीला : अष्टम परिच्छेद : पृष्ठ २४७

२. प्रपंचगोचरत्वेन सा लीला प्रकटा स्मृता।
अन्यास्वप्रकटा भान्ति तादृश्यस्तदगोचराः॥
—लघुभागवतामृतः कृष्णामृत खण्ड १५८।

में कृष्ण की बाल्य, पौगण्ड, किशोर आदि अप्रकट लीलाएँ नित्य होती रहती हैं। किन्तु जब कृष्ण अपने सम्पूर्ण परिकर सहित धराधाम पर अवतरित होकर यहाँ के निवासियों सहित इन लीलाओं का रस लेते हैं तब इन लीलाओं को प्रकट कहा जाता है। मथुरा, द्वारका और वृन्दावन में कृष्ण द्वारा की गई लीलाएँ प्रकट लीलाओं का उदाहरण हैं।[1] भगवान की प्रकट और अप्रकट लीलाओं में से प्रकट लीलाओं का महत्त्व अधिक है। इसका कारण यह है कि अप्रकट लीला में नित्य-किशोरत्व आदि के कारण वह रस-माधुरी नहीं है, जो प्रकट लीला में दृष्टिगत होती है। प्रकट लीला में बाल्यकाल से लेकर अन्तर्धान-पर्यन्त सभी लीलायें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं। अतः वहाँ वात्सल्य, सख्य आदि की वास्तविक अनुभूति के अतिरिक्त पूर्वराग, मान, विरह आदि की सच्ची अनुभूति होती है। इसलिए अप्रकट की अपेक्षा प्रकट लीला को ही श्रेष्ठ माना गया है।

प्रकट लीलायें

भगवान् की प्रकट लीलाओं का विशद वर्णन हमें इस सम्प्रदाय के आचार्यों एवं भक्तों की विभिन्न लीला-रचनाओं में उपलब्ध होता है। इनमें से रूप-गोस्वामी कृत ललित और विदग्ध-माधव, जीवगोस्वामी कृत गोपाल-चम्पू, राय रामानन्द कृत जगन्नाथ वल्लभ आदि लीला-ग्रंथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। राधा-कृष्ण की ये लीलायें संयोग परक और वियोग परक दोनों प्रकार की हैं। संयोग पक्ष की लीलाओं में रास, जलकेलि, वंशीचोरी, होली, झूलन, वस्त्रहरण, द्यूत-क्रीड़ा आदि सभी प्रकार की लीलायें हैं। वियोग पक्ष की लीलाओं में वियोग के पूर्वराग, मान और प्रवास—तीनों का सुन्दर ढंग से वर्णन किया गया है।

यद्यपि मधुर भाव के उपासक के लिए राधा-कृष्ण की ये सभी लीलायें रस-प्रद हैं, किन्तु उसके ध्यान के लिए गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने अष्टकालीन लीलाओं का निर्देश किया। राधा-कृष्ण की इन अष्टकालीन लीलाओं का संक्षेप से वर्णन सर्वप्रथम रूपगोस्वामी ने अपने 'स्मरणमंगल स्तोत्र' में किया है। बाद में इसी ग्रन्थ के आधार पर अष्टकालीन लीलाओं का सविस्तार वर्णन हमें कवि कर्णपूर कृत कृष्णाह्निक कौमुदी और कृष्णदास

१. प्रकटलीला च जन्मादिमोपिलान्ता (अन्तर्धान) प्रत्येक ब्रह्माण्ड समूह क्रमेण तत्र तत्रस्थदृश्यत इति। एकमेव वृन्दावनम्, एकैव मथुरा एकैव द्वारावती च ब्रह्माण्ड कोटि समूह मध्यभारतभूमौ।
—भागवतामृत कणिका : विश्वनाथ चक्रवर्ती : पृष्ठ ४३

कविराज कृत 'गोविन्दलीलामृतम्' ग्रन्थ में मिलता है। ये लीलायें क्रमशः निशान्त, प्रातःकाल, पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल, प्रदोष और निशीथ काल की स्वीकार की गई हैं। परिचय के लिए हम नीचे 'स्मरण-मंगल स्तोत्र' के आधार पर अष्टकालीन लीलाओं का सारांश दे रहे हैं।

निशान्त लीला : निशान्तकाल छह घड़ी रात्रि रहने से प्रातःकाल तक है। इस काल की लीला में भक्त राधा-कृष्ण का कुंज में शय्या-तल्प पर एक साथ सोए हुए स्मरण करता है। प्रातःकाल को समीप जान पक्षीगण अपना मधुर मधुर राग आरम्भ कर देते हैं। सखियाँ भी समयानुकूल गान आदि से युगल सरकार को जागने की प्रेरणा देती हैं। राधा-कृष्ण रात्रि के सुरत-सुख का स्मरण करते हुए हर्षित होकर अपनी आँखें खोलते हैं—किन्तु इसी समय राधा की सास जटिला के आने की सूचना सखियाँ उन्हें देती हैं और इस प्रकार दोनों अपने-अपने घर चले जाते हैं।

प्रातःकाल की लीला : यह लीला प्रातःकाल से पूर्वाह्न काल तक मानी गई है। इस लीला में राधा अपने गृह में स्नान करके अपना शृंगार करती है। फिर सखियाँ उसे कृष्ण के घर ले जाती हैं। यहाँ राधा कृष्ण के लिए तरह-तरह का भोजन अपने हाथों से तैयार करती है। कृष्ण स्नान करके भोजन करते हैं और फिर धेनुचारण के लिए ग्वाल-बालों के साथ वन में चले जाते हैं।

पूर्वाह्नकालीन लीला : बारह घड़ी दिन चढ़ने तक का समय पूर्वाह्न काल है। इस लीला में कृष्ण अपने सखा ग्वाल-बालों के साथ राधा को पाने की इच्छा से राधाकुण्ड पर आते हैं। यहाँ राधा भी अपनी सास जटिला के साथ सूर्य पूजन के लिए आती है। ऐसे अवसर पर कृष्ण अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिए राधा के पीछे जाते हैं—किन्तु सखियाँ उन्हें संकेत द्वारा ऐसा करने से वर्जित कर देती हैं।

मध्याह्नकाल : बारह से अठारह घड़ी दिन चढ़े तक है। इस काल की लीला में राधा-कृष्ण परस्पर विविध क्रीड़ाएँ करते हैं। दोला, जलक्रीड़ा, वंशी-हरण, अधर-सुधापान, सूर्य-पूजन आदि सभी लीलाएँ इसमें सम्मिलित हैं। इस लीला में सखियाँ पूर्ण सहयोग देती हैं।

अपराह्नकाल : छह घड़ी दिन रहने तक होता है। इस काल की लीला में राधा अपने घर जाकर अपने प्रिय कृष्ण के लिए नाना प्रकार की भोजन सामग्री बनाती है। दूसरी ओर कृष्ण वन की लीला समाप्त कर अपने साथियों के साथ घर आते हैं।

सायंकाल : अर्थात् सूर्यास्त तक की लीला में कृष्ण राधा द्वारा भेजी गई भोजन सामग्री से तृप्त होते हैं। फिर कुछ समय माता का प्यार प्राप्त कर अपने गोष्ठ और तदुपरान्त शयनकक्ष में चले जाते हैं। इधर राधा सखियों द्वारा लाई गई कृष्ण की जूठन से अपने को पवित्र करती है।

प्रदोषकाल : अर्थात् छह घड़ी रात्रि गये तक की लीला में राधा समयानुकूल शुक्लाभिसारिका अथवा कृष्णाभिसारिका का रूप धारण करके निज दूती वृन्दा के आदेश का अनुसरण करती हुई यमुना-पुलिन पर स्थित निश्चित निकुंज में पहुँचती है। इधर श्रीकृष्ण भी उसी स्थान पर पहुँच जाते हैं। अतः इस लीला में दोनों के इस प्रकार मिलन का ध्यान किया जाता है।

निशीथकाल : अर्थात् पहर गये रात्रि से लेकर पहर रहे रात्रि तक की लीला में राधा और कृष्ण रास, मान, हास-परिहास आदि लीलाएँ करते हैं। ऐसे अवसर पर सखी वृन्द विविध भाँति से उनकी सेवा करता है। कोई उन्हें ताम्बूल देती है, कोई हवा करती है तो कोई पद-संवाहन। इस प्रकार दोनों के रति-रस में लीन होकर निद्रामग्न हो जाने तक यह परिचर्य्या चलती रहती है।

अष्टकालीन लीलाओं की इस चर्चा का उद्देश्य यह है कि अन्य सम्प्रदायों के नित्य विहार और इस सम्प्रदाय की नित्य लीला को परस्पर तुलना द्वारा समझा जा सके। अन्य सम्प्रदायों के नित्य विहार की भाँति इस सम्प्रदाय की नित्य लीला केवल राधा, कृष्ण और सहचरी वृन्द तक ही सीमित नहीं है। इसमें इन तीनों के अतिरिक्त माता, पिता, सास, सखा आदि सभी का प्रवेश है। दूसरी बात यह है कि इन लीलाओं में राधा-कृष्ण सदा मधुर-लीला मे लीन नहीं रहते। वे विहार को प्रमुखता अवश्य देते हैं किन्तु इसी के साथ अपने अन्य कार्यों—गोचारण आदि को भी स्वाभाविक रूप से करते हैं। इन कारणों से गौड़ीय सम्प्रदाय की नित्य लीला में अधिक स्वाभाविकता है। अतः स्वाभाविक होने के कारण यह भक्त के लिए सहज ध्येय है।

वृन्दावन-धाम महिमा

राधा-कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन है। इस कारण वृन्दावन-धाम का अत्यधिक महत्त्व है। गौड़ीय आचार्यों के अनुसार जीव का यह परम कर्तव्य है कि वह सब स्थान छोड़कर भगवान की लीला-स्थली वृन्दावन में वास करे। सभी आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त अथवा लीला-ग्रन्थों में वृन्दावन धाम की महिमा का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है। प्रबोधानन्द सरस्वती ने इस विषय पर 'वृन्दावन-महिमामृत' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इनके अनुसार

वृन्दावन-धाम का त्याग किसी भी दशा में उचित नहीं है। कोटि-कोटि चिन्तामणियों की तो बात ही कुछ नहीं, यदि साक्षात् हरि भी कहीं अन्यत्र दर्शन दें तो वृन्दावन को छोड़कर उनके दर्शन के लिए कहीं बाहर जाना उचित नहीं है।

मिलन्ति चिन्तामणि कोटि कोट्यः
स्वयं बृहद्वृष्टिमुपैति वा हरिः।
तथापि वृन्दावन धूलिधूसरं
न देहमन्यत्र कदापि यातु मे ॥[1]

प्रबोधानन्द जी की यह निश्चित धारणा है कि वृन्दावन में वास कर लेने के पश्चात् जीव को सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। अतः भक्त को चाहिए कि धर्म, गुरु आदि को छोड़कर भी यदि वृन्दावन-वास सुलभ हो सके तो उन्हें छोड़ दे। वृन्दावन-वास ही परम धर्म है तथा श्रेष्ठ गुरु-भक्ति है।

कुरु सकलमधर्मं मुंच सर्वं स्वधर्मं
त्यज गुरुमपि वृन्दारण्य वासानुरोधात्।
स तव परम धर्मः सा च भक्तिर्गुरूणां
स किल कलुशराशिर्याद्धिवासान्तराय ॥[2]

उपासक तत्त्व

गौड़ीय आचार्यों के अनुसार जीव सिद्धान्ततः श्रीकृष्ण की चित् शक्ति का स्वरूप होने के कारण श्रीकृष्ण का अंश है। किन्तु साधना की दृष्टि से वह भगवान् का दास है। चैतन्य-चरितामृतकार कृष्णदास कविराज की यह उक्ति—'**जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास**'—इसी बात को स्पष्ट करती है। जीव को कृष्ण का दास कहने का तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रदाय में जीव का मात्र साध्य कृष्ण की सेवा प्राप्त करना है। इस प्रकार सेवा द्वारा कृष्ण को सुखी रखते हुए जीव स्वयं भी सुखी हो सकता है। अतः साधनाकाल में जीव राधा की सखियों का अनुगमन करते हुए कृष्ण-सेवा में तत्पर रहता है और यही उसकी दासता है।

कृष्ण की माधुर्य्य भाव की दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की लीलाओं के आधार पर कृष्ण की सेवा भी दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव की स्वीकार की गई है। साधक जीव इन भावों में से किसी भी भाव को अपने मन की अनुकूलता के अनुसार स्वीकार कर सकता है। किन्तु जिस

१. सत्रहवाँ शतक : श्लोक २३
२. सत्रहवाँ शतक : श्लोक ४६

भाव को वह ग्रहण करे, उसी भाव के परिकरों का अनुगमन करते हुए उसे कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। इसलिए यदि वह कृष्ण की दास्य भाव की सेवा करना चाहता है तो उसे दास्य भाव की लीला के परिकर रक्तक-पत्रक आदि का अनुगमन करना चाहिए। यदि वह सख्य भाव से सेवा करना चाहता है तो उसे सख्य भाव की लीला के परिकर सुबल-मधुमंगल आदि का अनुगमन करना चाहिए। इसी प्रकार वात्सल्य भाव की सेवा में नन्द-यशोदा आदि का अनुगमन और मधुर भाव की सेवा में श्री रूपमंजरी आदि सखियों का उसे अनुगमन करना चाहिए।[1] यद्यपि उक्त भावों में से साधक जीव अपनी सेवा के लिए एक भाव स्वयं चुन लेता है तथापि गौड़ियों के अनुसार कृष्ण की सर्वोत्कृष्ट सेवा मधुर भाव के द्वारा सम्पन्न होती है। कृष्ण को मधुर भाव की लीलाओं के द्वारा परम सुख प्राप्त होता है। अतः कृष्ण की मधुर भाव से सेवा करने वाली सखियों का इस सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। और साधकों को इन्हीं सखियों का अनुगमन करने की प्रेरणा दी जाती है।

सखी तथा सखी भाव

गौड़ीय आचार्यों के अनुसार सखी वे गोपियाँ हैं जो राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं को सम्पन्न कराने में सभी प्रकार का सहयोग देती हैं। ये सखियाँ कृष्ण की 'ह्लादिनी शक्ति' राधा की अंशरूपिणी हैं। किन्तु इनके बिना राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाएँ सम्भव ही नहीं हो सकतीं। और सत्य तो यह है कि मधुर-लीलाओं का विस्तार और उसकी पुष्टि सखी द्वारा होती है।

सखी हैते हय एई लीलार विस्तार।
सखी-बिनू एई लीला-पुष्टि ना हय॥[2]

राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं को सम्पन्न करा देने से सखियों को अत्यधिक सुख की प्राप्ति होती है। यह उनके स्वभाव की प्रमुख विशेषता है कि कृष्ण के साथ वे स्वयं कभी क्रीड़ा करना नहीं चाहतीं। सखियों का स्वरूप कृष्ण की प्रेम-लता रूप राधा के पुष्प-पत्रों के समान है। जब कृष्ण अपने लीलामृत से राधा-रूप कल्पलता का सिंचन करते हैं तो उस लता के पुष्प-पत्रों के समान सखियों को स्वतः उस रस का आस्वादन हो जाता है।

---

१. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त संग्रह : (मूल लेखक) राधागोविन्दनाथ : हिन्दी रूपान्तर पृ० १६६

२. चै० च० : मध्य लीला : अष्टम परिच्छेद

राधार स्वरूप कृष्ण प्रेम कल्पलता।
सखीगन हय तार पल्लव पुष्प पाता॥
कृष्ण लीलामृते यदि लता के सिंचय।
निज सेक हइते पल्लवाद्येर कोटि सुख हय॥[1]

तात्पर्य यह है कि सखियों का मात्र पोषक तत्त्व, आहार तथा सुख-साधन राधा-कृष्ण की मधुर लीला है। अतः वे तन मन से इन मधुर-लीलाओं का सम्यक् विधान करने में प्रयत्नशील रहती हैं। किन्तु दूसरी ओर राधा अपनी सखियों को भी कृष्ण के साथ रमण करने का यदा कदा अवसर देती हैं और नाना प्रकार के छलों से उन्हें कृष्ण के पास भेजती हैं।

सखी भाव परायण भक्त राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का सम्यक् विधान करने वाली सखियों की चेष्टाओं का अनुगमन करता है। सखियाँ राधा और कृष्ण दोनों की विश्वासपात्र होती हैं। इसीलिए वे राधा-कृष्ण की रुचि को देखते हुए यथासमय राधा का अभिसार कराती हैं और उसे कृष्ण के अर्पण कर देती हैं। अभिसार के समय नेपथ्य में हास-परिहास, आश्वासन और हृदय व्यक्त करने की चातुरी आदि सभी बातों से वे राधा का मनोरंजन करती हैं। इसके अतिरिक्त राधा-कृष्ण को सम्भोग-समय-विषयक शिक्षा देना, समय पर उनकी व्यजनादि से सेवा करना, दोनों के एक दूसरे को दिये गए उपालम्भ अथवा संदेश पहुँचाना, नायिका की प्राण-रक्षा करना सखियों के मुख्य कर्तव्य हैं।[2] तात्पर्य यह है कि अवसर के अनुकूल सभी साधनों से राधा-कृष्ण का परस्पर मिलन कराना सखियों का कार्य है। सखी भाव को स्वीकार करने वाले भक्तों के लिए इन सब चेष्टाओं का अनुकरण ही कृष्ण की मधुर भाव परक सेवा है।

सखी भेद

रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'राधाकृष्णगणोद्देश दीपिका' नामक ग्रन्थ में सखी-भेद की विस्तार से चर्चा की है। वास्तव में सखी भेद गौड़ीय सम्प्रदाय की निजी विशेषता है। अन्य सम्प्रदायों में सखी भेद की चर्चा प्रायः नहीं मिलती। जहाँ इस विषय पर विचार किया गया है वहाँ गौड़ीय आचार्यों द्वारा निरूपित सखी भेद को ही आधार माना गया है। रूपगोस्वामी के अनुसार राधा की सखियों के पाँच भेद हैं—सखी, नित्य-सखी,

१. चै० च० : मध्य लीला : अष्टम परिच्छेद
२. उज्ज्वलनीलमणि : सखी प्रकरण : श्लोक ८८-९१

प्राण-सखी, प्रिय-सखी और परमप्रेष्ठ-सखी। सखी कुसुमिका, विन्ध्या आदि हैं, नित्य-सखी कस्तूरी, मणिमंजरी आदि हैं, प्राण-सखी शशिमुखी, वासन्ती आदि हैं, प्रिय-सखी कुरंगाक्षी, सुमध्यमा, मदनालसा आदि हैं और परम प्रेष्ठ-सखियाँ आठ हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुंगविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी और सुदेवी।[1] यही परमप्रेष्ठ सखियाँ अन्य-सम्प्रदायों में अष्टसखी के रूप में स्वीकृत हैं।

मंजरी

सामान्य रूप से राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के सम्यक् विधान में तत्पर सभी सखियों को सखी कहा जाता है। किन्तु सेवा की दृष्टि से सखियों के दो भेद हैं—सखी और मंजरी। जो गोपियाँ राधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण का प्रीति-विधान करती हैं, उन्हें सखी कहते हैं। ललिता, विशाखा आदि ऐसी ही सखी हैं। जो गोपियाँ राधा-कृष्ण के मिलन आदि की व्यवस्था करना अपना प्रधान कर्तव्य समझती हैं, उन्हें मंजरी कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जहाँ सखी का सम्बन्ध केवल राधा से है, वहाँ मंजरी राधा और कृष्ण दोनों से सम्बन्धित है। सखी वेष-भूषा, केश-रचना तथा अन्य साधनों से राधा का शृंगार करके उसे कृष्ण के साथ रमण करने के योग्य बना देती हैं और तदनन्तर मंजरियाँ सब परिस्थितियों को संयोग के अनुकूल बनाकर राधा और कृष्ण का परस्पर मिलन करा देती हैं। इस प्रकार सखी कृष्ण-प्रिया राधा की शृंगारोचित सेवा करके कृष्ण की प्रीति पात्र बनती हैं और मंजरी कृष्ण का उनकी प्रिया से मिलन कराकर उनका प्रेम प्राप्त करती हैं।

राधा की अनंगमंजरी, रूपमंजरी, रतिमंजरी, लवंगमंजरी आदि कई मंजरियाँ हैं।[2] ये मंजरियाँ राधा की विशेष प्रीतिपात्र हैं। अतः अन्तरंग सेवा की यही अधिकारिणी हैं। मंजरीगण सखीगण की अपेक्षा वयस् में कम हैं। सखीगण में नित्यसिद्धा गोपियाँ हैं किन्तु मंजरीगण में साधनसिद्धा गोपियाँ तथा नित्यसिद्ध जीवों का भी समावेश है। इसीलिए दोनों—सखी और मंजरी की सेवा में बहुत अन्तर है। जहाँ सखियों की सेवा स्वातन्त्र्यमयी है वहाँ मंजरी की सेवा आनुगत्यमयी है। इस कारण गौड़ीय सम्प्रदाय में साधक राधा-कृष्ण की सेवा के लिए शुद्ध अन्तःकरण से मंजरी का अनुगमन करता है। किन्तु इस सेवा के लिए उसे सिद्ध देह की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि साधन देह द्वारा राधा-कृष्ण की सेवा सम्भव नहीं है।

---

१ वही, राधाप्रकरण : श्लोक ५०-५६

२. 'श्री राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' : रूपगोस्वामी : श्लोक १७५-१७७

सिद्ध देह

सिद्ध देह से तात्पर्य है अप्राकृतिक देह। वास्तव में जीव यथावस्थित अर्थात् प्राकृतिक देह से अप्राकृत तथा चिन्मय भगवान की साक्षात् सेवा करने में असमर्थ है। डा० गोपीनाथ कविराज ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'दीर्घकाल तक नियमित रूप में नाम साधना करते रहने से यथा-समय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है, और वे पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं।···परन्तु जब तक भक्त गुरुदत्त बीज को प्राप्त कर अपने अशुद्ध बीज देह को शुद्ध काया में परिणत नहीं कर पाता, तब तक वास्तविक साधना का सूत्रपात नहीं हो सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्राकृतिक शरीर में भगवत्साधना नहीं होती। प्राकृत शरीर जागतिक विकार के आधीन है, इसके द्वारा अप्राकृत और निर्विकार भगवतत्त्व की साधना सम्भव नहीं है।**'[1] इस अप्राकृत देह को 'सिद्ध देह' कहते हैं। साधक सिद्ध देह द्वारा भावानुकूल श्रीकृष्ण की सेवा करता है। रागानुगा भक्ति-मार्ग में मधुर भाव के उपासकों का सिद्ध देह—गोपकिशोरी देह है। साधक का इस देह में 'राधा-दासी'—यह अभिमान होता है। श्री राधा की 'राधा-दासी' अभिमान वाली सखियाँ मंजरी कहलाती हैं। इनमें मुख्य 'रूपमंजरी' है। साधक को मन में ऐसी भावना करनी चाहिए कि राधा-कृष्ण की अष्टकालीन लीला में रूपमंजरी का अनुगमन करते हुए वह गुरु-रूप मंजरी के आदेश से युगल-किशोर की सेवा कर रहा है। इस प्रकार की भावना को 'मानसी सेवा' कहते हैं। मानसी सेवा ही रागानुगा भक्ति में भजन का मुख्य अंग स्वीकार किया गया है।

साधना के विभिन्न अङ्ग

यह मानसी सेवा केवल सिद्ध देह में सम्भव है। साधन देह में भजन के लिए विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है। इन समस्त साधनों में से कृष्णदास कविराज के मत में साधुसंग, नाम-कीर्तन, भागवत श्रवण, मथुरा-वास और मूर्ति का श्रद्धा से सेवन—ये पाँच साधन मुख्य हैं। इनके अल्प-सेवन से ही भक्त के हृदय में कृष्ण-प्रेम का उदय होता है।

साधूसंग, नामकीर्तन, भागवतश्रवण
मथुरावास, श्रीमूर्तिर श्रद्धाय सेवन॥

---

१. कल्याण—हिन्दू संस्कृति अंक : भक्ति रहस्य : पृष्ठ ४३६

सकल साधन श्रेष्ठ एई पंच अंग।
कृष्ण प्रेम जन्माय एई पाँचेर अल्प संग ॥[1]

इन सभी साधनांगों की सार्थकता तभी है जब साधक के हृदय में श्रद्धा हो। क्योंकि श्रद्धायुक्त व्यक्ति को ही भक्ति का अधिकारी स्वीकार किया गया है—अतः श्रद्धा रहित व्यक्ति के लिए भक्ति-मन्दिर में प्रवेश करके भगवल्लीला-दर्शन जनित आनन्द अनुभव करना सम्भव नहीं है। श्री रूपगोस्वामी ने भी प्रेम-विकास-क्रम की चर्चा करते हुए **'आदौ श्रद्धा'**—ऐसा कहा है।

भगवत्कृपावश जब जीव में 'श्रद्धा' का उदय होता है, तब भगवत्प्रेरणा से साधुसंग की प्राप्ति होती है। इसी साधु-संग के प्रभाव से साधक की श्रवण-कीर्त्तनादि 'भजन क्रिया' का आरम्भ होता है। कृष्ण और गुरु-कृपा वश भक्ति का जो बीज साधक को मिलता है, यह 'भजन क्रिया' उसी बीज को जल से सींचना है। इस जल-सिंचन के उपरान्त कालानुसार भक्ति-लता का अंकुर फूट पड़ता है। किन्तु भक्ति के अंकुरित हो जाने पर साधक को अपनी साधना में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है। क्योंकि इस काल में नाना प्रकार की भुक्ति-मुक्ति उत्पन्न होकर इस भक्ति-लता के अंकुर को नष्ट कर देना चाहती हैं। साधक का यहाँ यही कर्तव्य है कि वह सतत प्रयत्न से इन दुर्वासनाओं को अपने हृदय से दूर रखे। यदि ये वासनायें हृदय में अपना स्थान बना लेती हैं तो भक्ति से साधक को प्रेम की प्राप्ति नहीं हो पाती। क्योंकि शुद्ध भक्ति ही प्रेम-प्राप्ति का मात्र उपाय है। अतः भक्ति से प्रेम अथच सुख प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को भुक्ति-मुक्ति आदि दुर्वासनाओं से सदा सावधान रहना चाहिए।

भुक्ति-मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥[2]

साधना-मार्ग में अनर्थ (विघ्न) चार प्रकार के हैं—दुष्कृत जात, सुकृत जात, अपराध जात, और भक्ति जात। राग, द्वेष, दुरभिनिवेष आदि जनित अनर्थ दुष्कृत जात हैं। भोगासक्ति जनित अनर्थ सुकृत जात हैं। नामापराध[3]

---

१ चै० च० : मध्यलीला . द्वाविंश परिच्छेद

२. हरिभक्तिरसामृत सिन्धु : १-२-११

३. भक्तों में ये दस नामापराध माने गये हैं—(१) साधु निन्दादि (२) श्री विष्णु नामादि से श्री शिव नामादि को पृथक् मानना (२) श्री गुरुदेव की अवज्ञा (४) शास्त्र निन्दा (५) श्री हरिनाम में अर्थवाद कल्पना (६) श्री हरिनाम के बल पर पाप में प्रवृत्ति

जनित अनर्थ अपराध जात हैं और भक्ति की सहायता से धनादि की प्राप्ति, अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की आशा को भक्ति जात अनर्थ स्वीकार किया गया है। भक्ति जात अनर्थों से साधक को विशेष सावधान रहना चाहिए। ये अनर्थ भक्ति से उत्पन्न होकर भक्ति के ही मूल को नष्ट कर देते हैं।

सभी प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति हो जाने पर साधक के हृदय में भजन-निष्ठा दृढ़ होती है। निष्ठा पूर्वक भजन करने से श्रवणादि भजन विधि में रुचि उत्पन्न होती है और जब यही रुचि अपनी प्रौढ़तम दशा में पहुँच कर भजनीय भगवान् को अपना विषय बना लेती है तब उस अवस्था को 'आसक्ति' कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ 'रुचि' नामक दशा में हमारी आसक्ति का विषय भजन होता है, वहाँ 'आसक्ति' नामक अवस्था में हमारी आसक्ति का विषय स्वयं भगवान् हो जाते हैं। आसक्ति जब अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है, तब उसे 'रति' की संज्ञा दी जाती है। रति का अन्य नाम 'भाव' या 'प्रेमांकुर' है। रति उत्पन्न हो जाने पर भक्त की भगवान् में ममता हो जाती है और उस समय भक्त को हृदय में यह अनुभव होने लगता हैं कि 'भगवान् मेरे हैं।' इस ममता के कारण भक्त की भगवान् के प्रति ईश्वर-बुद्धि तिरोहित हो जाती है। 'हरिभक्तिरसामृत सिन्धु' के अनुसार उस भक्त के लक्षण, जिसमें 'रति' भाव की अवस्था आ चुकी है, इस प्रकार हैं—[1]

(१) **क्षान्ति** : सांसारिक विपत्ति उपस्थित होने पर हृदय में क्षोभ का न आना।

(२) **अव्यर्थ कालत्व** : श्रीकृष्ण के भजन में सदा लीन रहना।

(३) **विरक्ति** : इहलोक अथवा परलोक की वस्तुओं के प्रति भोग-लालसा का न होना।

(४) **मानशून्यता** : दैन्य-भाव।

---

(७) श्री हरिनाम के फल के साथ व्रत होमादि के फल की तुल्यता का ज्ञान (८) श्री नाम श्रवण एवं ग्रहण में असावधानता या चेष्टा-शून्यता (९) श्री नाम-महात्म्य सुनकर भी श्री नाम ग्रहण को प्रधानता न देकर 'अहं-मम' अज्ञानपूर्वक भोगविषयादि में प्रधानता मानना (१०) श्रद्धाहीन, विमुख एवं जो उपदेशादि ग्रहण न करे उसको उपदेश देना।

१. क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावांकुरे जने॥ १।३।१२-१४

(५) **आशाबन्ध** : श्रीकृष्ण-कृपा पर दृढ़ विश्वास तथा आशा।

(६) **समुत्कण्ठा** : श्रीकृष्ण-सेवा तथा उनके दर्शनों की उत्कट अभिलाषा।

(७) **नाम-संकीर्तन में रुचि**।

(८) **भगवद्गुणों में आसक्ति**।

(९) **वृन्दावन के प्रति सहज प्रेम**।

रति की अवस्था में चित्त की मलिनता दूर होकर जीव के हृदय में शुद्ध-सत्त्व (प्रेम) के आविर्भाव की योग्यता आती है। यही रति गाढ़ होकर प्रेम में परिवर्तित हो जाती है, जो श्रीकृष्ण-सेवा का मुख्य हेतु है। इस प्रकार रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति-विकास-क्रम यह है[1] :—

(१) श्रद्धा (२) साधुसंग (३) भजन क्रिया (४) अनर्थनिवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति (८) रति या भाव (९) प्रेम।

गौड़ीय सम्प्रदाय में स्वीकृत माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का सारांश इस प्रकार है : इस सम्प्रदाय में उपास्य राधा और कृष्ण हैं। इनमें परस्पर सम्बन्ध परकीया भाव का है। ये भक्तों की तृप्ति के लिए नित्य अपनी लीलाओं का विस्तार करते है। ये लीलाएँ प्रकट और अप्रकट दोनों प्रकार की है, किन्तु उपासकों के लिए ध्येय प्रकट लीलाएँ हैं। प्रकट लीला में राधा-कृष्ण की सभी प्रकार की लीलाएँ होती हैं। इस सम्प्रदाय का उपासक इन लीलाओं का ध्यान सुगमता की दृष्टि से अष्टकालीन लीलाओं के रूप में करता है। यही उसकी उपासना है। इस सम्प्रदाय में उपासक का धर्म राधा-कृष्ण की मंजरी रूप (सखी भाव) से सेवा करना स्वीकार किया गया है। यह मंजरी रूप साधक को श्रद्धा, साधुसंग, भजन क्रिया आदि साधनों द्वारा सिद्ध हो जाने पर प्राप्त होता है। इस अवस्था में वह राधा-कृष्ण की लीलाओं का अंग ही हो जाता है, फलतः वह सदा लीला रस का आस्वादन कर अपने को तृप्त करता है।

---

१. आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थ निवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदयदंचति।
साधकानाम यं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
—हरिभक्तिरसामृतसिन्धु १।४।९-७

श्री गदाधर भट्ट

इतिवृत्त

गदाधर भट्ट चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये महाप्रभु को भागवत की कथा सुनाया करते थे। इस घटना का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[2] और श्री वियोगी हरि[3]—इन तीन विद्वान् लेखकों ने किया है। इसी आधार पर इनका समय महाप्रभु चैतन्य के समय (वि० सं० १५४२ से वि० सं० १५९०) के आसपास अनुमानित किया जा सकता है। इससे अधिक इनके जन्म संवत् आदि के विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है। चैतन्य महाप्रभु और षट् गोस्वामियों के सम्पर्क के कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका कविता-काल वि० संवत् १५८० से १६०० के कुछ बाद तक अनुमानित किया है। मिश्रबन्धु विनोद और शिवसिंह सरोज में इनका जन्म-समय वि० स० १५८० दिया है। 'भट्ट' जी दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म-स्थान क्या था—इसके विषय में अभी कुछ पता नहीं है। ये संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे—इसी कारण इनके ब्रजभाषा के पदों में भी संस्कृत शब्दों की प्रचुरता है। कहीं-कहीं तो सम्पूर्ण पदावली ही संस्कृतमय हो गई है। किन्तु ब्रजभाषा पर भी इनका पूर्ण अधिकार था जिसमें वृन्दावन आने से पूर्व ही ये पद रचना किया करते थे।

ऐसा प्रचलित है कि इनका वृन्दावन में आना तथा महाप्रभु का शिष्यत्व स्वीकार करना श्री जीवगोस्वामी की प्रेरणा से सम्भव हुआ। साधुओं से गदाधर भट्ट के इस 'पूर्वराग' के पद को सुनकर—

सखी हौं स्याम रंग रंगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं पगी।
संग हुतो अपनो सपनो सो, सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परे सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अंखियनि में निसि द्यौस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि, सोधौं कन्हैया कौन॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ १८२
२. हिन्दी साहित्य : पृष्ठ २००
३. ब्रजमाधुरीसार : पृष्ठ ७५

कासौं कहौं कौन पतियावै, कौन करे बकवाद ।
कैसे कै कहि जात गदाधर, गूंगे को गुरू स्वाद ॥[1]—

जीवगोस्वामी मुग्ध हो गये और समझ गए कि इस पद का रचयिता कोई श्याम रंग में रंगा हुआ रसिक है । अतः उसे वास्तविक रसोपासना के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए उन्होंने उक्त पद को सुनाने वाले साधुओं के हाथ एक श्लोक द्वारा उन्हें यह सूचित किया कि राधा जी के चरण-युगलों की सेवा और वृन्दावन-वास किए बिना तथा उनके भाव से भावित भक्तों का सत्संग किए बिना श्याम-समुद्र के रस का अवगाहन नहीं हो सकता ।

अनाराध्य राधापदाम्भोजयुग्म-
मनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदांकम् ।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तात्
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ॥

इनके जीवन और स्वभाव के सम्बन्ध में नाभादास जी के एक छप्पय तथा उस पर की गई प्रियादास जी की टीका से कुछ प्रकाश पड़ता है । नाभादास जी ने अपने इस छप्पय में—

सज्जन, सुहृद, सुशील, वचन आरज प्रतिपालय ।
निर्मत्सर, निहकाम, कृपा-करुणा को आलय ॥
अनन्य भजन दृढ़ करनि धर्‌यो बपु भक्तन काजं ।
परम धरम को सेतु, विदित वृन्दावन गाजं ॥
भागौत सुधा बरषे बदन काहू कों नाहिन दुखद ।
गुन निकर 'गदाधर भट्ट' अति सबहिन कों लागं सुखद ॥

गदाधर भट्ट के 'गुण निकर' का उल्लेख करके उनके जीवन की अपेक्षा स्वभाव का ही विशेष रूप से परिचय दिया है । प्रियादास जी ने इस छप्पय की टीका में इन गुणों को स्पष्ट करने के लिए उनके जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख भी किया है । पहली घटना जीवगोस्वामी का **'सखी हौं स्याम रंग रंगी'**—यह पद सुनकर भट्ट जी को वृन्दावन आने की प्रेरणा देना है । इसके अतिरिक्त प्रियादास जी द्वारा दी हुई घटनाओं से पता चलता है कि ये भागवत की कथा बहुत सुन्दर ढंग से करते थे । इस कथा को सुनकर सभी श्रोता भाव-मग्न हो जाते थे । इसी प्रकार कहते हैं इन्होंने अपने साधु स्वभाव

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी : पृष्ठ २५

के कारण एक बार एक चोर को अपने ही घर की चोरी करने में सहायता दी।[1]

भट्टजी रचित कोई विशेष ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। जो कुछ भी उपलब्ध हुआ है वह स्फुट पदों के रूप में है। इन स्फुट पदों का विषय विविध है। इनमें भक्त का दैन्य, वात्सल्य, बधाई (राधा और कृष्ण की), यमुना-स्तुति और राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन है। किन्तु ये सभी पद एक भावुक भक्त की कृति होने के कारण वर्णनात्मक हैं—विवेचनात्मक नहीं। अतः इन वर्णनात्मक पदों में माधुर्य्य भक्ति के सम्बन्ध में जो कुछ मिलता है उसी से हमें सन्तोष करना पड़ता है।

माधुर्य्य भक्ति

भट्टजी के उपास्य नित्य वृन्दावन में वास करने वाले राधा-कृष्ण हैं। उनका रूप, स्वभाव, शील, माधुर्य्य आदि इस प्रकार का है कि उनका चिन्तन करने के लिए सभी का मन लोभायमान हो जाता है। इस युगल-मूर्ति का नित्य-प्रति ध्यान एवं चिन्तन करने से साधक को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है जिससे वह सांसारिक ताप से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। भट्ट जी ने अपने उपास्य-युगल की रूप-छवि तथा स्वरूप का वर्णन अपने कई पदों में संस्कृत-गर्भित भाषा में किया है। उनके अनुसार कृष्ण व्रजराज कुल-तिलक, राधारमण, गोपीजनों को आनन्द देने वाले, दुष्ट दानवों का दमन करने वाले, भक्तों की सदा रक्षा करने वाले, लावण्य-मूर्ति तथा ब्रह्म, रुद्र आदि देवताओं द्वारा वन्दित हैं।

जय महाराज व्रजराज कुल तिलक,
गोविन्द गोपीजनानंद राधारमन।
बल दलन गर्व पर्वत विदारन,
व्रज भक्त रच्छा दच्छ गिरिराज धरधीर।
..... ॥
कोटिकंदर्पदर्पापहर लावण्यधन्य,
वृन्दारन्यबन्यभूषन मधुर।
मुरलिका नाद पीयूषनिर्झर महानंदन,
वंदित सकल ब्रह्म रुद्रादिसुर ॥.....[2]

---

१ गदाधर भट्ट की वाणी : भूमिका : प्रकाशक बाबा कृष्णदास : हरिमोहन प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर।

२. वही : पृष्ठ १२-१३

कृष्ण-प्रेयसी राधा सकल-सुखों की साधिका, तरुणी-मणि और नित्य नवीन किशोरी हैं। वे कृष्ण के रूप के लिए लालायित और कृष्ण-मुख-चन्द्र की चकोरी है। कृष्ण स्वयं उनकी रूप-माधुरी का पान करते हैं। मनसा श्याम रंग में रंगी होने पर भी शरीर से गौरवर्ण हैं और चौसठों कला-प्रवीण होने पर भी अत्यधिक भोली हैं—यही उनके रूप और स्वभाव की अद्भुतता है।

जयति श्री राधिके सकल सुख साधिके,
तरुनि मनि नित्य नवतन किशोरी।
कृष्ण तनु लीन मन रूप की चातकी,
कृष्ण मुख हिम किरण की चकोरी॥
कृष्ण दृग भृंग विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण दृग मृगज बन्धन सुडोरी।
कृष्ण अनुराग मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण गुनगान रससिन्धु बोरी॥
एक अद्भुत अलौकिक रीत में लखी,
मनसि स्यामल रंग अंग गोरी।
और आश्चर्य कहूँ मैं न देख्यो सुन्यो,
चतुर चौसठिकला तदपि भोरी॥[1]

भट्ट जी के पदों में राधा-कृष्ण का परस्पर सम्बन्ध सम्प्रदाय के सिद्धांत के विपरीत स्वकीया भाव परक लक्षित होता है। इसका कारण यह है कि भट्ट जी ने राधा-कृष्ण की लीला को नित्य लीला के रूप में ग्रहण किया है और नित्य लीला में राधा कृष्ण की शक्ति होने के कारण स्वकीया मानी गयी है। कई पदों से यह तथ्य बिल्कुल स्पष्ट सूचित होता है—

दिन दूलह मेरो कुँवर कन्हैया।
..... ॥
नित प्रति रास बिलास ब्याह विधि नित सुर तिय सुमननि बरषैया।
नित नव नव आनन्द वारिनिधि नितहि गदाधर लेत बलैया॥[2]

राधा-कृष्ण की लीलाओं का ध्यान एवं उनके लीला-रस का आस्वादन भट्ट जी की उपासना है। इस कारण उन्होंने अपने पदों में राधा-कृष्ण की

१. गदाधर भट्ट की वाणी : पृष्ठ २१–२२
२. वही : पृष्ठ ३९–४०

लीलाओं का विविध रूप में गान किया है। उपास्य-युगल की मधुर लीलाओं में संयोग और वियोग दोनों प्रकार की लीलाओं का सुन्दर वर्णन है।

राधा का गोपियों के साथ मिलकर कृष्ण और बलराम के साथ होली खेलने का यह वर्णन बहुत मनोहारी है—

चलो री होरी खेलें नंद के लाल सों।
रंग रंगीलो छैल छबीलो मोहन मदन गोपाल सों॥
मृगमद अबीर अरगजा केसर फेंट जु भरी है गुलाल सों।
रुंज मुरज पखावज बाजें रंग रह्यो करताल सों॥
छिरकत भरत परस्पर सब मिल लाल हसत ब्रजबाल सों।
चंद्रावलि बलिराम मुख माँड़्यो लटकत गजगति चाल सों॥
राधा जू अचानक आय गहे हरि बेंदी लागी भाल सों।
विप्र गदाधर मुख सुख निरखत सुख पायो दीनदयाल सों॥[1]

इसी प्रकार राधा और कृष्ण के नृत्य का यह वर्णन भी भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से बहुत सुन्दर है। शब्दों में नृत्य की सी ताल लक्षित होती है।

निरखत राधा नन्दकिशोर।
ताल मृदंग सहचरी बजावत बिच बिच मोहन मुरली कलघोर॥
उरप तिरप पग धरत धरणि पर मंडल फिरत भुजन भुज जोर।
शोभा अमित विलोक गदाधर रीझ रीझ डारत तृण तोर॥[2]

वियोग परक लीलाओं में पूर्वराग और मान लीला का ही वर्णन है। प्रवास के पद हमें भट्ट जी की वाणी में नहीं मिलते। साधुओं के मुख से भट्ट जी का पूर्वराग का पद **'सखी हौं स्याम रंग रंगी'** सुनकर ही जीवगोस्वामी मुग्ध हो गये थे।

राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं में प्रकृति भी पूर्ण सहायता करती है। भट्ट जी ने इस कारण अपने पदों में ऋतुओं का तथा वृन्दावन की शोभा का सुन्दर वर्णन किया है। यह प्रकृति वर्णन अधिकतया भावोद्दीपक रूप में ही आया है किन्तु कहीं-कहीं प्राकृतिक पदार्थों को भक्तों की भाँति कृष्ण-पूजा करते हुए भी चित्रित किया गया है।

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी : पृष्ठ ५३
२. वही : पृष्ठ ३५

हरि की नवधन करत आरती ।
गर्ज्जनि मंद शंख ध्वनि सुनियति दादुर वेद भारती ।।
पंचरंगपाट वाति सुर धनु की दामिनी दीप उज्यारती ।
जल कन कुसुम जाल वरषावत बगगण चमरनि ढारती ।।
घंटा ताल झाँझि झालरि पिक चातक केकी क्वान ।
ताते भयो गदाधर प्रभु के श्यामल अंग समान ।।[1]

कुछ अन्य पदों में प्रकृति को हरि के रूप ही में देखा गया है । वसन्त का यह वर्णन इसी भाव से चित्रित प्रकृति का सुन्दर उदाहरण है :—

देखोऊ प्यारी कुंजबिहारी मूरतिवंत बसंत ।
मोरी तरुण तरलता तन में मनसिज रस बरसंत ।।
अरुण अधर नव पल्लव शोभा विहसनि कुसुम विकास ।
फूले विमल कमल से लोचन सूचित मन कौ हुलास ।।
चल चूर्ण कुन्तल अलि माला मुरली कोकिल नाद ।
देखियति गोपीजन बनराई मुदित मदन उनमाद ।।
सहज सुवास स्वास मलयानिल लागत सदाति सुहायो ।
श्री राधामाधवी गदाधर प्रभु परसत सुखपायो ।।[2]

उपास्य की विहार-स्थली होने के कारण वृन्दावन का भट्ट जी की दृष्टि में बहुत महत्त्व है । अतः विहार-स्थली यमुना-पुलिन तथा निकुंजों का मनोहर वर्णन इन्होंने अपने पदों में किया है ।

भट्ट जी ने उपासक के स्वरूप के विषय में स्वतन्त्र रूप से नहीं लिखा है । किन्तु उनके पदों में इस तत्त्व का जो वर्णन मिलता है उसे देखते हुए यह सहज ही समझ में आ जाता है कि भट्ट जी ने उपासक का स्वरूप वही स्वीकार किया है जो गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने निर्धारित किया है । साधक के लिए आवश्यक विविध साधनों की भी चर्चा भट्ट जी ने की है । इनमें से कृष्ण का नाम उच्चारण, कृष्ण-गुणों का स्मरण, उपास्य-युगल का ध्यान आदि साधनों से साधक के मन में कृष्ण-प्रेम का उदय होता है । उक्त साधनों में से कलिकाल में नाम का माहात्म्य विशेष है । अतः भट्ट जी अपनी जिह्वा को सदा हरिनाम जपने की प्रेरणा देते हैं ।

---

१. गदाधर भट्ट की वाणी : पृष्ठ ५८
२. वही : पृष्ठ ४२

हरि हरि हरि हरि रट रसना मम ।
पीवति खाति रहति निधरक भई, होत कहा तोको त्रम ॥···॥[1]

किन्तु इन सभी साधनों की सार्थकता तभी है जब हम माया-सुखों से विरक्त होकर अपने मन को यत्नतः कृष्ण-चरणों में लगा देते हैं। इसलिए वे प्रत्येक साधक को जिस तिस प्रकार से यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि माया अर्थात् संसारासक्ति का त्याग करो और कृष्ण-लीला में अपने मन को रमा दो।

मूढ़ मायात दुराशा पिशाची वशे,
मित्र मज्जय मनः कृष्ण लीला रसे ।

गदाधर भट्ट की माधुर्य्य भक्ति की इस समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने अपने पदों में प्रेम-लीलाओं का वर्णन अत्यधिक संयमित ढंग से किया है। सुरत आदि का वर्णन विरल है। वैसे भी उनके पदों में मधुर-लीलाओं के ही वर्णन का आग्रह नहीं है। वहाँ वात्सल्य भाव तथा यमुना-स्तुति आदि को भी उचित स्थान मिला है।

भट्ट जी की वाणी के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि जिन पदों में भाव और भाषा का सामंजस्य है वे पद कवित्व की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। किन्तु ऐसा सभी पदों में नहीं हो पाया है। इसका कारण यह है कि इनकी शैली वर्णन प्रधान रही है जिससे पद लम्बे हो गए हैं और उनमें से भावैक्य का गुण लुप्त हो गया है। फिर भी अधिकांश पद गदाधर भट्ट की कवित्व शक्ति के परिचायक हैं। इन पदों की भाषा सरल तथा स्वाभाविक है। कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार भी लक्षित हो जाते हैं। किन्तु भाषा का सौन्दर्य मुख्य रूप से भावानुरूप शब्द-योजना में ही है।

१, गदाधर भट्ट की वाणी : पृष्ठ १५

सूरदास मदनमोहन

इतिवृत्त

सूरदास मदनमोहन अकबर के शासन काल में संडीले (जि० हरदोई) के अमीन थे। इसी आधार पर इनका समय सोलहवीं शताब्दी अनुमानित किया जा सकता है। ये जाति के ब्राह्मण थे। इन्होंने किसी गौड़ीय विद्वान् से दीक्षा ली। सूरदास मदनमोहन की वाणी के प्रकाशक बाबा कृष्णदास के अनुसार ये विद्वान् स्वयं सनातन गोस्वामी थे।[1] किन्तु इस मान्यता के लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। सूरदास मदनमोहन ने भी अपने किसी पद में इस तथ्य की ओर संकेत नहीं किया। अतः बाबा कृष्णदास की मान्यता को निश्चित तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूरदास मदनमोहन का वास्तविक नाम 'सूरध्वज' था। किन्तु कविता में इन्होंने अपने इस नाम का प्रयोग कहीं नहीं किया। मदनमोहन जी के परमभक्त होने के कारण इन्होंने सूरदास—इस नाम के साथ 'मदनमोहन' को भी पदों की छाप में संयुक्त किया है। अतः ब्रजभाषा के प्रमुख कवि सूर' (वल्लभ सम्प्रदायी) ने जिस प्रकार अपने पदों में सूर और श्याम को एक रूप देने की चेष्टा की है उसी प्रकार इन्होंने भी सूरदास और मदनमोहन में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। दोनों कवियों की छाप में 'सूरदास' शब्द समान रूप से मिलता है। किन्तु एक 'श्याम' की बाँह पकड़ कर चला है तो दूसरा 'मदनमोहन' का आश्रय लेकर और यही दोनों के पदों को पहचानने की मात्र विधि है। उन पदों में जहाँ केवल 'सूरदास' छाप है—पदों के रचियता का निश्चय कर सकना कठिन है। इस कारण सूरदास नाम के सभी पद महाकवि सूरदास के नाम पर प्रचलित कर दिए गए हैं। इसलिए सूरदास मदनमोहन के पदों की उपलब्धि कुछ कठिनाई का कारण हो रही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूरदास मदनमोहन के नाम से जो पद दिया है वही पद नन्ददुलारे वाजपेयी द्वारा सम्पादित सूरसागर में भी मिल जाता है।

नवलकिशोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उर धरिया॥

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी : भूमिका : पृष्ठ १

करत विनोद तरनि तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रसभरिया।
यों लपटाई रहे उर अंतर मरकतमणि कंचन ज्यों जरिया॥
उपमा को घन दामिनी नाहीं कंदरप कोटि वारने करिया।
श्री सूरदास मदनमोहन बलि जोरी नन्दनन्दन वृषभानु दुलरिया॥[1]

इसी प्रकार 'बधाई' का यह पद दोनों की रचनाओं में किंचित् परिवर्तन के साथ देखा जा सकता है —

नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवरधन ते आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो हौं सुनिके अति आतुर उठि धायो॥[2]

भक्तमाल में नाभादास जी ने सूरदास मदनमोहन के सम्बन्ध में जो छप्पय लिखा है उससे सूचित होता है कि ये गान-विद्या और काव्य-रचना में बहुत निपुण थे। इनके उपास्य राधा-कृष्ण थे, जिनकी रहस्यमयी सेवा का अधिकार इन्होंने अपनी निष्ठा और भाव-निर्मलता के द्वारा प्राप्त किया। अपने पदों में सूरदास मदनमोहन ने नवरसों में मुख्य शृंगार रस का आश्रय लेकर राधा-कृष्ण की लीलाओं का विविध रूप में गान किया है। युगल किशोर की रहस्यमयी लीलाओं में पूर्ण प्रवेश के कारण इन्हें सुहृद् सहचरि का अवतार माना गया है। भक्तमाल के छप्पय की टीका करते हुए प्रियादास जी ने सूरदास के जीवन की उस घटना का भी उल्लेख किया है जिसके कारण ये संडीले की अमीनी छोड़कर वृन्दावन चले गये थे।

सूरदास मदनमोहन के लिखे हुए स्फुट पद ही आज उपलब्ध होते हैं, जिनका संकलन सुहृद्-वाणी के रूप में किया गया है।[3] इनके पदों में विशेष रूप से शृंगार लीलाओं का वर्णन है। कुछ पद बधाई, पालना आदि के भी मिलते हैं। शृंगार के पदों में लीला गान ही इनका ध्येय रहा है। अतः लीला वर्णन के इन पदों के आधार पर हम इनकी माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे।

माधुर्य्य भक्ति

इनके उपास्य नवल किशोर राधा-कृष्ण हैं। यह अनुपम जोड़ी कुंजों में

---

१. सूरसागर : सं० नन्ददुलारे वाजपेयी : द्वितीय भाग : पृष्ठ ५०१
२. सूरदास मदनमोहन की बाणी पृष्ठ-२ और सूरसागर : सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृष्ठ २७४
३. इसका प्रकाशन बाबा कृष्णदास ने राजस्थान प्रेस, जयपुर से वि० स० २००० में करवाया।

रस-लीला के द्वारा सखी एवं सखाओं को आनन्दित करती है। राधा और कृष्ण दोनों अनुपम सुन्दर हैं। जहाँ कृष्ण श्याम-वर्ण हैं, वहाँ राधा गौर वर्ण हैं, किन्तु कान्ति में दोनों समान हैं। सिद्धान्ततः कृष्ण ही राधा हैं और राधा ही कृष्ण हैं। ये उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार धूप और छाँह, घन और दामिनी तथा दृष्टि और नयन। फिर भी लीला के लिए उन्होंने दो विग्रह धारण किये हुए हैं।

माई री राधा वल्लभ वल्लभ राधा।
वे उनिमैं उनिमैं वे वसत॥
घाम छाँह घन दामिनी कसौटी लीक ज्यों कसत।
दृष्टि नैन स्वास बैन नैन सैन दोऊ लसत।
सूरदास मदनमोहन सनमुख ठाढे ही हसत।[1]

सूरदास मदनमोहन के कृष्ण मायाधिपति हैं। उनकी माया समस्त जगत को अपने वश में करने वाली है—किन्तु मायाधिपति होने पर भी कृष्ण स्वयं प्रेम के वशीभूत हैं। इसी कारण जिस प्रकार इनकी माया समस्त जगत् को नचाती है उसी प्रकार गोपयुवतियाँ इन्हें अपने प्रेम के बल पर नचाती हैं।

राधा सर्वांग सुन्दरी है—उनके रूप लावण्य की समता कमला, शची और स्वयं कामदेव की पत्नी रति भी नहीं कर सकती। रूप ही नहीं गुण और प्रेम की दृष्टि से भी राधा अनुपम है। इसलिए श्रीकृष्ण उनके प्रेम का आस्वादन करने के लिए ब्रज में प्रकट हुए है। सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से सूरदास मदनमोहन ने राधा को कृष्ण का स्वकीया माना है। राधा-विवाह की शंका निवारण करने के लिये इन्होंने भी सूरसागर के रचयिता के समान राधा-कृष्ण का विवाह रचाया है, जिसमें गोपियाँ आहूत अभ्यागत हैं तथा इनके विवाह में मंगलाचार गाती हैं। दोनों को वर-वधू के वेष में देखकर कवि की मानसिक साध पूर्ण हो जाती है।

गोपी सबै न्यौते आई। मुरली बरन्यौति बुलाई।
सखीयनि मिलि मंगल गाये। बहु फुलनि मंडप छाये॥
छाये जो फूलनि कुंज मंडप पुलिन में वेदी रची।
बैठे जु स्यामा स्यामवर त्रयीलोक की सोभा सची॥
सूरदासहि भयो आनन्द पूजी मन की साधा।
मदनमोहन लाल दूलहु दुलहिनी श्री राधा॥[2]

---

१. सूरदास की वाणी : अनुराग पद : पृष्ठ ६
२. वही : पृष्ठ ३५-३६

स्वकीया के अतिरिक्त कुछ परकीयाभाव परक पद भी इनकी वाणी में मिल जाते हैं। किन्तु इन पदों का सम्बन्ध विशेष रूप से राधा के साथ न होकर सामान्य गोपयुवतियों के साथ है। इस प्रकार लोक लाज, कुलकानि छोड़कर कृष्ण के पास जाने का अवसर यमुना-तीर पर बजती हुई मुरली की ध्वनि को सुनकर उत्पन्न होता है। उस चर अचर सभी को स्तम्भित कर देने वाली ध्वनि को सुनकर यदि माता-पिता और पुत्र-पति आदि का विस्मरण हो जाता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

चलो री मुरली सुनिये कान्ह बजाई जमुना तीर।
तजि लोक लाज कुल की कानि गुरुजन की भीर॥
जमुना जल थकित भयो वच्छा न पीयें छीर।
सुर विमान थकित भये थकित कोकिल कीर॥
देह की सुधि बिसरि गई बिसर्‌यो तन को चीर।
मात तात बिसर गये बिसरे बालक वीर॥
मुरली धुनि मधुर बाजै कैसे के धरों धीर।
श्री सूरदास मदनमोहन जानत हौ यह पीर॥[1]

उपास्य-युगल राधा के वृन्दावन-विहार का नित्य चिन्तन तथा ध्यान सूरदास मदनमोहन की उपासना है। राधा-कृष्ण की इन विहार लीलाओं के ध्यान से उनका वह प्रेम प्राप्त होता है जिसको पाने की चाह प्रत्येक रसोपासक के हृदय में होती है। अतः अपनी उपासना के अनुरूप सूरदास मदनमोहन ने अपने उपास्य-युगल की प्रेम लीलाओं का वर्णन पूर्ण मनोयोग से किया है।

राधा-कृष्ण की संयोग पक्ष की लीलाएँ परस्पर हास-परिहास अथवा छेड़-छाड़ से आरम्भ होती हैं। इसी पारस्परिक हास-परिहास का परिणाम रूप ठगौरी में दिखाई देता है। तदनन्तर गुप्त मिलन के लिए जिस तिस प्रकार से अवसर ढूँढ लिया जाता है। स्वयं श्रीकृष्ण भी गुप्त कुंज-स्थलों पर अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा करते हुए देखे जाते हैं।

वृन्दावन बैठे मग जोवत बनवारी।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै वंसीवट जमुना तट निपट निकट चारी॥
कुंजन की लता ललित कुसुमन की सेज्या रचि बैठे नटनागर नवलनन बिहारी।
श्री सूरदास मदनमोहन तेरी मग जोवत चलहु वेगि सूही प्रान प्यारी॥[2]

---

१. वही : पृष्ठ ७
२ वही : पृष्ठ ११-१२

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का उत्कर्ष सुरत आदि के वर्णन मे देखा जा सकता है। इस प्रकार की सुरत लीला कुंज और कुंजांतर—दोनों ही स्थलों में भक्त की भावना के अनुसार वर्णित है। सुरत-चिन्हा और खंडिता नायिकाओं का वर्णन इसी प्रेम लीला की पुष्टि के लिए है। इन लीलाओं के अतिरिक्त वसन्त-पूजन आदि यौवन के अभिलषित अवसरों का वर्णन भी सूरदास मदन-मोहन ने अपने पदों में किया है—

जोवन मोर रोमावली वल्ली सुफलफली कंचुकी बसन ढाँपि ले चलि
वसंत पूजन।
बरन बरन कुसुम प्रफुलित नव पल्लव द्रुम ठौर ठौर लागे री कोकिला कूजन॥
सकल सुगन्ध संभारि अरगजा गावति रितुराज चली ब्रजवधु वन।
श्री सूरदास मदनमोहन प्यारी और प्रिय सहित चाहत कुशल सदा दोऊ जन॥[1]

सामूहिक लीलाओं की दृष्टि से रास, होली, झूलन, दानलीला आदि का वर्णन लिया जा सकता है। कवि ने इन सभी लीलाओं के वर्णन में अपनी कल्पना-शक्ति की पूर्ण सहायता ली है और इसके आधार पर सभी प्रसंगों को सुन्दर बनाने की चेष्टा की है।

वियोग-लीलाओं के वर्णन में भी कवि ने विप्रलम्भ के तीन भेदों—पूर्व-राग, मान और प्रवास का सुन्दर वर्णन किया है। कृष्ण की रूप-छवि तथा मुसकान पर मुग्ध हो उनसे मिलने की लालसा रखने वाली गोप-युवती का यह वर्णन बहुत सुन्दर है—

हौं तो या मग निकसी अचानक कान्ह कुँवर ठाढे अपनी पौर।
दृष्टि सों दृष्टि मिली रोम रोम सीतल भई तन में उठत किधौं काम रौर॥
लाल पाग लटकि रही भौंह पर पान खात मुसकात अंग किये चंदनखौर।
श्री सूरदास मदनमोहन रंगीले लालविहारी मन में आवत किधौं मिलूंगी दौर॥

मान-मोचन के प्रसंग में कवि ने ऋतु के भावोद्दीपन पक्ष को प्रस्तुत करके वर्णन को अत्यधिक मनोहारी बना दिया है—

फूल्यो री सघन बन तामें कोकिला करत गान।
चलि री बेगि वृषभाननन्दिनी छाँडि कठिन मन मान॥
नवरितुराज आयो नेरे मिलि कीजे मधुपान।
श्री सूरदास मदनमोहन प्रिया को गाइये,
रिझाइये, सुनाइये मीठी मधुर तान॥[2]

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी : पृष्ठ २१
२. वही : पृष्ठ २३

भगवान् की भक्ति इनकी दृष्टि में संसार के माया जाल से छूटने का मात्र उपाय है। कृष्ण को छोड़कर विषय-सुखों की चाह करना मूर्खता है। इस तथ्य को सूरदास मदनमोहन ने विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा समझाया है।

सोभा सब हानि करौं जगत को हसाऊँ।
कंचन उर हार छाँडि कांच को बनाऊँ॥
कामधेनु घर में त्यजि अजा क्यों दुहाऊँ।
कनक महल छाँडि क्यों परन कुटी छाऊँ॥[1]

किन्तु भक्ति की इतनी महिमा बतलाते हुए भी उसके साधनों की चर्चा इन्होंने कहीं नहीं की। कुछ पदों में राधा-कृष्ण की मधुर-लीला का जिस चित्रात्मक शैली से वर्णन किया गया है उससे सखी भाव की उपासना का संकेत मिलता है। निम्न पद में एक सखी अन्य सखी से निकुंज में होने वाली उपास्य-युगल की रति-लीला का आँखों देखा वर्णन कर रही है—

चलो किन देखत कुंज कुटी।
सुन्दर स्याम मदनमोहन जेंह मनमथ फौज लुटी॥
नंदनंदन वृषभानुनन्दिनी नेकु न चाह छुटी॥
सुरति सेज पे लरति अंगना मुक्तामाल टुटी॥
उरज तजी कंचुकी चुरकुट भई कटि तट ग्रंथी हटी।
चतुर सिरोमनि सूर नन्दसुत लीनी अधर घुटी॥[2]

सूरदास मदनमोहन की वाणी के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी पदरचना अपने समनामी (सूरदास) के समान ही सरस है। यह सत्य है कि उसमें विषय की उतनी विविधता और वर्णन की उतनी कुशलता नहीं है, किन्तु फिर भी उसमें भाव और भाषा के काव्योचित प्रायः सभी गुण विद्यमान हैं।

---

१. सूरदास मदनमोहन की वाणी : पृष्ठ १
२. वही : पृष्ठ १२

श्री माधुरीदास

इतिवृत्त

माधुरीदास गौड़ीय सम्प्रदाय के ब्रजभाषा के एक अच्छे कवि हैं। अभी तक हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों से इनका कोई परिचय नहीं है। इस कारण इनके समय, स्थान आदि के सम्बन्ध में कोई विशेष खोज नहीं हुई। इनकी वाणी के प्रकाशक बाबा कृष्णदास ने इस विषय में कुछ लिखा है, किन्तु उनके द्वारा दिये गए तथ्य प्रमाण-पुष्ट नहीं है। उनका आधार केवल अनुमान या सुनी सुनाई बातें हैं। इसलिए प्रामाणिक रूप से इस सम्बन्ध में कुछ लिखना हमारे लिए सम्भव नहीं है। जो कुछ भी अभी तक उपलब्ध है उसी के आधार पर हम इनके सम्बन्ध में चर्चा करेंगे।

माधुरीदास ने केलि-माधुरी का रचना काल अपने इस दोहे में दिया है—

सम्वत् सोलह सो असी सात अधिक हियधार
केलि माधुरी छवि लिखी श्रावण बदि बुधवार ॥[1]

इस दोहे से यह स्पष्ट हो जाता है कि माधुरीदास का कविता-काल वि० सं० १६८७ है। किन्तु इस संवत् से पहले वे कब से रचना करते आ रहे थे अथवा इसके बाद उन्होंने कितने समय तक काव्य-रचना की इसके विषय में इससे भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। बाबा कृष्णदास के अनुसार माधुरीदास की वाणी में कुछ दोहे इस प्रकार के मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि ये श्री रूपगोस्वामी के शिष्य थे। इस प्रकार के दोहों में एक दोहा यह है—

रूप मंजरी प्रेम सों कहत बचन सुखरास।
श्री वंशीवट माधुरी होहु सनातन वास ॥[2]

यहाँ 'रूप मंजरी' शब्द श्री रूपगोस्वामी के लिये व्यवहृत स्वीकार किया गया है। उक्त दोहे की अपेक्षा माधुरीदास का यह दोहा रूपगोस्वामी और माधुरीदास के गुरु शिष्य सम्बन्ध को निर्धारित करने में अधिक सहायक होता है—

---

१. माधुरी वाणी : केलि माधुरी : दोहा १२६
२. वही : वंशीवट माधुरी : दोहा ३०८

विपिन सिंधु रस माधुरी कृपा करी निज रूप।
मुक्ता मधुर विलास के निज कर दिये अनूप ॥[1]

यदि माधुरीदास को रूपगोस्वामी का शिष्य स्वीकार कर लिया जाय तो उनका समय वि० सं० १६०० से वि० सं० १७०० के बीच का अनुमानित किया जा सकता है।

बाबा कृष्णदास के अनुसार माधुरीदास ब्रज में माधुरी कुण्ड पर रहा करते थे। यह स्थान मथुरा-गोवर्धन मार्ग पर अडींग नामक ग्राम से ढाई कोस दक्षिण-दिशा में है। अपने इस मत की पुष्टि के लिये कृष्णदास जी ने श्री नारायण भट्ट के 'ब्रजभक्ति विलास' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। किन्तु वह उद्धरण जिसके आधार पर उन्होंने यह मत स्थिर किया है, कृष्णदास जी ने नहीं दिया। इसके अतिरिक्त इनके जीवन और स्वभाव के विषय में अभी तक पता नहीं है।

माधुरीदास ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन कवित्त, सवैया, चौपाई, छप्पय, दोहा, सोरठा आदि के माध्यम से किया है। विषय के अनुसार ये कवित्त-सवैया आदि सात माधुरियों में विभाजित है—उत्कण्ठा, वंशीवट, केलि, वृन्दावन, दान, मान और होरी। इन सम्पूर्ण माधुरियों का संग्रह ही माधुरी वाणी है। इनके अतिरिक्त कुछ पद प्रिया जू की बधाई के भी हैं। अपनी इस रचना में माधुरीदास ने राधा-कृष्ण की लीला-वर्णन के साथ-साथ अपने उपास्य, उपासना तथा उपासक के स्वरूप की भी चर्चा की है। अतः माधुर्य्य भक्ति के सिद्धान्त-पक्ष की दृष्टि से भी इनकी वाणी का अत्यधिक महत्त्व है।

माधुर्य्य भक्ति

माधुरीदास ने अपने उपास्य का परिचय निम्न दोहे में दिया है—

हो निकुंज नागरि कुँवरि, नवनेही घनश्याम।
नैनन में निस दिन रहो, अहो नैन अभिराम ॥[2]

ये उपास्य-युगल सदा वृन्दाबन में विहार करते रहते हैं। इनके बिना समस्त संसार में शत-सूर्य के उदय होने पर भी अंधेरा ही रहता है और नेत्रों को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। राधा और कृष्ण रूप में, गुण में तथा वयस् में समान हैं। दोनों तन मन से एक हैं। ये एक ही रस (प्रेम) के

१. वही : केलि माधुरी : दोहा १२६
२. माधुरी वाणी : उत्कण्ठा माधुरी : दोहा ३४

रसिक हैं—इसलिए उनका विहार सहज एवं स्वाभाविक है।

कृष्ण वर्ण से साँवले परन्तु सुन्दर हैं। उनका मोहन रूप सबको मोहित करने में समर्थ है। इस प्रकार मनहरण करके भी वे सबको सुखी करने वाले हैं। वे गुणों में रतिनिधि, रसनिधि, रूपनिधि और प्रेम तथा उल्लास की निधि हैं। वृन्दाविपिनेश्वरी राधा नवल किशोरी, गौरवर्णा, भोली, मोहिनी, माधुर्य्य पूर्ण, मृगनयनी, आमोददा, आनन्द राशि आदि विभिन्न गुणों से संयुक्त हैं। सर्वगुण-सम्पन्न होने के साथ-साथ वे रसरूपा हैं। इनका आधा नाम लेने से भी साधक के सब सुख सिद्ध हो जाते हैं।

गुणनि अगाधा राधिका श्री राधा रस धाम।
सब सुख साधा पाइये, आधा जाको नाम॥

राधा-कृष्ण के सम्बन्ध में इनके भी वही विचार हैं जो गौड़ीय सम्प्रदाय के अन्य ब्रजभाषा के कवियों के हैं। अतः माधुरीदास ने अपने उपास्य-युगल को दूल्हा-दुलहिन के रूप में चित्रित किया है।

माधुरी लता में अति मधुर विलासन की
मधुकर आनि लपटानी सब सखियां।
दुलहिन दूलहू के फूल के विलास कछु
वास लै लै जीवति हैं जैसे मधुमखियां॥[1]

उपास्य-युगल की मधुर-लीलाओं का ध्यान तथा भावन माधुरीदास की उपासना है। अतः उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं की माधुरी को ही अपनी रचना में गाया है। इस विहार का आधार प्रेम है। इसीलिए राधा-कृष्ण के विलास का ध्यान कर भक्त को अत्यधिक आनन्द प्राप्त होता है—

परी सुरत जिय आय, रोम रोम भई सरसता।
देखहु सुधा सुभाय, मोहन को मोहन कियो॥[2]

इस प्रेम की गति अगम है और इसका स्वरूप कठिन से भी कठिन है। इस प्रेम का अनुभव कभी मिलन, कभी वियोग और कभी संयोग-वियोग मिश्रित रूप में होता है। किन्तु इसे वही जान सकता है जिसे इसका कभी अनुभव हुआ हो।

प्रेम अटपटी बात कछु, कहत बने नहीं बैन।
कै जाने मन की दशा, कै नेही के नैन॥[3]

---

१. माधुरी वाणी : दान माधुरी : कवित्त ३३
२. वही : केलि माधुरी : दोहा ८६
३. वही : वंशीवट माधुरी : दोहा २४६

राधा-कृष्ण की मधुर लीलाएँ विविध हैं। कभी कृष्ण प्रिया के साथ हास करने के लिये उसके भूषणों को उतारते हैं और फिर उन्हें पहना देते हैं, कभी उसके कपोलों को मृगमद से चित्रित करते हैं और फिर मिटा देते हैं। दूसरी ओर राधा को प्रियतम के इस स्पर्श से अत्यधिक सुख मिलता है। इस अवसर पर राधा में जिन सात्त्विक भावों का उदय होता है उसका कवि ने बहुत सुन्दर वर्णन इस कवित्त में किया है—

प्यारे के परस होत उपज्यौ सरस रस
स्वरभंग वैपथ प्रस्वेद अंग ढरक्यो।
हरष सों फूल्यौ तन तरकी कंचुकी तनि
चखन चलत सों सिंगार हार सरक्यो॥
कंकन किंकिणी कटि नीवी हूँ सिथिल भये
लोचन कपोल भुज वाम उर फरक्यो।
चिबुक उठाय के जु ऊँचे तव कीन्हों मुख
धीरज न रह धरधर हीयो धरक्यो॥[1]

इनके अतिरिक्त राधा-कृष्ण की संयोग-परक लीलाओं में जल-केलि, नौका-विहार, रास, दान-लीला, होली आदि का भी सुन्दर वर्णन है। दान-लीला का वर्णन अपनी संवादात्मक शैली के कारण अत्यधिक मनोरम हो गया है। कृष्ण की छेड़छाड़ का उत्तर देती हुई गोपियों की यह उक्ति वाक् चातुर्य का सुन्दर उदाहरण है—

घर में न कोऊ जाको वसन उघार देखो
जो पै कछु अब ही ते मन ललचायो है।
भली कीनी आज ही जगातिन को रूप धर्‌यो
कालि ही तो नंदगाँव बाँह दे बसायो है।
नाम लेत वन को न लाज कछु आवति है।
वृन्दावन राधाजू को वेदन में गायो है।
फल फूल रूखन की जाय रखवारी करो,
कोऊ बाग बाबा जी ने विसाले लगायो है।[2]

इसी प्रकार रास के इस वर्णन में बहुत सुन्दर ढंग से तत्कालीन भाव-भंगिमा को उपयुक्त भाषा द्वारा अभिव्यक्त किया गया है—

---

१. दान माधुरी : कवित्त ३१
२. दान माधुरी

नृत्य लास भ्रू विलास मन्द मन्द चारु हास
रास में विलास केलि कोटि कोटि कामिनी।
कुण्डल मृदु गंड लोल चंचल अंचल सुलोल
श्रमकन शोभित कपोल कनक धामिनी।
परम मधुर करत गान लेति सरस सुधर तान
निकसत दुरि जात मन मनहुँ मेघ दामिनी।
टूटत मन कटि प्रदेश छूटत कल कुसुम केस,
लूटत सुख सिंधु सरस माया भामिनी।[1]

वियोग-पक्ष की लीलाओं की दृष्टि से माधुरीदास की उत्कंठा-माधुरी और मान-माधुरी उल्लेखनीय है। उत्कंठा माधुरी में अनुराग की तीव्रता का वर्णन विशद रूप से किया गया है। किन्तु यह वियोग-सूचक अनुराग का वर्णन राधा अथवा गोपियों का न होकर सामान्य भक्त का लक्षित होता है। हाँ कुछ स्थानों पर राधा की विरह-दशा का भी सुन्दर ढंग से चित्रण किया गया है।

कवि ने राधा के मान का वर्णन मान-माधुरी में किया है। वस्तुतः माधुरी-दास की दृष्टि में स्नेह की परिपक्वता के लिये मान की अत्यधिक आवश्यकता है। मान के स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि मान ऊपर से मिश्री के समान कठोर है, किन्तु जब उसका रस ग्रहण किया जाता है तभी उसकी रसवत्ता स्पष्ट होती है।

बिन सनेह नहि मान, मान बिना न सनेह कछु।
जैसे रस मिष्ठान्न, नोंन सहित रोचक अधिक॥
मिश्री मान समान, छूवत कर लागत कठिन।
जब कीजै रस पान, तब जानै रसना सरस॥[2]

इसीलिए माधुरीदास ने मान का विशद रूप से वर्णन किया है। और जहाँ इस वर्णन में रूपकात्मक शैली का आश्रय लिया गया है, वहाँ वर्णन अत्यधिक सरस हो गया है।

माली नव मदन तरुनी तन आलवाल
जतन जुगति सों जोवन बीज बोयो है।
उपज्यो है अंकुर सनेह को सरस अति
सुरति के मेह सों सुलित सरसायो है॥

---

१. वंशीवट माधुरी : कवित्त २३८
२. मान माधुरी : दोहा ३६, ३८

मूल प्रतिकूलता सुमन फूल फूलि रह्यो
हाव-भाव पल्लव सघन छाँह छायो है।
मधुर ते मधुर लग्यो है एक मान फल
सोई जाने सुख जिन लोभी रस लयो है।[1]

भावोद्दीपन की दृष्टि से कवि ने ऋतु-विशेष का कहीं वर्णन नहीं किया। वैसे सामान्य रूप से वृन्दावन की सुषमा का वर्णन वृन्दावन माधुरी में कई स्थलों पर है।

राधा-कृष्ण की सखी भाव से नित्य-प्रति सेवा करना माधुरीदास का उपासक धर्म है। अतः उनकी यही अभिलाषा है—

एक बार इन लोचननि, देखों नवल विहार।
इनहीं हाथन दुहुन को करौं बैठि शृंगार॥[2]

राधा-कृष्ण की इस सेवा में उपासक अपना सर्वस्व लगा देना चाहता है। इसी अभिलाषा से उपास्य-युगल को प्रसन्न करने के लिये वह कभी केशर के रंग में मिल जाना चाहता है और कभी वह उनका शृङ्गार करने वाले फूल बन जाना चाहता है। इसी प्रकार अन्य जितनी भी वस्तुएँ राधा-कृष्ण को सुखद हैं वह उन्हीं का रूप हो जाना चाहता है।

भजन के विभिन्न साधनों की चर्चा करते हुए माधुरीदास ने कृष्ण-नाम-स्मरण, तत्सुखी भाव और उपास्य के विरह की तीव्र अनुभूति, आदि का उल्लेख किया है। इनमें से अन्तिम साधन का उनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व है। अतः इसका वर्णन उन्होंने विस्तार से 'उत्कंठा माधुरी' में विविध रूपों में किया है।

विरह अग्नि उर में बढ़ी, तप्यो अवनि तनु जाय।
सुरत तेल तापर परे, कह किहि भाँति सिराय॥
यह उत्कंठा की लता, चली वेगि मुरझाय।
संग दामिनी श्यामघन, जो बरषे नहिं आय॥[3]

माधुरीदास की वाणी का अनुशीलन करने से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि ये केवल भक्त नहीं—भावुक कवि भी हैं। उनके कवित्तों में एक ओर

---

१. मान माधुरी : कवित्त ३५
२. उत्कंठा माधुरी : दोहा ६५
३. उत्कंठा माधुरी : दोहा १४-१५

भावों की तीव्रता लक्षित होती है और दूसरी ओर सरस तथा प्रवाहमयी भाषा। भाव और भाषा के इन गुणों के कारण माधुरीदास की कविता में वही सौन्दर्य है जो एक अच्छे कवि की रचना में होता है। अतः इन्हें भक्त की अपेक्षा भक्त-कवि कहना अधिक समीचीन होगा।

श्री वल्लभ रसिक

इतिवृत्त

श्री वल्लभ रसिक गौड़ीय सम्प्रदाय के ऐसे दूसरे कवि हैं—जिनका हिन्दी साहित्य के किसी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं मिलता। आज से कुछ समय पूर्व तक इनके कुछ छन्दों ही से रसिक समाज का परिचय था। ये छन्द गदाधर भट्ट जी के वंशजों के पास सुरक्षित थे। इन्हीं छन्दों से प्रेरणा पाकर वल्लभ-रसिक की रचना को खोजने का प्रयास हुआ और इसी प्रयास के फलस्वरूप वल्लभ-रसिक की वाणी का बहुत कुछ अंश प्रकाश में आ चुका है।[1] किन्तु इस प्रकार रचना की खोज कर लेने के उपरान्त भी उनके जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कोई बात प्रकाश में नहीं आई।

गदाधर भट्ट जी के वंशजों के अनुसार वल्लभ रसिक भट्ट जी के द्वितीय पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम रसिकोत्तंस था। भट्ट जी ने अपने दोनों पुत्रों को स्वयं शिक्षा और दीक्षा दी। इस आधार पर वल्लभ रसिक का कविता काल वि० सं० १६५० के आस पास स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि गदाधर भट्ट का समय वि० सं० १६०० से कुछ पूर्व का अनुमानित किया गया है। भट्ट जी के पुत्र होने के कारण ये भी दाक्षिणात्य ब्राह्मण ठहरते हैं। किन्तु इन सभी तथ्यों—समय, वंश, सम्प्रदाय आदि के विषय में वल्लभ रसिक ने स्वयं कुछ नहीं लिखा। अपनी वाणी में तो महाप्रभु चैतन्य अथवा षट्-गोस्वामियों की उन्होंने वन्दना भी नहीं की। अतः इनके विषय में जो कुछ भी अभी तक कहा जाता है उसका मात्र आधार भट्ट जी के वंशजों की यह सूचना है कि 'वल्लभ रसिक गदाधर भट्ट के द्वितीय पुत्र थे।'

वल्लभ रसिक ने अपने भावों की अभिव्यक्ति पद, सवैया, कवित्त, दोहा, चौपाई आदि छन्दों में की है। ये सभी छन्द स्फुट रूप में हैं। किन्तु विषय की दृष्टि से इनका विभाजन किया जा सकता है। इन छन्दों का मुख्य विषय राधा-कृष्ण का विहार-वर्णन है। इसके अतिरिक्त कुछ पद, सवैया आदि पवित्रा, वर्षगांठ, दशहरा, दिवाली आदि पर भी हैं।

माधुर्य्य भक्ति

वल्लभ रसिक के विचार में संसार के सभी नाते झूठे हैं। अतः इन

---

१. प्रकाशक बाबा कृष्णदास : कल्याण प्रिंटिंग प्रेस, आगरा।

सम्बन्धों को तोड़कर हमें राधा-कृष्ण युगलवर से ही अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए। ये उपास्य-युगल रस के सागर हैं—इसलिए इनसे नाता हो जाने पर भक्त भी सदा रस-सिन्धु में मग्न हो कर आनन्द प्राप्त करते हैं। उनकी रूप माधुरी अपूर्व है—जिसे देखकर उपासक के नेत्र कभी तृप्त नहीं होते। इसीलिए उन्होंने कहा है—

हम तो युगल रूप रस माते नातें ही के मानें।
देही नातें नेक न मानें ह्यांते हैं अलसाने॥
श्याम सनेही हिये सुहाते नातें तिन सों ठाने।
वल्लभ रसिक फिरें इतरातें चितराते उमदानें॥[1]

वल्लभ रसिक ने प्रेम के क्षेत्र में राधा को ही उच्च स्थान दिया है।

यद्यपि दोउन की लगन सब मिलि कहें समान।
पै प्यारी महबूब है आशिक प्यारो जान॥[2]

इस प्रकार की पारस्परिक भिन्नता रस अपकर्षक नहीं—रस वर्द्धक ही है। क्योंकि दोनों का प्रेम स्वार्थ-शून्य, केवल दूसरे को सुख देने के लिए और ऊँच-नीच की भावना से सर्वथा रहित है।

राधा-कृष्ण की विविध मधुर-लीलाओं का ध्यान करना ही वल्लभ रसिक की उपासना है। राधा-कृष्ण का यह विलास प्रेम जनित है। अतः इसमें आदि अन्त नहीं है। वह निजी सुख की कामना से रहित है। इसीलिए उसे उज्ज्वल कहा गया है।

अहर पहर रस खेलत बीतें।
खेलनि में हारनि को जीतें॥
रसिकन के चश्मो का चश्मा।
उज्ज्वल रस का जिन पर बसमा॥[3]

राधा-कृष्ण के विहार से व्यंजित प्रेम प्राप्त करना प्रत्येक उपासक का लक्ष्य है। यह प्रेम अद्भुत है। इसका आस्वादन कर लेने के उपरान्त सभी सांसारिक सुखों का स्वाद फीका लगता है। किन्तु इस प्रेम का आस्वादन करने के लिए सांसारिक नियमों का त्याग परम आवश्यक है। लौकिक बन्धनों से बँधा हुआ प्रेम रस की उपासना में सहायक नहीं होता। अतः इस भजन

---

१. वल्लभ रसिक की वाणी : पृष्ठ ३९
२. वही : पृष्ठ ७३
३. वही : पृष्ठ ७५

रीति का रस लेने के इच्छुक साधक को इनका त्याग कर ही देना चाहिए।

यह जग धरम शरम को दौरत दौरत पाय पिरानें।
झूठी बातें रसना तातें रस नातें उलझानें॥
दई दई पशु संगति वश नहि भजि कित जाँहि सयाने।
वल्लभ रसिक इकोसें अनुभव सों हिये सिराने॥[1]

वल्लभ रसिक ने राधा-कृष्ण की संयोग और वियोग सूचक—दोनों प्रकार की लीलाओं का वर्णन अपनी वाणी में किया है। इनमें वियोग की अपेक्षा संयोग परक लीला के पदों, सवैयों आदि की संख्या अधिक है। संयोग की लीलायें सभी प्रकार की हैं—झूलन, रास, होरी, द्यूत-क्रीड़ा, रथयात्रा, जल-क्रीड़ा सुरत विहार आदि। इन सभी का वर्णन कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से किया है। झूलन के इस वर्णन में भक्त की भावुकता और अलंकार तथा लाक्षणिक प्रयोग के कारण कवि की काव्य-प्रतिभा एक साथ लक्षित होती है—

आज दोऊ झूलत रति रस सानें।
ठाढे मचकें लचकि तरुनि के गहि फल फूलन आने॥
सूहे पट पहरें द्वे पटुली बैठे सामल गोरी।
अलिनु रंगीली तिय पद अंगुली पिय डोरी सों जोरी॥
श्याम काम वस भूलि झूलि पग मूलनि झूलिनि बढाहीं।
कामिनि चरण तामरस छुटि अलि काम लूटि मचि जाहीं॥
जोबन मधि जोवन मद झूलए झूलनि फँदनि जाने।
वल्लभ रसिक सखी के नैना एही झुलानि झुलानें॥

राधा की अंग छवि तथा कृष्ण का उसको देखकर चकित रह जाने का यह वर्णन भी बहुत मनोहर है। इसमें कवि ने भावों को बहुत अनूठे ढंग से अभिव्यक्त किया है। भाषा की प्रांजलता, प्रवाह, मधुरता आदि गुणों की दृष्टि से यह उदाहरण सुन्दर है—

उरज उतंग अति भरित भरे से अंग,
अधर सुरंग सों रंगी सी मति जाति हैं।
ऊँची गुही वेणी सों तनेनी भौंह भाइ भरी
आइ भरी छवि हँसि लसि इतराति है॥
वल्लभ रसिक दोऊ सनमुख मुख सनें
चकित थकित कित छौंस कित राति है।

---

१. वल्लभ रसिक की वाणी : पृष्ठ ४२

नैनन सिहानी ललचानि मुसक्यानि
तरसानि सरसानि आनि आनि दरसाति हैं ।[1]

इसी प्रकार रास के इस वर्णन में भाषा का लालित्य तथा संगीतात्मकता देखी जा सकती है :—

मंजुल कल कुंजतल विमल मंडल धवल
नवल रस रास विरचित किशोरी ।
ललित ललितादि सखि रचित कर परस्पर
मंडलित चलित अति गति न थोरी ।।
प्राण समतूल अनुकूल प्रिय अंस भुज
मूल धृत मध्य मण्डल सुगोरी ।
त्रिविध सुर ग्राम अभिराम गुण धाम बल
श्याम आलापयति सुमति मोरी ।।[2]

वल्लभ रसिक ने वृन्दावन की शोभा तथा वर्षा, वसन्त आदि ऋतुओं का भी वर्णन किया है । परन्तु वह बहुत कम है ।

वल्लभ रसिक के अनुसार राधा-कृष्ण की उक्त प्रकार की उपासना अत्यधिक कठिन है । वह उन्हीं के लिए सम्भव है जिन्होंने अपने मन को संसार के विषयों से हटाकर राधा-कृष्ण के चरणों में लगा दिया है । जिनके अभी बाह्य चक्षु (विषयों की दृष्टि) खुले हुए हैं, उन्हें इस उपासना के रस का आस्वादन नहीं हो सकता । जिन उपासकों ने अपने मन से सभी प्रकार के विषय-सुखों को निकाल दिया है और राधा-कृष्ण की लीलाएँ ही जिनके लिये सर्वस्व हैं उनका मात्र उद्देश्य राधा-कृष्ण की सेवा होता है । राधा-कृष्ण की सखी भाव से सेवा करते हुए उपासक को उनकी विविध लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं । इन लीलाओं का दर्शन रसास्वादन का मुख्य साधन है । अतः वल्लभ रसिक की दृष्टि में उपासक का स्वरूप एक सखी का है । अपने इस विचार को उन्होंने कई स्थलों पर व्यक्त किया है—

नवल निकुंज महल रस पागे ।
बैठे दोऊ परम सभागे ।।
उछरत छलकि छलकि अनुराग ।
वल्लभ रसिक सहचरि भाग ।।[3]

---

१. वल्लभ रसिक की वाणी : पृष्ठ ५१
२. वही : पृष्ठ ६६
३. वल्लभ रसिक की वाणी : पृष्ठ ५५

सखी भाव गुरु की कृपा से प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति पर साधक के लिए राधा-कृष्ण की सेवा ही सब कुछ हो जाती है। वह सदा लोक-लाज छोड़कर उनके विहार में ही लीन रहता है।

आठौं पहर रहैं मतवारे।
लोक वेद इन सबै बिसारे॥
दोउन की खेलनि में खेलें।
दोउन की झेलनि रस झेलें॥[1]

वल्लभ रसिक की माधुर्य्य भक्ति की इस समीक्षा से स्पष्ट है कि वे एक भावुक भक्त होने के साथ-साथ अच्छे कवि भी हैं। भावों की अभिव्यक्ति उन्होंने जिस सरस प्रवाहशील, प्रांजल भाषा में की उससे इसी बात की पुष्टि होती है। उनकी भाषा में वैसे तो सर्वत्र माधुर्य गुणमयी ब्रजभाषा की पदावली का ही प्रयोग है, किन्तु कुछ स्थलों पर पंजाबी और फ़ारसी शब्दों का भी व्यवहार किया गया है।

---

१. वही : पृष्ठ ७६

अष्टम अध्याय

राधावल्लभ सम्प्रदाय
माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि

माधुर्य्य भक्ति की दृष्टि से वैष्णव सम्प्रदायों में राधावल्लभ सम्प्रदाय का स्थान विशेष है। प्रवर्तन काल से ही इस सम्प्रदाय में रसोपासना को वास्तविक अर्थ में स्वीकार किया गया। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश के विचारानुसार ब्रह्म की द्वैत एवं अद्वैत परक दार्शनिक व्याख्या रसोपासना में बाधक सिद्ध होती है। क्योंकि यह दार्शनिक व्याख्या प्रेम-मार्ग को केवल जटिल बनाती है और प्रेमी भक्त को उलझन में डालती है। इसी कारण गोस्वामी हित हरिवंश ने वैष्णव सम्प्रदायों में प्रचलित प्रस्थान-त्रयी पर भाष्य लिखने की परम्परा को अस्वीकार किया तथा अपनी सरस पदावली द्वारा ही रस-मार्ग प्रशस्त करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त आचार्य हित हरिवंश ने अपने सम्प्रदाय को दार्शनिक दृष्टिकोण लेकर चलने वाले 'चतुः सम्प्रदाय' से स्वतन्त्र रखा। क्योंकि जहाँ वह यह नहीं चाहते थे कि अद्वैत को स्वीकार कर माया के बन्धन में पड़ें वहाँ उन्हें यह भी अभीष्ट न था कि द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, या विशिष्टाद्वैत के प्रपंच में पड़कर रस की सरसता से वंचित हों। तात्पर्य यह है कि आचार्य हित हरिवंश द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय में न तो दार्शनिक जटिलता है और न भक्ति-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन ही। **'हृदय की रस स्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही इस सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है।"**[1]

सिद्धाद्वैत

यद्यपि गोस्वामी हित हरिवंश ने अपने सम्प्रदाय को दर्शन की छाया से सर्वथा मुक्त रखने की चेष्टा की तथापि उनके अनुवर्ती गोस्वामियों तथा साधु-शिष्यों ने वैष्णव सम्प्रदायों की परम्परा को स्वीकार करते हुए शंकराचार्य की शैली से 'राधावल्लभीय भाष्य' लिखे। इन भाष्यों में राधावल्लभ सम्प्रदाय के

---

१. "राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य"

—डा० विजयेन्द्र स्नातक। पृष्ठ १२६

दर्शन को सिद्धाद्वैत नाम दिया गया। ब्रह्म और जीव के अभेद सम्बन्धों की स्थापना में राधा-कृष्ण का अभेद बताकर इस सिद्धाद्वैत की सम्पूर्ण पीठिका तैयार कर दी गई है। इतना ही नहीं इन गोस्वामियों एवं साधु-शिष्यों ने ब्रह्म सम्प्रदाय के अन्तर्गत इस सम्प्रदाय को स्वीकार किया और इसे अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति 'चतुः सम्प्रदाय' की सीमा में ही लाने का प्रयत्न किया।

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपनी पुस्तक 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' में 'सिद्धाद्वैत' के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है—**'जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है—सिद्ध है अद्वैत जिसमें या जहाँ वह सिद्धाद्वैत। अर्थात् राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वतः सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए माया आदि कारणो के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ न तो शंकराचार्य के अध्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अतः सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य-सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए।'**[१] किन्तु इस अभेद की स्थिति को स्वीकार कर लेने पर कई शंकाएँ उठ पड़ती हैं—जिनका समाधान अपने को नयी उलझन में डाले बिना नहीं दिया जा सकता। इस कारण अपने प्रयोग के आदिकाल से इसे सार्वभौम रूप में स्वीकार नहीं किया गया और अब धीरे-धीरे इस शब्द का अनौचित्य व्यक्त होता जा रहा है।

उक्त ग्रन्थ में स्नातक जी ने ब्रह्मसूत्रों पर लिखे गए चार राधावल्लभीय भाष्यों का उल्लेख किया है। प्रथम भाष्य के रचनाकार श्रीमद्धिताचार्य महाप्रभु पाद के द्वितीय पुत्र दिग्विजयी विद्वान् श्रीमद्गोस्वामी श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु स्वीकार किये गए हैं। इस भाष्य के दो सूत्र हिन्दी रूपान्तर सहित श्री रूपलाल गोस्वामी ने वृन्दावन से प्रकाशित 'सुदर्शन पत्रिका' में छपवाये हैं।[२] परन्तु शेष भाष्य अद्यावधि प्रकाश में नहीं आया है। दूसरा भाष्य रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जू देव का है, जो कि आज भी रीवाँ के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। किन्तु इसकी प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों को संदेह है। इसी प्रकार तीसरा भाष्य रीवाँ के प्रियदास का और चौथा भोलानाथ जी द्वारा लिखित कहा जाता है। पर अभी तक ये दोनों खोज का ही विषय हैं।

---

१. पृष्ठ १२७

२. श्री सुदर्शन-पत्रिका : माघ सम्वत् १९९३ प्रकाश ३, किरण १ : पृष्ठ ९५-१०१

ये राधावल्लभीय भाष्य गौड़ीय सम्प्रदायानुयायी विद्वानों की भाँति वैष्णव 'चतुःसम्प्रदाय' में प्रविष्ट होने की इच्छा का परिणाम-मात्र प्रतीत होते हैं। वास्तव में इनका कोई साम्प्रदायिक महत्त्व नहीं है। इस कारण उनका न तो पठन-पाठन हुआ और न उन्हें साम्प्रदायिक मन्तव्यों की स्थापना में किसी भी रूप में स्वीकार किया गया। इस प्रकार अवहेलित होकर वे या तो संदिग्धावस्था में पड़े हैं या केवल शोध का विषय रह गए हैं।

माधुर्य्य भक्ति

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश के माधुर्य्य भक्ति सम्बन्धी तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—राधा सुधानिधि, स्फुट वाणी और हित चौरासी। इन तीनों ग्रन्थों में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का ही वर्णन है। स्थान-स्थान पर सिद्धान्त को स्पष्ट करने की चेष्टा भी लक्षित होती है। किन्तु फिर भी ये ग्रन्थ वर्णनात्मक स्वीकार किये जाएँगे, विवेचनात्मक नहीं। राधावल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने का श्रेय मुख्य रूप से ध्रुवदास को है। इन्होंने अपने 'बयालीस लीला' ग्रन्थ में अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सरलता तथा सफलता से स्पष्ट किया है। अतः हमने इस सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के विवेचन के लिए विशेष रूप से ध्रुवदास की 'बयालीस लीला' का ही आश्रय लिया है। अन्य रसिक भक्तों की वाणियों से भी जहाँ तहाँ सहायता ली गई है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य्य भक्ति को नित्य विहार के रूप में स्वीकार किया गया है और इसी रूप में उसके स्वरूप को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। नित्यविहार के विधायक तत्त्व चार हैं—राधा, कृष्ण, सहचरी और वृन्दावन। ये चारों ही प्रेम रूप हैं, अतः नित्य विहार के विधान में चारों का समान महत्त्व स्वीकार किया गया है।

गौर श्याम सहचरि विपिन सम्पति नित्य विहार।
अंतरंग सो प्रगट हैं हित के नैन निहार॥[1]

स्पष्ट है कि उक्त चार तत्त्वों में से राधा और कृष्ण का सम्बन्ध माधुर्य्य भक्ति के उपास्य तत्त्व से है, वृन्दावन उपासना का अंग है और सहचरी उपासक धर्म है।

उपास्य तत्त्व

गोस्वामी हितहरिवंश की इस पंक्ति 'श्रीवृन्दावन नाथ पट्टमहिषी राधैव

---

१. सुधर्म बोधिनी : लालिलीदास :पृष्ठ २

सेव्या मम' से स्पष्ट सूचित होता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में आनन्दस्वरूपा राधा ही इष्टदेवी एवं आराध्य हैं। श्रीकृष्ण उसी आनन्द शक्ति के पद-किंकर तथा उसी की अनुकम्पा तथा अनुग्रह पर जीवित हैं। फिर भी राधा का अस्तित्व श्रीकृष्ण के साथ रह कर है—अकेले नहीं। क्योंकि राधा आनन्द-रूप हैं—और आनन्द को प्रकाश में लाने वाले अर्थात् अनुभव करने वाले श्रीकृष्ण हैं। अतः दोनों का सम्मिलित रूप ही भक्तों का ध्येय है।

रा अक्षर श्री गौर तन धा अक्षर घनश्याम।
सहज परस्पर आत्म-रति बिवि मिलि राधा नाम॥
गौर देत नित सर्व सुख श्याम रूप ह्वै लेत।
रा दाने धा धारणे राधा नाम समेत॥[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि राधा और कृष्ण केवल लीला के लिए दो विग्रह-धारी हैं, किन्तु सिद्धान्ततः एक हैं। इसी कारण वह सम वय, सम रूप और समान प्रेम वाले हैं, उनका शील, स्वभाव और रुचि भी एक ही है। पर वे प्रेम के प्रकाशन के दिए दो हैं—

एक रंग रुचि एक वय, एकै भाँति सनेह।
एकै सील सुभाव मृदु, रस के हित द्वै देह॥[2]

राधा और कृष्ण की इस अभिन्नता को गोस्वामी हितहरिवंश ने निम्न पद में जल और तरंगों के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है—

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
मोको तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारो भयो चाहे मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्राण हू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसौं हारे।
जै श्री हितहरिवंश हंस हंसनी सांवल गौर,
कहौ कौन करै जलतरंगनि न्यारे॥[3]

राधा : राधावल्लभ सम्प्रदाय की आराध्या राधा मधुर और उज्ज्वल प्रेम की प्राण स्वरूपा, शृंगार लीला की विचित्र कलाओं की परम अवधि,

१. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ २१
२. बयालीस लीला—ध्रुवदास कृत : रति मंजरी लीला : पृष्ठ २२०
३. हित चौरासी : पद संख्या १

भगवान श्रीकृष्ण की आराधनीया कोई अनिर्वचनीय शासनकर्त्री हैं। वे परम सुखमय वपु-धारिणी परा स्वतंत्रा शक्ति हैं, वे श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी हैं।[1] इनके पदारविन्द ब्रह्मा, शंकर आदि के लिए भी दुर्गम हैं, तथापि ये अपनी कृपादृष्टि से निरन्तर प्रेम की वर्षा करने वाली हैं।[2] वे वैदग्ध्य, अनुराग, वात्सल्य, कृपा, लावण्य, अनुपम छवि तथा केलि-विलास की सागर हैं। राधा सर्वांग-सुन्दरी हैं, स्वभाव से कोमल, दयालु और कृपालु हैं। अपने इन्हीं गुणों के कारण ये श्रीकृष्ण को प्रिय हैं। अतः वे सदा रस-शक्ति राधा के कृपा-कटाक्ष के अभिलाषी रहते हैं। राधा-कृपा प्राप्त करने के लिए वे सभी प्रकार के उपाय प्रयोग में लाते हैं। और कहीं-कहीं तो अपनी इष्ट-सिद्धि के लिए प्रिया जी की सखियों से अनुनय विनय करते हैं।[3]

श्रीकृष्ण : इस सम्प्रदाय के 'राधावल्लभ' (श्रीकृष्ण) योगीन्द्रों के लिये भी दुर्गम, ब्रह्मा, रुद्र, शुक, नारद और भीष्म आदि को कठिनता से दृष्टिगोचर होने वाले हैं। किन्तु भक्तों के लिए वे रस-घन तथा मोहन-मूर्ति हैं।[4] वे श्री राधा-हृदय रूप अगाध सरोवर के हंस हैं। इनके हाथों में मधुर-स्वरा मुरली विराजमान् है, सिर पर मयर चन्द्रिका है तथा कानों में प्रमदाओं द्वारा सुरचित सुन्दर कर्ण-भूषण जगमगा रहे हैं।[5] किन्तु जगदीश्वर कृष्ण प्रेम के वश सदा राधा के चरणों में लोटते हैं, उनकी प्रसन्नता के लिये नयनों की पलकें

---

१. प्रेम्ण : सन्मधुरोज्वलस्य हृदयं शृंगारलीलाकला
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुख तनुः शक्तिः स्वतंत्रा परा
श्री वृन्दाविपनाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥ राधासुधानिधि : श्लोक ७८

२. ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह पदारविन्द
श्रीमत्पराग परमाद्भुत वैभवायाः।
सर्वार्थसार रसवर्षिकृपार्द्रदृष्टे—
स्तस्या नमोस्तु वृषभानु-भुवो महिम्ने॥ राधासुधानिधि : श्लोक २

३. यत्किंकरीषु बहुशः खलु काकुवाणी
नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्डमौलेः।...। राधासुधानिधि : श्लोक ७

४. रसघन मोहन मूर्ति, विचित्र केलि-महोत्सवोल्लसितम्।
राधा-चरण विलोडित, रुचिर शिखण्डं हरिं वन्दे।—वही : श्लोक २००

५. रसागाधे राधा हृदि-सरसि हंसः करतले,
लसद्वंशस्त्रोतस्यमृत-गुण-संगः प्रतिपदम्।
चलत्पिच्छोत्तंसः सुरचितवतंसः प्रमदया
स्फुरद्गुंजा-गुच्छः सहि रसिकमौलिर्मिलतु माम्॥ वही : श्लोक २३१

बिछाते हैं और उनके सभी अंगों की यथोचित सेवा करके शान्ति लाभ करते हैं।

जहाँ जहाँ राधा प्यारी धरति चरन पिय
तहाँ तहाँ नैनन के पाँवड़े बनावहीं।
महा प्रेम रंग रंगे तिनही के प्यार पगे
सेवा सब अंगनि की करें सचुपावहीं ॥·····॥[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को सिद्धान्त रूप से कृष्ण की स्वकीया अथवा परकीया नहीं माना गया। गो० हितहरिवंश के विचार में स्वकीया और परकीया दोनों पक्ष राधा के प्रेम के द्योतक नहीं हैं। क्योंकि एक में केवल मिलन है और दूसरे परकीया भाव में केवल विरह। अतः राधा-कृष्ण का सम्बन्ध उन्होंने नित्य विहारी भाव का स्वीकार किया है। और इसी रूप में उनका चित्रण इस सम्प्रदाय के सब रसिक भक्तों ने किया है।

नवल प्रेम सों रंगे दोउ, नित ही नवल किशोर।
होत रहत उतपति प्रलय, नहिं जानत निशि भोर ॥[2]

किन्तु यह केवल सिद्धान्त पक्ष है। वर्णन में राधा-कृष्ण का स्वकीया सम्बन्ध भी इस सम्प्रदाय के आचार्य तथा भक्तों की वाणियों में लक्षित होता है।

खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु ॥[3]

उपासना तत्त्व

आराध्या राधा के चरणों में प्रार्थना करते हुए श्री ध्रुवदास कहते हैं—

रूप की राशि किशोर किशोरी रंगे रस केलि निकुंज बिहारा।
मातें अनंग प्रवीन सबै अंग फूल सरीखहु ते सुकुमारा ॥
बसौ उर नैनन में दिन रैन नशो मन के जिते आहिं बिकारा।
जाँचत बात न और कछु ध्रुव देहु प्रिये रस प्रेम की धारा ॥[4]

इस प्रार्थना में ध्रुवदास ने प्रेम-रस की धारा प्राप्त करने की अभिलाषा प्रकट की है। यह प्रेम-रस की धारा राधा-कृष्ण के निकुंज-विहार के दर्शन

---

१. बयालीस लीला : भजन दुतिय शृंखला : पृष्ठ १०६
२. वही : बावन पुरान भाषा लीला : पृष्ठ ४७
३. हित चौरासी : पद ६२
४. बयालीस लीला : ध्रुवदास : भजन तृतीय शृंखला लीला : पृष्ठ १२१

तथा ध्यान से प्राप्त हो सकती है—ऐसा भी संकेत हमें इस कवित्त में मिलता है। अतः साध्य प्रेम को सम्मुख रखते हुए कहा जा सकता है कि राधा-कृष्ण के रस-विलास का ध्यान एवं चिन्तन राधावल्लभ सम्प्रदाय की उपासना है। मधुर रस पूर्ण राधा-कृष्ण का यह विलास सर्वोपरि है। जिन्हें इसका एक बार भी दर्शन हो गया है वे सदा इसी में तल्लीन रहना चाहते हैं।

सर्वोपरि है मधुर रस, युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिनहिं, मिटत न कबहुँ हुलास॥[1]

नित्य विहार

राधा-कृष्ण का यही मधुररस-विलास सम्प्रदायों में नित्य विहार के नाम से जाना जाता है। नित्य विहार से क्या अभिप्राय है इस पर विचार करते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने कहा है—**'साम्प्रदायिक दृष्टि से 'नित्य विहार' शब्द एक गूढ़ रसलीन तात्त्विक व्यंजना का द्योतन कराने वाला है। उसे अनिर्वचनीय रसदशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य निभृत निकुंज में प्रिया-प्रियतम (राधा-माधव) अविच्छिन्न भाव से—सतत, शाश्वत रति-क्रीड़ा में संलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीड़ा बिना किसी बाह्य या आन्तरिक अन्तराय के अनवरत चलती रहती है।·····इस निकुंज लीला में न तो कुंजांतर गमन सम्भव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान, या स्थूल विरह ही।'**[2] ध्रुवदास के निम्न सवैये से भी नित्य विहार का यही स्वरूप स्पष्ट होता है—

न आदि न अन्त बिहार करें दोउ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
है नई (नई) भाँति, नई छबि कांति नई नवला नव नेह बिहारी॥
रहे मुखचाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी।
रहें इक पास करें मृदु हास सुनो ध्रुव प्रेम अकत्थ कथारी॥[3]

राधा-कृष्ण के इस नित्य विहार का वर्णन गोस्वामी हितहरिवंश तथा उनके अनुयायी रसिक भक्तों ने अनेक पदों में किया है। क्योंकि उनकी दृष्टि में इस नित्य विहार का गान एवं ध्यान ही मधुर प्रेम की प्राप्ति का मात्र साधन है।

---

१. बयालीस लीला : भजनाष्टक लीला : पृष्ठ ६६
२. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' : पृष्ठ २४०।
३. बयालीस लीला : भजन तृतीय शृंखला : पृष्ठ ११४

प्रेम का स्वरूप

नित्य विहार व्यंजित प्रेम बिल्कुल शुद्ध है। क्योंकि राधा और कृष्ण के इस विहार में निजी सुख की भावना का सर्वथा अभाव है। वे विहार करते हैं केवल दूसरे को सुखी करने के लिए।

गौर श्याम शीशीनि में भर्‌यो नेह रस सार।
पिवत पिवावत परस्पर कोऊ न मानत हार॥[1]

अतः स्पष्ट है कि नित्य विहार जनित प्रेम स्वार्थ रहित एवं प्रयोजन रहित है। इसीलिए उसे अखंड, नित्य तथा सदा एक रस कहा गया है।

नित्य नवल मृदु मधुर वर, भीने रङ्ग सुहाग।
जामें नाहिं निमित्त कछु, सो अभंग अनुराग॥[2]

एक बार इस प्रेम की अनुभूति हो जाने पर अन्य सभी स्वाद फीके लगते हैं। अतः प्रेमी सदा इस प्रेम में लीन रहना चाहता है। इस प्रेम में न मिलन होता है, न विछोह, वहाँ तो सदा आनन्द ही आनन्द का अनुभव होता है। मिलन और विछोह के कारण तो प्रेम-रस की अखंडता समाप्त हो जाती है।

जब बिछुरत तब होत दुख मिलतहि हियो सिराइ।
याही में रस द्वै भये, प्रेम कह्यो क्यों जाइ॥[3]

प्रेम के उदय-मात्र से मानसिक भ्रम अथवा संशय नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार माया-मोह आदि से रहित होकर मन बिल्कुल शुद्ध हो जाता है। फिर प्रेमी के बाह्य अंगों में प्रेम के सात्त्विक भाव—पुलक, अश्रु प्रवाह आदि लक्षित होते हैं। इस प्रकार प्रेम-रस सर्वश्रेष्ठ रस सिद्ध होता है। यही प्रेम नित्य विहार का प्रेरक तत्त्व स्वीकार किया गया है—

प्रेम नचावत नचत सब जँह लौं धामी धाम।
सो नाचत हित प्रेम बस सेवक चित्त विश्राम॥[4]

ऐसा ही भाव ध्रुवदास के निम्न कवित्त से निकलता है—

प्रेम के खिलौना दोऊ खेलत हैं प्रेम खेल,
प्रेम फूल फूलनि सों प्रेम सेज रची है।

---

१. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ २३
२. बयालीस लीला : प्रीति चौवनी लीला : पृष्ठ ६३
३. वही : प्रीति चौवनी लीला : पृष्ठ ६४
४. सुधर्म बोधिनी : लाड़िलीदास : पृष्ठ ८

प्रेम ही की चितवनि मुसिकनि प्रेम ही की,
प्रेम-रङ्गी बातें करें प्रेम केलि मची है ॥
प्रेम के तरङ्गनि में प्रीतम में परे हैं दोऊ,
प्रेम प्यार भार प्यारी पिय हिय लची है ।
हित ध्रुव प्रेम भरी प्यारी सखी देखें खरी,
हित चितवनि छवि आनि उर सची है ॥[1]

रसिक भक्तों की यह धारणा है कि राधा-कृष्ण का नित्य विहार केवल नित्य-धाम वृन्दावन में होता है । इसलिए इन भक्तों ने वृन्दावन का अत्यधिक महत्त्व माना है ।

ऐसे रस में दिन (रहें) मगन, नहिं जानत निशि भोर ।
वृन्दावन में प्रेम की, नदी बहै चहुँ ओर ॥[2]

नित्य विहार व्यंजित प्रेम में मिलन और विरह

नित्य विहार के स्वरूप की चर्चा करते हुए हम ऊपर कह आए हैं कि इसमें मिलन की भावना अथवा विरह की भावना का अनुभव नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि राधा और कृष्ण को संसार में अनुभूत स्थूल संयोग और वियोग की अनुभूति नित्य विहार में नहीं होती । क्योंकि उनका यह विहार अलौकिक है, अतः उसे लौकिक संयोग-वियोग की भावना से परे माना गया है । विहार में उन्हें जिस संगोग-वियोग का अनुभव होता है वह है सूक्ष्म मिलन तथा सूक्ष्म विरह । इसका अर्थ यह है कि वे अंग से अंग मिले रहने पर भी यही सोचते हैं कि हमारा मिलन अभी पूर्ण नहीं है—यही अतृप्ति सूक्ष्म विरह है । तात्पर्य यह है कि नित्य विहार में मिलन तो होता है—अतः वहाँ संयोग है, किन्तु उन्हें यही अनुभव होता है कि हम अभी पूर्ण रूप से मिले नहीं हैं, अतः वियोग भी है ।

तन सों तन मन सों जु मन मिले प्राण अरु नैन ।
तीव्र प्रेम को रूप यह तऊ हिये नहि चैन ॥[3]

इस प्रकार नित्य विहार में राधा-कृष्ण मिलन और विरह की अनुभूति एक साथ करते हैं । नित्य विहार में उनकी स्थिति यह होती है—

---

१. बयालीस लीला : भजन तृतीय शृंखला : पृष्ठ १२०
२. वही : वृन्दावन सत लीला : पृष्ठ १६
३. 'गोस्वामी हितहरिवंश : सम्प्रदाय और साहित्य' : गो० ललिताचरण : पृष्ठ ११५ से उद्धत ।

बिरह संजोग छिनहि छिन मांही।
जद्‌पि ग्रींवनि मेले बांही॥
इहि विधि खेलत कलप बिहाने।
परम रसिक कबहू न अघाने॥[1]

क्योंकि ज्यों-ज्यों वे विहार करते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी विहार की अभिलाषा भी बढ़ती जाती है।

ज्यों ज्यों करत विहार दोऊ, बढ़त चाह विलास।
जल पीवत हैं प्यास को सोई जल भयो प्यास॥[2]

नित्य विहार व्यंजित प्रेम इसीलिए पूर्ण है। यहाँ प्रेम के मिलन और विरह दोनों पक्षों की एक साथ अनुभूति होती है। लौकिक प्रेम में हमें प्रेम के केवल एक पक्ष की अनुभूति एक समय होती है, चाहे वह मिलन हो अथवा विरह। महाप्रभु हितहरिवंश ने इस तथ्य को सारस और चकई के कथोपकथन रूप में कही गई कुण्डलियों द्वारा स्पष्ट किया है—जिनकी चर्चा हम पंचम अध्याय में कर आये हैं। इन कुण्डलियों पर टीका करते हुए श्री करपात्री जी कहते हैं—**'सारस पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवा की पत्नी विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग काल में सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वंचित रहती है। परन्तु नित्य-निकुंज में श्री निकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्री ब्रजराज किशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटि गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य-ताप की अनुभूति होती है और साथ ही चकवा की अपेक्षा शतकोटि गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य-तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है।'**[3] नित्य विहार की इस प्रेम-पूर्णता की ओर श्री बलदेव उपाध्याय ने भी अपने ग्रन्थ 'भागवत सम्प्रदाय' में संकेत किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रकरण में इस विषय पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है—**'प्रेम विरहा ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगलकिशोर श्री राधावल्लभ लाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है। परन्तु**

---

१. बयालीस लीला : रहस्य मंजरी लीला : पृष्ठ २०६
२. वही : सुख मंजरी लीला : पृष्ठ २१६
३. 'श्री भगवत्तत्व' : करपात्री जी : पृष्ठ १६१

इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है।'[1]

प्रेम और नेम

अन्य सम्प्रदायों में प्रेम के विधि-निषेध आदि को ही नेम स्वीकार कर रसोपासना में उन्हें त्याज्य माना गया है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में नेम के तीन रूप हैं—विहार परक नेम, साधना परक नेम और जागतिक नेम। इनमें से अन्तिम जागतिक नियम ही सर्वथा त्याज्य है—किन्तु अन्य दो की स्थिति इस सम्प्रदाय में स्वीकार की गई है। विहार परक प्रेम और नेम में क्या अन्तर है, इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए ध्रुवदास जी ने अपनी 'सिद्धांत विचार लीला' में कहा है—**'प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, मधुरता, मादकता, जाको आदि अन्त नाहिं छिन छिन नूतनता स्वाद अरु नेम अनेक भाँति है। कछु इक कहें देखिबो, हँसिबो, बोलिबो मान। निकुंजान्तर किंवा निकट होइ और कोक के विलासादिक सब प्रेम के नेम हैं। जाको आदि अन्त होइ सो सब नेम जानिबो।'**[2]

इससे स्पष्ट है कि विहार में साध्य तत्त्व प्रेम है, किन्तु उसकी प्राप्ति एवं आस्वादन का साधन काम-चेष्टाएँ हैं। और प्रेम की प्राप्ति तक ही इनकी स्थिति है—अतः ये आदि और अन्त से युक्त हैं। इन्ही काम चेष्टाओं को नित्य विहार में नेम कह कर पुकारा गया है। ध्रुवदास की ये पंक्तियाँ इस आशय को और भी पुष्ट करती हैं—**'प्रेम मदन के सिंधु द्वै लाडिली लाल जू के हिये बहत रहत हैं। जब प्रेम रूपी सिंधु के तरङ्ग छावें तब विवस होइ। जब मदन रूपी सिंधु के तरङ्ग छावें तब चैतन्य होहि। बिलास के रङ्ग में परे ऐसे प्रेम नेम ओत प्रोत हैं। प्रेम की क्रिया विवसता नेम की क्रिया सावधानता यातें एक कहिये स्वाद को दोइ।'**[3] इसलिये राधावल्लभ सम्प्रदाय में नेम उसी रूप में ग्राह्य है—जब वह प्रेम की प्राप्ति में साधक हो। जहाँ हम प्रेम को छोड़ कर उसी को साध्य समझ बैठते हैं वहाँ वह काम का रूप ले लेता है।

साधना परक प्रेम और नेम प्रायः विहार परक प्रेम और नेम के समान हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्रथम का सम्बन्ध साधक से है और विहार परक प्रेम और नेम का सम्बन्ध राधा-कृष्ण से है। राधा-कृष्ण के विहार का

---

१. भागवत सम्प्रदाय : पृष्ठ ४४०

२. 'बयालीस लीला'—ध्रुवदास : सिद्धान्त विचार लीला : पृष्ठ ४८

३. 'सिद्धान्त विचार लीला'—ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : पृष्ठ ५४

ध्यान करते समय जब तक साधक सावधानता या चैतन्य की स्थिति में रहता है—तब तक नेम की स्थिति मानी गई है और तदुपरान्त आत्म-विस्मृति की दशा में प्रेम की।

जागतिक प्रेम और नेम इस रस की साधना में सर्वथा हेय अथच त्याज्य माने गये हैं। इसका कारण यह है कि जब तक व्यक्ति सांसारिक प्रेम अथवा नियमों में बंधा है तब तक उसका रस-क्षेत्र में प्रवेश सम्भव नहीं है। इस क्षेत्र में तो जगत् का प्रेम और जगत् का उपहास दोनों छोड़कर व्यास की इस गोपी की भाँति आराध्य से प्रीति करनी चाहिए—

जो भावे सो लोगनि कहन दे।
अवनि पिछोड़ो पाँव न दीजे, न्याव मेटि प्रीति निबहन दे।
हौं जोवन मदमाती सखी री, मेरी छतियाँ पर मोहन रहन दे॥
नव निकुंज पिय अंग संग मिलि, सुरति पुंज रस-सिंधु थहन दे।
या सुख कारन व्यास आस के लोक वेद उपहास सहन दे॥[1]

प्रेम की इस तीव्रता के बिना रस-मार्ग में अग्रसर होना कठिन है। क्योंकि उपास्य के प्रति अनन्यता—इस मार्ग के पथिक का आवश्यक गुण है।

जागतिक नियम के साथ-साथ विधि-विधान भी इस सम्प्रदाय की उपासना में त्याज्य है। यज्ञ, तप, व्रत आदि विधि-विधानों की आवश्यकता तभी तक है जब तक हृदय शुद्ध नहीं हो जाता। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि साधनों से हृदय-घट के परिपक्व हो जाने पर उसमें मधुर-प्रेम स्थिर हो जाता है और फिर तो भक्त उसी प्रेम में मत्त हो जाता है—अन्य साधनों की उसे आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती।

ज्ञान भक्ति वैराग्य सों पात्र बनाइ पकाइ।
तब निश्चल माधुर्य रस रहै तहाँ ठहराइ॥[2]

राधावल्लभ सम्प्रदायी रसिक भक्तों की यह निश्चित धारणा है कि वास्तविक सुख की प्राप्ति प्रतिक्षण श्यामा-श्याम की लीलाओं के स्मरण एवं ध्यान से हो सकती है—अन्य किसी साधन से नहीं। क्योंकि धर्म, मोक्ष आदि को तो रस-मार्ग में कोई पूछता ही नहीं, फिर इनकी प्राप्ति के साधनों की तो चर्चा ही व्यर्थ है।

---

१. व्यास-वाणी : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ५१७
२. सुधर्म बोधिनी : लाड़िलीदास : पृष्ठ २६

व्रत तप निगम नेम यम संजम करहु कलेश कोटि किन भारी।
इनमें पहुँच नाहिं काहू की परे रहत ज्यों द्वार भिखारी॥
जोग यज्ञ फल मेंड करत हैं तीरथ सब कर लीने झारी।
धर्म मोक्ष कोउ पूछत नाहीं इन मग सिद्धें कौन विचारी॥[1]

इसीलिए आचार्य हित हरिवंश की रस-रीति में इस विधि-मर्यादा को उपासना से दूर रखा गया है।

निगम नीर मिलि यक भयो, भजन दूध सम सेत।
हरिबंस हंस न्यारो कियो, प्रगट जगत के हेत॥[2]

प्रेम और काम

विहार परक प्रेम और नेम के वर्णन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि राधा-कृष्ण के विहार और लौकिक रति में बहुत अन्तर है। यह सत्य है कि राधा-कृष्ण के नित्य विहार के वर्णन में प्रायः उन्हीं हाव-भावों का उल्लेख किया गया है, जो लौकिक रीति में लक्षित होते हैं।[3] तथापि राधा-कृष्ण के विहार का प्रेरक तथा साध्य तत्त्व प्रेम है और लौकिक रति का प्रेरक तथा साध्य तत्त्व काम (निजी सुख की भावना) है। जहाँ नायक और नायिका—दोनों अपने सुख के लिए प्रयत्नशील हों—वहाँ प्रेम कैसे सम्भव है। वहाँ तो सुख भी दो हैं, रुचि भी दो हैं और मन भी दो हैं। प्रेम में द्वित्व नहीं एकत्व है। द्वित्व में तो भेद की सम्भावना अभेद से कहीं अधिक है। अतः प्रेम सी तीव्रता तथा अखंडता द्वित्व में कदापि सम्भव नहीं है।[4] प्रेम और काम के अन्तर को लाड़िलीदास ने 'सुधर्म-बोधिनी' में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जहाँ काम तहाँ नेह नहिं नेह तहाँ नहिं काम।
काम सर्व-दुख मूल है, नेह सर्व-सुख धाम॥

---

१. बयालीस लीला : जीव दशा लीला : पृष्ठ ३
२. वही : मन शिक्षा लीला : पृष्ठ ८
३. अनंग जय मंगल ध्वनित किंकिणी डिण्डिम।
स्तनादि वर ताडनैर्नखर-दन्त-घातै युतः॥
अहो चतुर नागरी नव किशोरयोर्मंजुले :
निकुंज-निलयाजिरे रतिरणोत्सवे जृम्भते॥—राधासुधानिधि : श्लोक २२४
४. बयालीस लीला—ध्रुवदास : सिद्धान्त विचार लीला : पृष्ठ ५१

गुणासक्ति सों कामसुख चिदासक्ति सों नेह ।
चिदासक्त तत्सुख सुखी, गुणासक्त सुख देह ।।[1]

प्रेम के क्षेत्र में तो प्रवेश तभी होता है, जब साधक निज-सुख-रूप विषयों को जलाकर भस्म कर देता है—

विषय वासना जारिकें झारि उड़ावे खेह ।
मारग रसिक नरेश के तब ढंग लागे देह ।।[2]

नित्य विहार में काम-केलि का उपयोग केवल इतना है कि इसके द्वारा प्रेम आस्वाद्य बन जाता है।[3] स्वयं ध्रुवदास जी ने एक स्थान पर कहा है कि प्रेम-तृषा की बेलि को पल्लवित तथा पुष्पित करने के लिए मदन-केलि जल के समान है। इसलिए परम रसिक नागर नवलकिशोर इस जल का पान करके प्रेम-तृषा की बेलि को सदा हरी बनाए रखते हैं—

प्रेम तृषा की बेलि कों केलि मदन रस आहि ।
परम रसिक नागर नवल पीवत जीवत ताहि ।।[4]

प्रेम की साधना

जिस नित्य विहार व्यंजित प्रेम की चर्चा ऊपर की गई है वह सहज प्राप्य नहीं है। इस प्रेम पंथ पर चलना अत्यधिक कठिन है। जरा सी असावधानी से साधक का पतन सम्भव है, अतः कोई विरला ही इस पथ पर चलकर सफलता प्राप्त कर सकता है।

चढ़िकै मंन तुरंग पं, चलिबो पावक माहिं ।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं ।।[5]

इस प्रेम की प्राप्ति का एक मात्र उपाय यही है कि अपना सर्वस्व इष्ट के चरणों में अर्पण कर उनका भजन किया जाय। स्वयं श्रीकृष्ण जो सकल लोक चूड़ामणि हैं राधा की प्रसन्नता के लिए सब कुछ करते हैं। इसीलिए वे रस के मात्र ज्ञाता स्वीकार किये गये हैं—

---

१. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ ४३
२. वही : पृष्ठ २
३. 'श्री हितहरिवंश गोस्वामी : सम्प्रदाय और साहित्य'—गो० ललिताचरण पृष्ठ १०४
४. भजन कुण्डलियाँ
५. बयालीस लीला : स्याल हुल्लास लीला : पृष्ठ २६

प्रीति की रीति रंगीलोई जाने।
जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपो माने ॥'''।[1]

प्रेम के क्षेत्र का यह विचित्र नियम है कि प्रेमी में जितनी अधिक दीनता होगी वह उतना ही उच्चकोटि का प्रेमी होगा। अतः प्रेम के साधक में दीनता का होना अत्यधिक आवश्यक है और यह केवल आत्म-समर्पण द्वारा सम्भव है।

उलटी चाल है प्रेम की, को समुझै बिन लाल।
ज्यों ज्यों हारे अपनपो, त्यों त्यों बढ़े विशाल ॥[2]

इसलिए रसोपासक को चाहिए कि वह आराध्या राधा के चरणों में सर्वस्व समर्पित कर उनका भजन करे। इस प्रकार के भजन के साथ राधा-कृपा के लिए राधावल्लभ सम्प्रदाय में गो० हितहरिवंश के चरणों में दृढ़ निष्ठा होना भी आवश्यक माना गया है। क्योंकि इस सम्प्रदाय के रसिकों की धारणा है कि हित महाप्रभु के प्रताप से सभी कुछ सुलभ हो जाता है।

भजि रे मन दिन रैन श्री हरिवंश जु पद कमल।
देखो भरि जुग नैन तेहि प्रताप ते जुगल छबि ॥
अगम ते अगम अगाध अति पहुँचत नहिं मन वेद।
श्री हरिवंश प्रताप बल, पावत सुगम सुभेद ॥[3]

राधा-कृपा तथा प्रेम प्राप्त करने के लिए साधक को किस प्रकार का भजन करना चाहिए इसकी चर्चा करते हुए ध्रुवदास जी ने अपनी 'सिद्धान्त विचार लीला' में कहा है—**'सर्वोपरि साधन यह है जो रसिक भक्त हैं तिनके चरण रज बन्दे। तिन सो मिलि किशोरी किशोर जू के रस की बातें कहै सुनै निशि दिन। अरु पल पल उनकी माधुरी विचारत रहे। यह अभ्यास छाँड़े नहीं आलस न करे। तो रसिक भक्तिनि को संग ऐसो है आवश्यक प्रेम को अंकुर उर में उपजै। जो कुसंग पशु तें बचे जब ताई अंकुर रहे। तब ताई भजन जल सो सींच्यो करै बारम्बार। अरु सतसंग की बारि दृढ़ के करै तो प्रेम की बेलि हिये में बैठे।'** स्पष्ट है कि भजन में सत्संग तथा राधा-कृष्ण लीला-स्मरण और ध्यान की महिमा अत्यधिक है। नाम जप का भी इस सम्प्रदाय में बहुत महत्त्व है। सब साधनों से निराश व्यक्ति के लिए नाम ही मात्र आश्रय

१. हित चौरासी : पद ४१
२. बयालीस लीला : सभामंडल लीला : पृष्ठ १५८
३. वही : रसानन्द लीला : पृष्ठ २८२

है। नाम-जप से उसके सभी अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं—

सब साधन करि हीन जो दुखी दीन बिल्लाइ।
ताके सब कारज सहज नामहिं लेत बनाइ॥[1]

इन सभी साधनों के साथ-साथ वृन्दावन-वास प्रेम-साधना का आवश्यक अंग है। वृन्दावन उसी प्रकार नित्य एवं प्रेममय है जिस प्रकार राधा-कृष्ण तथा उनका नित्यविहार। नित्यविहार की उपासना में वृन्दावन के महत्त्व को स्वीकार करते हुए श्री व्यास जी ने उसे अपना सर्वस्व कहा है—

हमारें वृन्दावन व्यौहार।
सम्पति गति वृन्दावन मेरें करम धर्म करतार॥
स्वारथ परमारथ वृन्दावन गथ पथ विधि व्यौपार।
वृन्दाविपिन गोत, कुल मेरें कुल विद्या आचार॥
रूप शील वृन्दावन मेरे गुन गारो सिंगार।
वर्ष, मास, रितु, पक्ष, ऐन, जुग, कल्प सबै तिथि बार॥
फागु, दिवारी, परब, पाखन वृन्दावन त्यौंहार।
... ...
श्रीराधा ललितादिक मेरें जीवनि प्राण अधार।
सर्वसु व्यासदास को वन है वृन्दावनहि अधार॥[2]

साराश यह है कि साधक को प्रेम की प्राप्ति के लिये वृन्दावन-वास कर रसिक-भक्तों का संग करना चाहिए। इस सत्संग से उसे राधा-कृष्ण की रस-लीलाओं को श्रवण करने का अवसर प्राप्त होगा और धीरे-धीरे उनमें उसकी रुचि बढ़ती जाएगी। यही रुचि प्रेम का अंकुर है जिसे साधक को नाम-जप, राधा-कृष्ण लीला-स्मरण, ध्यान आदि के द्वारा निरन्तर पुष्ट करना चाहिए। किन्तु इन सभी के साथ उसे हित-हरिवंश और राधा के चरणों में पूर्ण निष्ठा तथा राधा-कृपा में पूर्ण विश्वास होना चाहिए। तभी वह विघ्न-बाधाओं से निश्चिन्त हो सकता है।

काहू के बल भजन को, काहू के आचार।
व्यास भरोसो कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥[3]

प्रेम की प्राप्ति पर साधक की दशा ही बदल जाती है। वह विधि-

१. सुधर्म बोधिनी : लाड़िलीदास : पृष्ठ ३५
२. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ ७३
३. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १८२

विधानों तथा जागतिक नियमों से ऊपर उठ जाता है और सदा राधा-कृष्ण के प्रेम-रस में लीन रहता है। साधक की इस दशा का वर्णन करते हुए ध्रुवदास कहते हैं—

सुन सखी दसा होत जब प्रेम की।
ज्ञान कर्म विधि वैभवता सब नहिं ठहरात व्रत नेम की॥
रहत अधार ढरत नैननि जल मिटत सकल चंचलता मन की।
परत चित्त आनन्द सिन्धु में लजि तजि जात लाज गुरु जन की॥
निद्रा आदि लगत सब नीरस घटत विषय तृष्णा सब घट की।
रहत मगन औरे रस सजनी जब एही दोऊ अंखियाँ अटकी॥
रुचत न रसन स्वाद षट रस के अरु कछु होत छीन गति तन की।
हित ध्रुव रहत एक सुख नैननि छिन छिन चोंप युगल दरसन की॥[1]

राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ

राधावल्लभ सम्प्रदाय के रसिक भक्तों ने अपने उपास्य राधा-कृष्ण की संयोग तथा वियोग-सूचक सभी लीलाओं का गान किया है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सिद्धान्ततः राधा-कृष्ण नित्य विहारी है—अतः वे संयोग में ही वियोग की अनुभूति करते हैं। किन्तु यह केवल सिद्धान्त-पक्ष है। लीला-वर्णन में जिस प्रकार भक्तों ने उनकी होरी, द्यूत-क्रीड़ा, झूलन, रास, कुंज-विहार आदि संयोग की लीलाओं का वर्णन सरस भाषा में किया है उसी प्रकार पूर्वराग, मान आदि वियोग-परक लीलाओं का भी। हाँ, यह सत्य है कि इस सम्प्रदाय की वाणियों में वल्लभ-सम्प्रदाय की भाँति प्रवास-जनित विरह का वर्णन बिल्कुल नहीं मिलता। रसिक भक्त के लिए हित महाप्रभु के विहार-सूचक तथा पूर्वराग-सूचक निम्न दोनों पद समान रूप से रसप्रद हैं अथच ध्येय हैं—

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि,
श्याम श्यामा मिले शरद की जामिनी।
हृदै अति फूल सम तूल पिय नागरी,
करिनी कर मत्त मनों विविध गुन रामिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेश बस,
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी।

१. पद्यावली : ध्रुवदास : पृष्ठ ४०

जै श्री हित हरिवंश सुनि लावन्य भिदे,
प्रिया अति सूर सुख सुरत-संग्रामिनी ॥[1]

तथा—

नन्द के लाल हर्‌यो मन मोर ।
हौं मोतिन लर पोवति कांकर डारि गयो सखि भोर ॥
बंक बिलोकनि चाल छबीली रसिक शिरोमणि नन्द किशोर ।
कहि कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर ॥
इंदु गोविन्द बदन के कारन चितवन कों भये नैन चकोर ।
जै श्री हितहरिवंश रसिक रस जुवती तू लै मिलि सखी प्राण अकोर ॥[2]

रसिक भक्तों ने इन लीलाओं को अधिक सरस बनाने के लिए वन्दावन की शोभा, वसन्त, वर्षा आदि ऋतुओं का वर्णन भी अपने कई पदों में किया है ।

उपासक तत्त्व

इस सम्प्रदाय में उपासक के लिए रसिक शब्द का व्यवहार किया जाता है । रसिक भक्त की सबसे प्रमुख विशेषता है—इष्ट के प्रति अनन्यता और दृढ़ निष्ठा । अनन्यता एवं निष्ठा का स्वरूप लाड़िलीदास के इस दोहे से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

जाके दास कहाइये ताको लीजै नाम ।
जूठनि ताकी पाइयै वसिये ताके धाम ॥[3]

स्पष्ट है कि जब साधक अपने को अपने इष्ट की इच्छा पर छोड़ देता है तभी वह अनन्य भक्त कहलाता है । इस प्रकार की अनन्यता आ जाने पर ही इष्ट, गुरु, धर्मी और धाम उपासक पर कृपा करते हैं । आचार्य हित हरिवंश ने अपने ग्रन्थों में इष्ट के प्रति अनन्यता एवं दृढ़ निष्ठा का कई स्थलों पर वर्णन किया है । राधा-करों की स्पर्श की हुई पल्लव-वल्लरी से मण्डित, श्री राधा पदांकों से सुशोभित, मनोहर स्थल-युक्त एवं श्री राधा यशोगान से मुखर मत्त-खगावली-सेवित श्री राधा कुंज-केलि कानन में अपने मन को रमण के

१. हित चौरासी : पद ४६
२. हित चौरासी : पद १३
३. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ ४१

लिए प्रेरणा देना'—इष्ट के प्रति अनन्यता का सूचक है। कर्मवश नरक अथवा स्वर्ग में जाकर भी 'राधिका-निकुंज-मण्डली' को अपने हृदय में स्थान देना[२] भक्त की एकान्त निष्ठा ही तो है। और यह दोहा तो इस भाव का प्रबल पोशक है—

रसना कटो जु अनरटो निरखि अनफुटो नैन।
श्रवण फुटो जो अनसुनो, बिन राधा यश बैन॥[३]

इस प्रकार के अनन्य व्रत-व्रती रसिक के स्वरूप की चर्चा करते हुए ध्रुवदास जी ने अपनी 'सिद्धान्त विचार लीला' में कहा है—**'छाँडि रसिक रसिकनी जू के प्रेम रस विहार बिना और बात कछू रुचत नाहिं। तिनकी दृष्टि में और रस कछु न आवे। तेहि रस के बल सब ते बेपरवाह रहत हैं। ·····अनन्य याको कहिये छाँडि अपनो इष्ट और न जाने न मन चले जो चले तो अनन्यता नाहीं। रसिक ताको कहिये जो रस को सार गहे।'**[४] इस कथन से भी उपासक की अनन्यता पर उचित प्रकाश पडता है।

रसिकों की दूसरी विशेषता 'तत्सुखी भाव' है। वास्तव में मनचाही वस्तु के प्राप्त हो जाने पर सुखी होना जीव-मात्र का धर्म है, किन्तु प्रिया-प्रियतम के सुख में ही सुखी रहने वाला भक्त सच्चा प्रेमी है।

जाको जो मनभावतो, मिलें सुखी सब कोय।
बिबि मिलाप तत्सुख सुखी, नेह कहावे सोय॥[५]

ये रसिक भक्त युगल छवि में उसी प्रकार आसक्त रहते हैं, जिस प्रकार पिपीलिका गुड़ में। किन्तु इनकी यह आसक्ति सर्वथा निष्काम होती है। इसी दशा को प्राप्त रसिक भक्त महान हैं। यह दशा गुरु-कृपा और भजनाधिक्य के प्रभाव से सुलभ होती है। और इस दशा के प्राप्त हो जाने पर

---

१. राधाकरावचित पल्लव वल्लरी।
राधा पदांक विलसन्मधुरस्थलीके
राधायशोमुखरमत्त खगावलीके
राधाविहारविपिने रमतां मनो मे॥ —राधासुधानिधि : श्लोक १३

२. यत्र-यत्र मम जन्म कर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथवा।
राधिका-रति निकुंज-मण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥
—वही : श्लोक २६७

३ स्फुट वाणी : सिद्धान्त के चार दोहे : दोहा ४

४ सिद्धान्त विचार लीला : पृष्ठ ६०

५. सुधर्म बोधिनी : लाड़िलीदास : पृष्ठ १२

भक्त को किसी प्रकार के बाह्य विधि-विधान की आवश्यकता नहीं रहती। राधा-कृष्ण के प्रेम में सहायक पदार्थ ही उसके लिए सब कुछ हैं। व्यास जी के निम्न पद से रसिक का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानो खेरो, ब्रजवासिन सों पांति॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला, शिक्षा सिखंडि, हरि-मन्दिर भाल।
हरिगुण नाम वेद धुनि सुनियत मूंज पखावज, कुस करताल॥
सखा जमुना, हरि लीला षट्कर्म, प्रसाद प्रान, धन रास।
सेवा विधि-निषेध जड़ संगति, वृत्ति सदा वृन्दावन वास॥
स्मृति भागवत, कृष्ण नाम सन्ध्या, तर्पन गायत्री जाप।
वंशी रिषि, जजमान कल्पतरु, व्यास न देत अशीश सराप॥[1]

सखी भाव

इस प्रकार के रसिक भक्तों का मात्र अभीष्ट राधा-कृष्ण की सेवा करना है। क्योंकि इस प्रकार सेवा करते हुए उन्हें उपास्य युगल की विहार-लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते हैं—और इस प्रकार उनका जीवन सफल हो जाता है।

गो० हितहरिवंश ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि 'हमारा मात्र साध्य—राधा का कैंकर्य है। इसके अतिरिक्त धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस फल चतुष्टय से हमारा कोई प्रयोजन नहीं और न ही ईश्वर की एकान्त भक्ति हमारा अभीष्ट है।'[2] आगे वह कहते है कि 'यदि किसी प्रकार ब्रजनागरी श्रेष्ठ वृषभानुजा का एकान्त दास्य हमें प्राप्त हो जाए तो फिर धर्म और ब्रह्मा, शिव आदि देवताओं से हमारा क्या प्रयोजन। इतना ही नहीं श्याम सुन्दर के मिलन-यत्नों से भी हमारा क्या प्रयोजन।'[3]

---

१. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ ७५

२. धर्मार्थं चतुष्टयं विजयतां किं तद्वृथा वार्तया
सैकान्तेश्वर भक्तियोग पदवी त्वारोपिता मूर्द्धनि।
यो वृन्दावन सीम्नि कश्चन घनाश्चर्यः किशोरीमणि
स्तत्कैंकर्य्यं रसामृतादिह परं चित्ते न मे रोचते॥ —राधासुधानिधि : श्लोक ७७

३. रहो दास्यं तस्या किमपि वृषभानोर्ब्रजवरी
यसः पुंच्याः पूर्णं प्रणय रस मूर्तेर्यदि लभे।
तदा नः किं धर्मः किमु सुरगणैः किंच विधिना,
किमीशेन श्याम प्रियमिलन-यत्नैरपि च किम्॥ —राधासुधानिधि : श्लोक ११५

राधा का यह दास्य केवल सखियों को सुलभ है। अतः प्रत्येक रसिक भक्त सखी भाव से राधा की सेवा में सदा उपस्थित रहना चाहता है।

तिय के तन को भाव धरि, सेवा हित शृंगार।
युगल महल की टहल को तब पावे अधिकार॥[1]

गो० हितहरिवंश ने सखी की सेवा विभिन्न प्रकार की मानी है। उनके अनुसार कभी सखी काम-केलि की उत्कण्ठा से भरकर संकेत-कुंज की ओर जाती हुई राधा के पीछे संकेत-कुंज का लक्ष्य कराती हुई जाती है। कभी विहार के उपयुक्त चन्दन, गन्ध, परिमल, पुष्पमाला आदि दिव्य सामग्री लेकर राधा का साथ देती है।[2] कभी वह राधा का शृँगार करने की अभिलाषा प्रकट करती है और कभी वह निकुंज-भवन का मार्जन करने वाली परिचारिका बन जाती है।[3] तात्पर्य यह है कि राधा-कृष्ण की लीलाओं के अनुकूल सभी प्रकार की उपयुक्त सामग्री सजा कर उन लीलाओं के विधान में सहयोग देना सखी भाव परायण रसिक भक्त की सेवा है।

सखी भाव से राधा-कृष्ण की परिचर्य्या करती हुई सखियाँ सदा उनकी रुचि को सम्मुख रखती हैं।

सखी सबै सेवा करैं, जिनके प्रेम अपार।
जैसी रुचि है दुहुँनि कि तैसे करत सिंगार॥[4]

इन सखियों का सदा यही प्रयत्न रहा है कि किसी प्रकार प्रिया-प्रियतम प्रसन्न रहें--क्योंकि उनके सुख में ही इनका सुख निहित है। अतः नृत्य-गान आदि जो कुछ भी गुण इनके पास हैं उन्हें प्रेम से सिक्त करके ये युगल की सेवा में प्रस्तुत कर देती हैं।

अपनो अपनो गुण जितो हित के रस सों सानि।
ते सब आगे दुहुँनि के, प्रगट करत हैं जानि॥[5]

---

१. बयालीस लीला : भजन सत लीला : पृष्ठ ७५
२. संकेत कुंजमनुकुंजर मन्द गामि–
न्यादाय दिव्य मृदुचन्दन गन्ध माल्यम्।
त्वां कामकेलि रभसेन कदा चलन्तीं
राधेनुयामि पदवीमुपदर्शयन्ती॥ —राधासुधनिधि : श्लोक २२
३. पादस्पर्श रसोत्सवं, प्रणतिभिर्गोविन्दमिन्दीवर
श्यामं प्रार्थयितुं सुमंजुल रहः कुंजाश्च संमार्जितुम्।...॥ वही श्लोक ६०
४. बयालीस लीला : रंग हुल्लास लीला : पृष्ठ २४६
५. बयालीस लीला : सभा मंडल लीला : पृष्ठ १४६

इस परिचर्य्या के फलस्वरूप वे चाहती कुछ नहीं है, किन्तु राधा के बहुत आग्रह करने पर यही अभिलाषा प्रगट करती हैं—'हे श्री राधिके ! किसी आभ्यन्तर कुंज-भवन में आप अपने प्रियतम के साथ किसी अनिर्वचनीय रसोत्सव में संलग्न हों, जिससे भूषणध्वनि मिश्रित आपके मधुर आलाप का स्वर सुनाई दे रहा हो। मैं आपकी एकान्त परिचारिका होकर कुंज-द्वार में स्थित होकर उसे सुनूँ और उसे सुनते ही प्रेम-विह्वल होकर रस-सरोवर में डूब जाऊँ।'[1] इस उत्सव को देखने के उपरान्त सखियों की क्या दशा होती है—इसका परिचय हमें हित महाप्रभु की निम्न पंक्तियों से मिलता है—

जै श्री हितहरिवंश रसिक ललितादिक लता-भवन रंध्रनि अवलोकत।
अनुपम सुख भर भरित विवस अंसु, आनन्द वारि कण्ठ दृग रोकत।[2]

सखी भाव सभी साधकों को सहज प्राप्त नहीं हो जाता। इस भाव की प्राप्ति के लिए साधक को जिन साधनों का आश्रय लेना पड़ता है उनका संक्षेप में उल्लेख हित महाप्रभु ने निम्न दोहों में किया है—

सब सों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
श्री राधावल्लभ लाल को, हृदय ध्यान मुख नाम॥
तनहि राखि सतसंग में, मनहिं प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश हित, कृष्ण कल्प तरु सेव॥[3]

इन सिद्धान्तों के पालन के लिए पूर्ण वैराग्य की आवश्यकता है। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में शारीरिक वैराग्य की अपेक्षा मानसिक वैराग्य पर अधिक बल दिया गया है स्वयं सम्प्रदाय संस्थापक आचार्य हितहरिवंश गृहस्थी थे और आज भी नाद का जितना महत्त्व है उतना ही बिन्द का (अर्थात् शिष्यों और वंशजों का समान महत्त्व है)।

गौर श्याम सहचरि विपिन यह धन व्यास कुमार।
या धन के दाता धनी बिन्द नाद परिवार॥[4]

---

१. कुंजान्तरे किमपि जात-रसोत्सवाया:
श्रुत्वा तदालपित सिंजित मिश्रितानि।
श्री राधिके तव रह: परिचारिकाहं
द्वारस्थिता रस-ह्रदे पतिता कदा स्याम्॥ —राधासुधानिधि : श्लोक ४७
२. हित चौरासी : पद ७२
३. स्फुट वाणी : सिद्धान्त के चार दोहे
४. सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ ४१

तथापि मानसिक वैराग्य के साथ शारीरिक विरक्तता की अभिलाषा इस सम्प्रदाय के कतिपय भक्तों ने प्रकट की है—

ऐसो मन कब करिहौ हरि मेरौ।
कर करवा कामरि कान्धे परि कुंजनि मांझ बसेरो॥
ब्रजबासिन के टूक भूख में घर घर छांछ महेरो।
छुधा लगे जब मांग खाउँगी गनों न साँझ सवेरो॥
रास विलास वृत्ति करि पाऊँ मेरे खूंट न खेरो।
व्यास विदेही वृन्दावन में हरि भक्तन को चेरो॥[1]

भक्ति के बाह्य-विधान

राधावल्लभ सम्प्रदाय में उपासना की आन्तरिक-रीति—ध्यान-धारणा, नाम-जप, लीला-गान आदि के अतिरिक्त बाह्य-पूजा को भी उचित स्थान दिया गया है। बाह्य-पूजा पद्धतियाँ अन्य सम्प्रदायों से विशेष हैं। अपनी उत्कृष्टता के कारण ये इतनी सर्वप्रिय हुई कि अन्य सम्प्रदायों में भी इनका प्रचलन हो गया है। बाह्य-पूजा विधान में प्रमुख गद्दी-पूजा की प्रथा है। गद्दी-पूजा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने अपनी पुस्तक 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : 'सिद्धान्त और साहित्य' में गद्दी पूजा के चार प्रयोजनों का उल्लेख किया है[2]—

(१) श्री हरिवंश जी के मतानुसार राधा का स्वरूप अनिर्वचनीय जैसा है, निर्गुण निराकार न होते हुए भी उनकी प्रतिमा में उन समस्त गुणों का आधान कदाचित् सम्भव न हो पाता, जो उनमें स्वीकार किये जाते हैं। अतः राधा के मूर्त्त रूप को प्रस्तुत न करके केवल सांकेतिक शैली से ही उनके ध्यान कराने की यह नूतन प्रक्रिया हो सकती है।

(२) राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्थान गुरु का भी है, गुरु की भावना करने के लिये उनकी गद्दी में पूज्य बुद्धि रखना भी एक कारण बताया जाता है। गुरुभाव ही गद्दी स्थापना का कारण हो सकता है।

(३) राधा स्वयं श्रीकृष्ण द्वारा आराध्या हैं, अतः जागतिक समाज को

---

१. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ ६५
२. पृष्ठ संख्या २५३-५८

श्रीकृष्ण के समान आराधक बनाने के निमित्त प्रेरणा देना भी गद्दी-सेवा का प्रयोजन हो सकता है

(४) राधा-कृष्ण अहर्निश निकुंजलीला परायण नित्य विहार में रत रहते हैं, अतः राधा को मूर्त्त रूप में विहार दशा में प्रकट करना समीचीन प्रतीत नहीं होता। अतः गद्दी-सेवा द्वारा भक्त के समक्ष विहारलीन राधा की मानस-भावना प्रस्तुत की जाती है, प्रत्यक्ष विग्रह प्रस्तुत नहीं किया जाता।

गद्दी-पूजा के इन प्रयोजनों को उचित महत्त्व देते हुए भी उसके रहस्य पर कुछ और विचार करना हम उचित समझते हैं। ऊपर इस सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए हमने स्थान-स्थान पर इस बात का संकेत किया है कि इस सम्प्रदाय की उपासना प्रेम की उपासना है। लाल और लाड़िली सिद्धान्ततः एक हैं, किन्तु लीला के लिए प्रेम (प्रेम प्रकाशनार्थ) उन्होंने दो देह—विग्रह धारण किये है। वृन्दावन का महत्त्व प्रेम-भूमि के रूप में है और सहचरी के विषय में तो स्पष्ट कहा गया है— **'अष्ट सखी मनो मूरत हित की।'**[1] अतः जिस चतुर्व्यूह के आधार पर इस सम्प्रदाय में नित्य विहार की स्थिति मानी गई है, वह प्रेम-रूप है।

नेह नगर वृन्दावन धाम।
नेही अलिगन श्यामा श्याम॥
सहज परस्पर हित निष्काम।
रति रस विलसत आठौ याम॥[2]

इस सम्प्रदाय में राधा को इसी प्रेम का प्रतीक स्वीकार किया गया है। स्वयं आचार्य हितहरिवंश को प्रेम रूप मानने के कारण श्रीराधा से इनका अभेद स्थापित किया गया है। इस सम्प्रदाय के उपास्य राधावल्लभ हैं—कृष्ण नहीं। कृष्ण का महत्त्व केवल राधावल्लभ के रूप में है। और इसी रूप में वे प्रेम-मूर्ति राधा का उपभोग कर सकते हैं। प्रेम के विषय में श्री व्यास जी का यह कथन अवश्य विचारणीय है—

प्रेम अतनु या जगत् में, जानें विरला कोइ।
व्यास सुतनु क्यों परति है, पचि हार्‌यो जग रोइ॥[3]

---

१. ध्रुवदास कृत बयालीस लीला : रसमुक्तावली लीला : पृष्ठ १६४
२ सुधर्म बोधिनी : पृष्ठ : ५२
३. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १९०

स्पष्ट है कि इन भक्तों के अनुसार प्रेम 'अतनु' है—और इसलिये अनिर्वचनीय है। क्योंकि प्रेम को जानकर साधक स्वयं 'अतनु' अर्थात् आत्म-सुध विस्मृत हो जाता है। उसकी स्थिति 'गूँगे का सा गुड़' के सदृश हो जाती है, अतः उसका वर्णन करना उसके लिये सम्भव नहीं। किन्तु भक्ति में उपासना के लिए किसी प्रतीक की आवश्यकता होती है। अतः गद्दी-स्थापना उसी प्रतीक को लक्ष्य में रखकर हुई—ऐसा हमारा विचार है। राधावल्लभ स्वयं अपनी मनुहारों और चाटूक्तियों के द्वारा अमूर्त प्रेम को मूर्त रूप देते हैं—अर्थात् उसे आस्वाद्य बनाते हैं। इस प्रेम-प्रार्थी के रूप में ही वह भक्तों को दर्शन देते हैं। गद्दी-पूजा की यथार्थ महत्ता इसी तथ्य को सम्मुख रखकर आंकी जा सकती है।

गद्दी सेवा के अतिरिक्त नाम सेवा पद्धति इस सम्प्रदाय की अन्य विशेषता है। इसके अनुसार किसी शिला पर राधा नाम अंकित करके उसकी राधा-रूप में सेवा की जाती है। डा० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार रासलीला का प्रवर्तन भी सर्वप्रथम इसी सम्प्रदाय में हुआ।[1] इनके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों की भाँति समाज, साँझी और अष्टयाम सेवा[2] का प्रचलन इस सम्प्रदाय में भी है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है: इस सम्प्रदाय में आराध्या राधा स्वीकार की गई है। ये ही परम शक्ति, आनन्द-रूपिणी और श्रीकृष्ण द्वारा वन्दित हैं। इनका रूप प्रेममय है। वे भक्तों के हित के लिये राधावल्लभ (श्रीकृष्ण) के साथ विलास करके अपने प्रेम का प्रकाश करती हैं। इनका यह विलास नित्य होने के कारण नित्य विहार कहा जाता है। इस सम्प्रदाय की उपासना इसी नित्य विहार का ध्यान तथा चिन्तन है। जिससे भक्त को मधुर प्रेम का आस्वादन होता है। इस सम्प्रदाय के प्रत्येक भक्त की अभिलाषा राधा-कृष्ण के नित्य विहार का प्रत्यक्ष दर्शन कर उसी के आनन्द में विभोर हो जाने की होती है। इसकी पूर्ति के लिए वह सखी भाव से राधा-कृष्ण की सब प्रकार की सेवा करता है और नित्य विहार के विधान में सहयोग देता है। यही सखी भाव

२. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' : पृष्ठ २६०

३. अष्टयाम-सेवा इस प्रकार है—१-मंगला, २-शृंगार, ३-राजभोग, ४. उत्थापन, ५-संध्या, ६-शयन, ७-शैया समय। इनके विशेष परिचय के लिए देखिए डा० विजयेन्द्र स्नातक की पुस्तक 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' पृष्ठ २५५-६०

इस सम्प्रदाय के भक्तों का उपासक धर्म है। स्पष्ट है कि नित्य-विहार की उपासना में राधावल्लभ सम्प्रदाय का विशेष महत्त्व है। इस प्रकार की उपासना हमें केवल ब्रजमण्डल के हरिदासी सम्प्रदाय में दृष्टिगत होती है। किन्तु नित्य विहार के स्वरूप तथा रसोपासना के सिद्धान्तों का जितना विशद विवेचन इस सम्प्रदाय के आचार्य तथा रसिक-भक्तों ने किया है उतना हरिदासी सम्प्रदाय में नहीं हो पाया। फिर भी दोनों का अपना अपना महत्त्व है।

श्री हितहरिवंश

जीवन-परिचय

राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश का जन्म मथुरा मंडलान्तर्गत बाद ग्राम में हुआ। इनका जन्म संवत् १५५९ विक्रमी स्वीकार किया गया है।[1] माधव मास की शुक्ल-पक्षीय एकादशी के दिन प्रातःकाल आपका प्रादुर्भाव हुआ। इनके पिता का नाम व्यास-मिश्र और माता का नाम तारारानी था। जन्म के अवसर पर इनके पिता बादशाह के साथ दिल्ली से आगरे की ओर जा रहे थे। मार्ग में ही बाद ग्राम में हित हरिवंश जी का जन्म हुआ। इनके जन्म के बाद व्यासमिश्र देवबन में रहने लगे।

बाल्यकाल से ही इनकी लीलाएँ—इन्हे असाधारण बालक सूचित करती थी। छह मास की अवस्था में 'राधासुधानिधि' स्तोत्र का प्रकटीकरण, पाँच वर्ष की अवस्था में घर के समीप बाग के सूखे कुएँ में कूदकर नवरंगलाल जी (श्यामसुन्दर का विग्रह) का उद्धार करना तथा कुएँ का निर्मल जल से भर जाना आदि घटनाएँ भक्तों के अनुसार इनके चरित्र का अंश हैं।[2]

व्यासमिश्र स्वयं विद्वान् व्यक्ति थे—अतः उन्होंने बालक हरिवंश की शिक्षा-दीक्षा का उचित अवसर पर (आठ वर्ष में) प्रबन्ध किया। इनका विवाह भी यथा अवसर रुक्मिणी देवी से हुआ। रुक्मिणी देवी से श्री हरिवंश-चन्द्र जी के क्रमशः तीन पुत्र—श्री वनचन्द्र, श्री कृष्णचन्द्र और श्री गोपीनाथ तथा एक पुत्री श्रीमती साहिब दे हुई। श्री हरिवंश जी के जीवन के प्रथम बत्तीस वर्ष देवबन में व्यतीत हुए। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त समस्त गृह-सम्पत्ति, पुत्र, स्त्री आदि का त्याग कर ये वृन्दावन की ओर चल पड़े। मार्ग में चिड़थावल ग्राम से इन्होंने 'राधावल्लभ लाल' के विग्रह तथा ब्राह्मण की दो कन्याओं को श्री जी की आज्ञा से स्वीकार किया और वृन्दावन आ पहुँचे। वृन्दावन में पहुँचने पर इन्होंने 'राधावल्लभ लाल' जी की स्थापना की और उन्हीं के भजन एवं सेवा-पूजा में अपना शेष जीवन व्यतीत कर दिया। अठारह वर्ष वृन्दावन वास करने के बाद पचास वर्ष की आयु में (वि० सं० १६०९ में) आप शरद पूर्णिमा की रात्रि को श्री प्रिया जी की अंग-कान्ति में

१. राधासुधानिधि : प्रकाशक—सुन्दरलाल : अनुवादक-हितदास : पृष्ठ २७
२. वही : श्री हरिवंश जीवन चरित्र

सदेह लीन हो गये।[1]

अपने जीवन काल में इन्होंने अपने सम्प्रदाय की विशिष्ट उपासना-पद्धति (जो इन्हें स्वयं श्री राधारानी से प्राप्त हुई थी) का प्रचार किया। राधा-वल्लभी विद्वानों के अनुसार श्री प्रबोधानन्द सरस्वती, श्री स्वामी हरिदास, राजा नरवाहन, श्री हरिराम व्यास प्रभृति रसिकों ने आपके सत्संग से लाभ उठाया। आचार्य हितहरिवंश स्वय परम रसिक भक्त तथा सेवा-पूजा के अनन्य व्रत-व्रती थे। अतः इस प्रकार के रसिक भक्त के समीप अन्य परम रसिकों का एकत्र हो जाना कोई आश्चर्यान्वित करने वाली घटना नहीं है।

रचनायें

आचार्य हित महाप्रभु रसिक भक्त होने के साथ-साथ उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी संस्कृत-रचना 'राधासुधानिधि' राधाप्रशस्ति का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है। ब्रजभाषा में उनकी दो रचनाएँ मिलती है—स्फुट पदावली और हित चौरासी। स्फुट पदावली में सिद्धान्त के कुछ दोहों के अतिरिक्त राधा-कृष्ण की ब्रज-लीला का वर्णन है और हित चौरासी मधुर-लीला-परक चौरासी स्फुट पदों का संग्रह है। **'हित-चौरासी का वर्ण्य विषय मुख्य-रूप से अन्तरंग भावना से सम्बन्ध रखता है। शृंगार रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयों को इन पदों में श्री हितहरिवंश जी ने प्रस्तुत किया है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदण्ड हैं। अर्थात् राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्य विहार, रासलीला, भक्ति-भावना, प्रेम में मान आदि की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्य विहार के चतुर्व्यूह का वर्णन आदि ही इस ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य है।'**[2] माधुर्य्य भक्ति के इन विभिन्न अवयवों के स्पष्टीकरण के कारण यह ग्रन्थ सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ स्वीकार किया जा सकता है। इतना ही नहीं इसके पदों की मधुरिमा ने अन्य रसिक भक्त-कवियों को भी प्रेरणा दी।

माधुर्य्य भक्ति

गो० हितहरिवंश की आराध्या श्री राधा हैं। किन्तु राधा-वल्लभ होने के कारण श्रीकृष्ण का भी बहुत महत्त्व है। अपने सिद्धान्त के चार दोहों में तो हितमहाप्रभु ने उनके ध्यान तथा नाम-जप का भी निर्देश किया है—**'श्री राधा-**

---

१. श्री हितामृत सिन्धु : प्रकाशक महंत श्री द्वारकाधीश जी, श्री राससण्डल, वृन्दावन : भूमिका

२. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' : डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ ३१०

वल्लभ लाल को, हृदय ध्यान मुख नाम।' इस प्रकार सिद्धान्ततः आनन्द-स्वरूपा राधा ही आराध्या हैं, किन्तु उपासना में राधा और उनके वल्लभ श्रीकृष्ण दोनों ध्येय हैं।

गो० हितहरिवंश के अनुसार आनन्दनिधि श्यामा ने श्रीकृष्ण के लिए ही वृषभानु गोप के घर जन्म लिया है। वे श्रीकृष्ण के प्रेम में पूर्णरूपेण रंगी हुई हैं। प्रेममयी होने के साथ-साथ श्री राधा रूपवती भी हैं। इनकी सुन्दरता का वर्णन हितहरिवंश ने कई पदों में सरस ढंग से किया है।

आवति श्री वृषभानु दुलारी।
रूप राशि अति चतुर शिरोमनि अंग-अंग सुकुमारी॥
प्रथम उबटि, मज्जन करि, सज्जित नील बरन तन सारी।
गुंथित अलक, तिलक कृत सुन्दर, सुन्दर मांग सँवारी॥
मृगज समान नैन अंजन जुत, रुचिर रेख अनुसारी।
जटित लवंग ललित नाशा पर, दसनावली कृतकारी॥
श्रीफल उरज, कसुंभी कंचुकी कसि ऊपर हार छबि न्यारी।
कृश कटि, उदर गंभीर नाभि पुट, जघन नितम्बनि भारी॥
मानों मृनाल भूषन भूषित भुज श्याम अंश पर डारी।
जै श्री हितहरिवंश जुगल करनी गज विहरत वन पिय प्यारी॥[1]

राधावल्लभ भी सौन्दर्य की सीमा है। उनके वदनारविन्द की शोभा कहते नहीं बनती। उनका यह रूप-माधुर्य सहज है, उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं। उनके इस रूप का पान कर सभी सखियाँ अपने नयनों को तृप्त करती हैं।

लाल की रूपमाधुरी नैननि निरखि नेकु सखि।
मनसिज मन हरन हास, सामरौ सुकुमार राशि,
नख सिख अंग अंगनि उमंगी, सौभग सींव नखी॥
रंगमगी सिर सुरंग पाग, लटकि रही वाम भाग,
चंपकली कुटिल अलक बीच बीच रखी।
आयत दृग अरुण लोल, कुंडल मंडित कपोल,
अधर दसन दीपति की छवि क्योंहू न जात लखी॥
अभयद भुज दंड मूल, पीन अंश सानुकूल,
कनक निकष लसि दुकूल, दामिनी धरखी।

---

१. हित चौरासी : पद ४५

उर पर मंदार हार, मुक्ता लर वर सुढार,
मत्त दुरद गति, तियन की देह दशा करखी ।।[1]

राधा-माधव के पारस्परिक प्रेम में पर-सुख-सुखित्व की भावना ही प्रधान है। जहाँ राधा अपने प्रियतम के सुख को अपना सुख मानती है, वहाँ श्रीकृष्ण प्रिया की प्रसन्नता के लिए सब कुछ करते हैं। इसी कारण इनका प्रेम नितांत शुद्ध है, उसमें नित्यता है और अखंडता है। राधा-कृष्ण की लीलाएँ इसी शुद्ध प्रेम से सिक्त हैं। अतः भक्त इन्हीं का गान और ध्यान करके शुद्ध प्रेम का आस्वादन करता है।

महाप्रभु हित हरिवंश ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन अत्यधिक सरस शब्दावली में किया है। ये लीलाएँ पूर्वराग से लेकर विहार तक सभी प्रकार की हैं। इनमें झूलन, रास, नृत्य, मान और सुरत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी तथा वेणु-माधुरी से हरित-मना गोपी अपनी सखी से श्रीकृष्ण-मिलन की अभिलाषा जिस प्रकार प्रकट करती है उसका अत्यधिक स्वाभाविक रूप हमें हित हरिवंश के इस पद में मिलता है--

नन्द के लाल हर्‌यो मन मोर ।
हौं अपने मोतिन लर पोवति कांकर डारि गयो सखि भोर ।।
बंक बिलोकनि चाल छबीली रसिक शिरोमणि नंदकिशोर ।
कहि कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर ।।
इंदु गोविन्द बदन के कारन चितवन कों भये नैन चकोर ।
जै श्री हितहरिवंश रसिक रस जुवती तू ले मिलि सखी प्राण अकोर ।।[2]

इस प्रकार की प्रेम दशा केवल राधा की नहीं है--अपितु श्रीकृष्ण भी राधा के प्रेम में व्याकुल रहते हैं। उनकी इस आकुलता का वर्णन हित महाप्रभु ने निम्न पद में बहुत सुन्दर ढंग से आलंकारिक भाषा में किया है--

कहा कहौं इन नैननि की बात ।
ये अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात ।।
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात ।
लंपट लव निमेष अन्तर ते अलप-कलप सत सात ।।

---

१. स्फुट वाणी : पद २२
२. हित चौरासी : पद १३

श्रुति पर कंज, दृगंजन, कुच बिच मृगमद ह्वै न समात ।
जै श्री हितहरिवंश नाभि सर जलचर जाँचत साँवल गात ।।[1]

राधा-कृष्ण की विभिन्न प्रेम-लीलाओं का वर्णन करते समय हित हरिवंश ने लीला के अनुकूल वातावरण का भी चित्रण अपने पदों में किया। यही वातावरण उनके रति स्थायी भाव को उद्दीप्त करने में सहायक होता है। रास का यह वर्णन इसी प्रकार का है--

आजु गोपाल रास रस खेलत पुलिन कल्पतरु तीर री सजनी ।
शरद बिमल नभचन्द्र बिराजत रोचक त्रिविध समीर री सजनी ।।
चंपक बकुल मालती मुकुलित मत्त मुदित पिक कीर री सजनी ।
देशी सुधंग राग रंग नीको ब्रज जुवतिन की भीर री सजनी ।।
मघवा मुदित निसान बजायो व्रत छाड्यो मुनि धीर री सजनी ।
जै श्री हितहरिवंश मगन मन श्यामा हरत मदन घन पीर री सजनी ।।

किसी किसी लीला के वर्णन में हमें रस-परिपाक के विविध अंगों--विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी भाव और संचारी का उचित समावेश मिल जाता है। इस प्रकार के लीला-वर्णन के पद मधुर रस परिपाक के सुन्दर उदाहरण हैं। हित चौरासी का निम्न पद हमारे आशय को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है--

झूलत दोऊ नवल किशोर ।
रजनी जनित रंग सुख सूचत अंग-अंग उठि भोर ।।
अति अनुराग भरे मिलि गावत सुर मंदर कलघोर ।
बीच बीच प्रीतम चित चोरत प्रियानैन की कोर ।।
अबला अति सुकुमारि डरत मन वर हिंडोर झकोर ।
पुलकि-पुलकि प्रीतम उर लागत दे नव उरज अंकोर ।।
अरुझी विमल माल कंकन सों कुंडल सों कचडोर ।
बेपथु जुत क्यों बनें विवेचित आनंद बढ़्यो न थोर ।।
निरखि निरखि फूलति ललितादिक विवि मुख चन्द्र चकोर ।
दै असीस हरिवंश प्रशंसित करि अंचल की छोर ।।[3]

इन्हीं विभिन्न प्रेम-लीलाओं के अनुरूप गोस्वामी हित हरिवंश ने अपनी

---

१. हित चौरासी : पद ६०
२. हित चौरासी : पद २४
३. पद ३५

इष्ट देवी राधा को संभोग-रता, रति-चिन्हा, संभोग-सुख हर्षिता, संकोचयुता आदि विभिन्न रूपों में चित्रित किया है।

गोस्वामी हित हरिवंश के अनुसार राधा-कृष्ण की ये प्रेम-लीलाएँ ही रसिक भक्त के जीवन का आधार हैं। इन लीलाओं के भावन द्वारा उसे जिस प्रेम की अनुभूति होती है, वह मधुर प्रेम अपूर्व है। इसी प्रेम की प्राप्ति उसके जीवन का मात्र लक्ष्य है। स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलायें मधुर प्रेम के आस्वादन का सर्वोत्तम साधन हैं। इसीलिए राधा-कृष्ण की ये प्रेम-लीलायें, अत्यधिक आनन्दप्रद हैं। किन्तु यह आनन्द उपासक को तभी प्राप्त हो सकता है—जब उसका मन सांसारिक भोगों की चाह छोड़कर अपने इष्ट के चरणों में स्थिर हो जाए। मन को वश में करने का सरल एवं सहज उपाय गोस्वामी हित हरिवंश की निम्न पंक्तियों में संकेतित है—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहाँ तहाँ बिपति जार जुवति लौं प्रगट पिंगला गायौ॥
द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अंक पर राखे जो गनिका सुत जायौ॥
जै श्री हित हरिवंश प्रपंच बंच सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जान श्याम श्यामा पद कमल संगी सिर नायौ॥[1]

श्यामा-श्याम के चरणों में आत्म समर्पण की भावना को लक्ष्य में रखकर गोस्वामी हित हरिवंश ने सबसे प्रेम, निष्काम बुद्धि, वृन्दावन वास, श्री राधा-वल्लभ का ध्यान एवं नाम-जप, सत्संग और राधा-कृष्ण की लीलाओं का चिन्तन आदि साधन साधक के लिए निर्धारित किये हैं। इनके आचरण द्वारा उपासक का मन शुद्ध हो जाता है। उसके हृदय में इष्ट के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जिससे उसे राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में रस आने लगता है। धीरे-धीरे वह दशा भी आ जाती है जब वह एक क्षण के लिए भी इन लीलाओं से वियोग नहीं सहन कर सकता। इस प्रकार सिद्ध अवस्था प्राप्त कर वह प्रत्यक्ष रूप से सखी भाव भावित हो राधा-कृष्ण की लीलाओं में भाग लेता है और उन्हें सम्पन्न कराने में सदा सहयोग देता है।

माधुर्य्य भक्ति के इस विवेचन से गोस्वामी हित हरिवंश के काव्य पर उचित प्रकाश पड़ता है। रसिक भक्त होने के कारण उनके भावों में तीव्रता है और संवेदनशीलता है। रसिक भक्त होने के साथ-साथ वे एक सिद्ध कवि भी

---

१. हित चौरासी : पद ५९

हैं, अतः उनके पदों की भाषा में भाव-व्यंजकता, प्रौढ़ता, माधुर्य, सौकुमार्य, प्रांजलता आदि सभी गुण हैं। गोस्वामी हितहरिवंश का संस्कृत और ब्रजभाषा पर समान अधिकार था। इस कारण ब्रजभाषा के पदों में भी संस्कृत शब्दावली का स्वेच्छा से प्रयोग किया गया है। ब्रजभाषा के पदों में नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, संगीतात्मकता आदि भाषा की विशेषतायें अधिकांश पदों में देखी जा सकती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विशिष्ट रस-पद्धति को प्रचलित करने के कारण श्री हित हरिवंश आचार्य कहे जाते हैं। परन्तु वास्तव में वे रसिक भक्त कवि ही हैं। जिस प्रकार उनकी रचनाओं में तत्त्व-दर्शन की अपेक्षा रस-दर्शन अधिक स्पष्ट हुआ है उसी प्रकार उनके पदों मे सिद्धान्त-विवेचन के स्थान पर कवित्व अधिक लक्षित होता है। अतः हमें उनकी रचना को केवल भक्त की वाणी नहीं समझना चाहिए।

श्री सेवक (दामोदरदास)

इतिवृत्त

गुरु-चरणों में दृढ़ निष्ठा रखने वाले श्री सेवक जी का जन्म एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में गौढ़वाने के गढ़ा नामक ग्राम में (यह ग्राम जबलपुर से दो मील दूर है) हुआ था। इनके जन्म-संवत् तथा मृत्यु-संवत के विषय में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं है। किन्तु विद्वानों के अनुसार अनुमानतः इनका जन्म वि० सं० १५७७ तथा मृत्यु विक्रम संवत १६१० में हुई।[1]

सेवक जी बचपन से ही भगवद् अनुरागी जीव थे। अपने ही गाँव के एक सज्जन चतुर्भुजदास से इनकी परम मैत्री थी। दोनों मिलकर भगवत् चर्चा एवं संत सेवा में अपना समय व्यतीत किया करते थे। और समय समय पर उस ग्राम में आने वाले सन्तों के सत्संग से लाभ उठाकर ये अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करते रहते थे। एक बार वृन्दावन के कुछ रसिकों से इनका समागम हुआ। और उनसे श्यामा-श्याम की केलि का सरस वर्णन सुनने को मिला। दोनों मित्र इस लीला गान से विशेष प्रभावित हुए और दोनों ने उन सन्तों से अपनी गुरु-धारणा की अभिलाषा प्रकट की। वृन्दावन रसिकों से श्री हित हरिवंश महाप्रभु के परम रसिक होने का समाचार प्राप्त कर इन्होंने वृन्दावन जा उन्हीं से दीक्षा लेने का निश्चय किया। परन्तु गृहस्थी से वे जल्दी न छूट सके और इतने अवसर में श्री महाप्रभु जी का कुज प्रवेश हो गया। तदुपरान्त श्री चतुर्भुजदास जी तो वृन्दावन चले गये और वहाँ हित-गादी पर विराजमान श्री वनचन्द्र जी से राधा-मन्त्र ग्रहण किया। परन्तु सेवक जी इसी निश्चय पर दृढ़ रहे कि मैं तो स्वयं श्री हित जी से ही दीक्षा लूँगा—अन्यथा प्राण परित्याग कर दूँगा। कुछ ही समय उपरान्त श्री हित महाप्रभु सेवक जी की साधना और दृढ़ निश्चय पर रीझ गए और स्वप्न में इन्हें राधा-मंत्र दिया, जिसके प्रभाव से श्यामा-श्याम केलि तथा वृन्दावन-वैभव इनके हृदय में स्वतः स्फुरित हो उठा। वृन्दावन माधुरी के प्रत्यक्ष दर्शन करने के उपरान्त इनकी वाणी में एक प्रकार की मोहकता सी आ गई और राधा-वल्लभ लाल की नित्य-नूतन छवि का ये वर्णन करने लगे। कुछ समय बाद

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ ३४९

आप श्री वनचन्द्र महाप्रभु का निमंत्रण पाकर वृन्दावन चले गए। वहाँ इनका विशेष सत्कार हुआ। इनकी वाणी से प्रभावित होकर वनचन्द्र जी ने श्री हित चौरासी और सेवक वाणी को एक साथ पढ़ने का आदेश दिया।[1]

सेवक जी ने कुछ दोहे, कवित्त, पद आदि स्फुट रूप में लिखे हैं जिनका प्रकाशन 'सेवक वाणी' के रूप में हुआ है। इसमें माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप का वर्णन करने की अपेक्षा गुरु हरिवंश के महत्त्व को प्रकाश में लाने का प्रयत्न अधिक लक्षित होता है। सेवक जी की दृष्टि में श्री हित हरिवंश ही उपासक हैं, और वे ही उपास्य हैं। वे 'श्री हरि' नाम को भी 'वंश' के बिना लेने को प्रस्तुत नहीं हैं। और उनका यह दृढ़ विश्वास है कि 'हरिवंश' नाम के जप से सब कुछ सम्भव है। इसी दृढ़ गुरु-निष्ठा के कारण राधावल्लभ सम्प्रदाय में सेवक जी का विशेष महत्त्व है।

माधुर्य्य भक्ति

उपास्य के रूप में सेवक जी ने श्यामा-श्याम दोनों का एक साथ स्मरण किया है। उनकी दृष्टि में दोनों अभिन्न है, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं। इनमें आराध्या श्यामा हैं और नित्य प्रति उनका नाम स्मरण करने वाले श्याम आराधक हैं। अपने इस उपास्य-युगल की छवि तथा स्वरूप का वर्णन सेवक जी ने अपने पदों में किया है। सेवक जी की राधा सर्वांग-सुन्दरी, सहज माधुरी-युता, तथा नित्य नई-नई केलि का विधान करने वाली हैं।

सुभग सुन्दरी, सहज शृंगार।
सहज शोभा सर्वांग प्रति सहज रूप वृषभानु नन्दिनी।
सहजानन्द कदंबिनी, सहज बिपिन वर उदित चन्दनी॥
सहज केलि नित-नित नवल, सहज रंग सुख चैन।
सहज माधुरी अंग प्रति सु मोपै कहत बनैन॥[2]

विविध आभूषणों से भूषित रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण का सौन्दर्य भी अपूर्व अथच दर्शनीय है—

श्याम सुन्दर उरसि बनमाल।
उरगभोग भुजदण्ड वर, कम्बुकण्ठमनि-गन बिराजत।
कुंचित कच मुख तामरस मधु लम्पट जनु मधुप राजत॥

---

१. श्री हितामृत सिन्धु : प्रकाशक महन्त द्वारकादास जी : सेवक चरित्र : पृष्ठ ६८
२. हितामृत सिन्धु : सेवक वाणी : पृष्ठ १०४

शीश मुकुट, कुण्डल श्रवन, मुरली अधर त्रिभंग।
कनक कपिस पट शोभि अति, जनु घन दामिनी संग ॥[1]

उपास्य-युगल श्यामा-श्याम की प्रेम-लीलाओं का गान एवं ध्यान ही इनकी उपासना है। इन लीलाओं के प्रति रुचि उपासक में तभी आती है जब उसके हृदय में प्रीति का अंकुर फूट पड़ता है। और इसका केवल उपाय हरिवंश कृपा है—

सब जग देख्यो चाहि, काहि कहौं हरि भक्त बिनु।
प्रीति कहूँ नहिं आहि, श्री हरिवंश कृपा बिना ॥

श्री हरिवंश की कृपा हो जाने पर जीव सबसे प्रेम करने लगता है, शत्रु-मित्र में, लाभ और हानि में, मान-अपमान में समभाव वाला हो जाता है। हरिवंश कृपा के परिणामस्वरूप वह सतत श्यामा-श्याम के नित्य विहार का प्रत्यक्ष दर्शन करता है और इस लीला-दर्शन से उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह प्रेमाश्रुओं तथा पुलक द्वारा स्पष्ट सूचित होता है।

निरखत नित्य विहार, पुलकित तन रोमावली।
आनन्द नैन सुढार, यह जु कृपा हरिवंश की ॥[2]

तात्पर्य यह है कि उपासक के लिए हरिवंश की कृपा से नित्य किशोर उपास्य-युगल की नित्य नवीन प्रेम लीलाएँ सहज हो जाती हैं और वह सदा उसी के दर्शन में तन्मय रहता है। सेवक जी के अनुसार हरिवंश-कृपा का साधन हरिवंश नाम का जप, हरिवंश का ध्यान आदि हैं। इन्हीं साधनों से श्यामा-श्याम भक्त पर सदा प्रसन्न रहते हैं।

नित श्री हरिवंश सु नाम कहैं।
नित राधिका श्याम प्रसन्न रहैं ॥
नित साधन और नहीं तिनके।
सुख सम्पति दम्पति जू जिनके ॥[3]

सेवक जी ने अपनी वाणी में गुरु-महत्त्व-निरूपण में जितना ध्यान दिया है उतना राधा-माधव की लीलाओं की ओर नहीं। किन्तु उनकी सर्वथा उपेक्षा भी नहीं की है। कुछ स्थलों पर तो लीला-वर्णन बहुत सुन्दर है। इस

---

१. हितामृत सिन्धु : सेवक वाणी : पृष्ठ १०४
२. वही : पृष्ठ ११३
३. वही : पृष्ठ १०२

प्रकार के लीला परक पदों में भक्त की भावुकता और कवि की प्रतिभा के एक साथ दर्शन होते हैं। रास के इस वर्णन में सेवक जी ने अवसर के उपयुक्त सभी हाव-भावों को सरस भाषा में प्रस्तुत किया है—

वंश रस नाद मोहित सकल सुन्दरी,
आनि रति मानि कुल छाँडि कानी।
बाहु परिरंभ, नीवी उरज परसि हँसि,
उमंगि रति पति रमित रीति जानी॥
जूथ जुवतिनु खचित, रासमण्डल रचित,
गान गुन निर्त्त आनन्ददानी।
तत्त थेई-थेई करत, गतिव नौतन धरत,
रास रस रचित हरिवंश बानी॥[1]

कुछ पदों में राधा-माधव की लीला के साथ-साथ सेवक जी ने गुरु-निष्ठा का भी उल्लेख किया। किन्तु इससे लीला-वर्णन की सुन्दरता अवश्य कम हो गई है। इस प्रकार के पदों में उपासक-धर्म प्रधान हो जाता है और लीला गौण। अत. भक्त का मन इन लीलाओं में उसी प्रकार पूर्णरूपेण नहीं रम पाता, जिस प्रकार हित हरिवंश तथा अन्य रसिक भक्तों के लीला-वर्णन में। हाँ इस प्रकार के पदों में जहाँ राधा-माधव के विहार का वर्णन करते हुए सखी भाव की उपासना का संकेत किया गया है वे अवश्य सुन्दर हैं। वहाँ सखियाँ उसी लीला का एक भाग बनकर हमारे सम्मुख आती हैं।

हरि बिहरत बन जुगल तनु तड़ित सुबपु घन संग।
कर किसलय दल सैन भल भरि अनुराग अभंग॥
भरि अनुराग अभंग रंग अपने सचु पावत।
अंग-अंग सजि सुभट जंग मनसिजहिं लजावत॥
पंगु दृष्टि ललितादिक तंक निरखत रंध्रनि करि।
मंग आदि रचि शिथिल सजि उच्छंग धरत हरि॥[2]

राधा-कृष्ण की लीला-स्थली वृन्दावन की शोभा का वर्णन भी सेवक वाणी में किया गया है। किन्तु वृन्दावन की सुषमा-वर्णन में जो सरसता आनी चाहिए थी वह यहाँ नहीं आ पाई है। वृन्दावन का वर्णन सुषमा की दृष्टि से न होकर केवल उसके महत्त्व की दृष्टि से है। वृन्दावन-वर्णन पढ़कर ऐसा

१. हितामृत सिन्धु : सेवक वाणी : पृष्ठ ६३
२. वही : पृष्ठ १२०

प्रतीत होता है कि धाम के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए एक दो पंक्तियाँ उसकी शोभा के सम्बन्ध में भी कह दी गई हैं। इसी प्रकार ऋतु-अनुसार प्राकृतिक-शोभा का वर्णन करते हुए सेवक जी ने राधा-कृष्ण की लीलाओं को प्रधानता दी है। वसन्त-ऋतु का यह वर्णन इसी बात को सूचित करता है—

ऋतु वसन्त वन फल सुमन, चित्त प्रसन्न नवकुंज।
हित दम्पति रति कुशलमति, वितु संचित सुख पुंज॥
वितु संचित सुख पुंज, गुंज मधुकर सुनाद धुनि।
रुंज, मृदंग, उपंग, धुज्ज, डफ, झाँझि ताल सुनि॥
मंजु जुवति रस गान लुंज इव खग तहाँ बिथकितु।
भुंजत रास-विलास-कुंज नव सचि बसन्त ऋतु॥[1]

इस प्रकार के वर्णनों में भावैक्य के अभाव के कारण कवित्व को बहुत हानि पहुँचती है। अतः इनके कारण सेवक वाणी का महत्त्व केवल माधुर्य्य भक्ति प्रतिपादक ग्रन्थ की दृष्टि से है, किसी सरस काव्य-रचना की दृष्टि से नहीं।

उपासक के स्वरूप तथा उपासक-धर्म की दृष्टि से सेवक जी का निम्न छप्पय बहुत सुन्दर है। इसमें संक्षेप में उपासक के साधना-क्रम का उल्लेख करते हुए सखी भाव से राधा-कृष्ण की सेवा का संकेत किया गया है।

पढ़त गुनत गुन नाम सदा सत संगति पावै।
अरु बाढै रस रीति विमल बानी गुन गावै॥
प्रेम लक्षणा भक्ति सदा आनंद हितकारी।
श्री राधा युग चरन प्रीति उपजै अति भारी॥
निज महल टहल नवकुंज में नित सेवक सेवा करनं।
निशदिन समीप संतत रहे सु श्री हरिवंश चरण शरणं॥[2]

---

१. हितामृत सिन्धु : पृष्ठ १२१
२. वही : पृष्ठ १२६

श्री हरिराम व्यास

इतिवृत्त

ओरछाधीश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ब्रजमंडल के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में से हैं। इनका जन्म-स्थान ओरछा (टीकमगढ़) राज्य माना जाता है। व्यास जी के जन्म-संवत् के विषय में कोई ऐतिहासिक या अन्य ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर निर्विवाद रूप से कुछ कहा जा सके। परन्तु इनकी रचनाओं तथा अन्य भक्त-कवियों की वाणियों में जो संकेत उपलब्ध होते हैं—उनके आधार पर व्यास जी का जन्म-संवत् १५४६ और मृत्यु-संवत् १६५० से १६५५ के मध्य स्वीकार किया जा सकता है।[1]

व्यास जी सनाढ्य ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम समोखन शुक्ल था। इसी नाम को कतिपय स्थलों पर सुमोखन या सुखोमणि भी लिखा गया है। व्यास जी ने अपने परिवार की परम्परा के अनुकूल शैशव में ही संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। वे बड़े विद्या-व्यसनी पंडित थे। पुराण और दर्शनशास्त्र के प्रति उन्हें विशेष अनुराग था।

व्यास जी अपने प्रारम्भिक जीवन में विरक्त साधु नहीं थे। वे सच्चे आस्तिक भाव के सद्गृहस्थ थे। युवावस्था में उनका विवाह हुआ था। उनकी पत्नी का नाम गोपी कहा जाता है। व्यास जी के परिवार में एक उनका छोटा भाई, बहिन, पत्नी, एक पुत्री तथा तीन पुत्रों की सूचना मिलती है।[2] व्यास जी के इस प्रकार के दोहों से—

उपदेस्यो रसिकन प्रथम, तब पाये हरिवंश।
जब हरिवंश कृपा करी, मिटे व्यास के संश॥—

यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके दीक्षा-गुरु श्री हितहरिवंश ही थे। स्वभाव से व्यास जी उदात्त गुणों की खान थे। उनका हृदय प्रेम, ममता, दया और वात्सल्य इन सभी गुणों से परिपूर्ण था। भक्तों और साधु-सन्तों

१. द्रष्टव्य—'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य'—डा० विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ ३६६

२. भक्त कवि व्यास जी—वासुदेव गोस्वामी : पृष्ठ ५२

की सेवा को ही व्यास जी जीवन की सार्थकता मानते थे। अतः नाभादास जी ने व्यास के इष्ट 'भक्त' ही माने हैं।

श्री हरिराम व्यास के चार ग्रन्थों का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इनमें से व्यास-वाणी और रागमाला—ये दो ग्रन्थ हिन्दी में हैं और नवरत्न तथा स्वधर्म पद्धति संस्कृत में लिखे गए हैं। अभी तक इनमें से केवल व्यास-वाणी का ही प्रकाशन हुआ है[1] और माधुर्य्य भक्ति की दृष्टि से भी इसी का महत्व है। व्यास-वाणी का विषय विविध है। एक भक्त के रूप में व्यास जी ने सन्त-महिमा का गान तथा सामान्य भक्ति की उपादेयता की चर्चा की है। इसके अतिरिक्त अपनी रसोपासना के अनुरूप उन्होंने अपने उपास्य श्यामा-श्याम के सौन्दर्य और उनकी नित्य-लीलाओं का सुन्दर वर्णन किया है। कुछ पद वृन्दावन-महत्व को सूचित करने वाले भी व्यास जी की वाणी में मिल जाते है। इस प्रकार उनकी वाणी का महत्व सामान्य भक्ति और रसोपासना—दोनों ही दृष्टियों से है।

माधुर्य्य भक्ति

व्यास जी के उपास्य श्यामा-श्याम रूप, गुण तथा स्वभाव सभी दृष्टियों से अनुपम हैं। ये वृन्दावन में विविध प्रकार की रासादि लीलाएँ करते है। इन्हीं लीलाओं का दर्शन करके रसिक भक्त आत्म-विस्मृति की आनन्दपूर्ण दशा को सहज प्राप्त कर लेते हैं। यद्यपि राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा और कृष्ण को परस्पर किसी प्रकार के स्वकीया अथवा परकीया भाव के बन्धन में नही बाँधा गया, किन्तु लीलाओं का वर्णन करते समय व्यास जी ने सूरदास की भाँति यमुना-पुलिन पर अपने उपास्य-युगल का विवाह करवा दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यास जी ने सिद्धान्त पक्ष को सम्मुख रखकर लीलाओं का वर्णन नही किया है। वैसे भी वर्णनात्मक सौन्दर्य के लिए सयोग और वियोग दोनों पक्षों की सभी प्रकार की लीलाओं का समावेश आवश्यक है।

मोहन मोहनी को दूलहु।
मोहन की दुलहिनी मोहनी सखी निरखि निरखि किन फूलहु।
सहज ब्याह उछाह, सहज मण्डप, सहज जमुना के कूलहु।
सहज खवासिनि गावति नाचति, सहज सगे समतूलहु ॥...॥[2]

---

१. व्यास-वाणी का प्रकाशन कई विद्वानों द्वारा हुआ है। हमने उद्धरणों आदि के लिए 'अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन' द्वारा वि० सं० १९९१ में प्रकाशित व्यास-वाणी का प्रयोग किया है।

२. व्यास वाणी : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ३६२

यही कृष्ण और राधा व्यास जी के सर्वस्व हैं। इनके आश्रय में ही जीव को सुख की प्राप्ति हो सकती है—अन्यत्र तो केवल दुःख है। इसी कारण वह अपने उपास्य के चरणों में दृढ़ विश्वास रखकर सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। हैं। यही दृढ़ निष्ठा एवं अनन्यता उनका भजन है और आचार-व्यवहार है।

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
व्यास भरोसे कुंवरि के, सोवत पाँव पसार॥[1]

व्यास जी ने अपनी स्वामिनी राधा के रूप-सौन्दर्य का वर्णन अनेक पदों में किया है। कहीं-कहीं तो रूप वर्णन करते समय उन्होंने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा सभी का एक साथ प्रयोग कर दिया है। इससे वर्णन की स्वाभाविकता तथा सुख का सौन्दर्य—दोनों को हानि पहुँची है।

चन्द्र बिम्ब पर बारिज फूले।
तापर फनि फनि के सिर पर मनि गन, तर मधुकर मधु मद मिलि फूले॥
तहाँ मीन, कच्छप, सुख खेलत, वंसिहि देखि न भये विकूले।
विद्रुम दार्यौ में पिक बोलत, केसरि नखपद नारि गरूले॥
सर में चक्रवाक बक व्यालिनि, विहरत बैर परस्पर भूले।
रंभा सिंघ बीच मनमथ धरु, तापर मान धुनि सुनि मुख मूले॥
सबही पर धनु वरषत, हरषत, सर-सागर भये जमुना कूले।
पूजी आस व्यास चातक की, स्थावर जंगम भये विसूले॥[2]

किन्तु जहाँ इस प्रकार अलंकारों की भरमार नहीं है, वहाँ रूप-वर्णन अत्यधिक सरस एवं सुन्दर हैं—

नैन खग उड़िबे को अकुलात।
उरजन डर बिछुरे दुख मानत, पल पिंजरा न समात॥
घूंघट विपट छाँह बिनु विहरत, रविकर कुलहि डरात।
रूप अनूप चुनौ चुनि निकट अधर सर देखि सिरात॥
धीर न धरत, पीर कहि सकत न, काम बधिक की घात।
व्यास स्वामिनी सुनि करुना हँसि, पिय के उर लपटात॥[3]

साधना की दृष्टि से व्यास जी ने भक्ति का विशेष महत्त्व स्वीकार किया

१. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १८२
२. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ २४७
३. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ २४२

है। उनके विचार से हमारा जीवन केवल भक्ति से सफल हो सकता है। भक्ति रहित व्यक्ति व्यास जी की दृष्टि में पतित है एवं निकृष्ट है। अतः उन्होंने इस प्रकार के व्यक्ति को सम्बोधित करके अत्यधिक कठोर शब्द कहे हैं।

जो त्रिय होइ न हरि की दासी।
कीजै कहा रूप गुण सुन्दर, नाहिन श्याम उपासी॥
तौ दासी गणिका सम जानो दुष्ट राँड मसवासी।
निसिदिन अपनों अंजन मंजन करत विषय की रासी॥
परमारथ स्वपनें नहिं जानत अन्ध बंधी जम फाँसी।...[1]

इसी प्रकार का कठोर स्वर हमें व्यास जी के उन पदों में लक्षित होता है जिनमें उन्होंने गणेश आदि की पूजा अथवा शक्तिमतानुयायियों की चर्चा की है।

व्यास जी के अनुसार प्रत्येक रसिक भक्त को अनन्य भाव से राधा-कृष्ण की भक्ति ही करनी चाहिए। राधा-कृष्ण की इस प्रेमाभक्ति से सभी कुछ सिद्ध हो जाता है—कर्म, धर्म, ज्ञान, जप, तप, मोक्ष—सभी इस भक्ति के आगे तुच्छ हैं। जप, तप, आदि साधनों में वह सहजता कहाँ जो प्रेमाभक्ति का मूलाधार है —

नैन न मूंदे ध्यान कौ, किये न अंगनि न्यास।
नांचि गाय रसहिं मिले, वसि वृन्दावन वास॥[2]

इस प्रकार की भक्ति में केवल वृन्दावन वास की ही शर्त है। वृन्दावन का महत्त्व श्यामा-श्याम की विहार-स्थली के कारण है। यहाँ रहते हुए जीव को उपास्य-युगल की नित्य होने वाली विविध प्रेम-लीलाओं का साक्षात् अनुभव होता है। अतः इससे अधिक सुविधाजनक एवं रमणीय वास का स्थान और कोई हो भी नहीं सकता। वृन्दावन का महत्त्व स्वीकार करने के साथ-साथ व्यास जी ने वृन्दावन की शोभा का भी सरस शब्दावली में वर्णन किया है। ऋतुओं के अनुसार वृन्दावन के रूप में भिन्नता अवश्य आ जाती है, किन्तु उसके सौन्दर्य में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता। व्यास जी द्वारा वर्णित वसन्त तथा पावसकालीन वृन्दावन का वर्णन पठनीय है।

---

१. व्यास-वाणी (पूर्वार्द्ध) : पृष्ठ ८४
२. वही : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १८१

वसन्तकालीन वर्णन

चल चलहिं वृन्दावन वसन्त आयौ।
झूलत फूलन के झँवरा, मारुत मकरन्द उड़ायौ॥
मधुकर कोकिल कीर कोक मिलि कोलाहल उपजायौ।
नाचत स्याम बजावत गावत राधा राग जमायौ॥
चौबा चँदन बूका बन्दन लाल गुलाल उड़ायौ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखत रोम-रोम सचु पायौ॥[1]

पावस-ऋतु का वर्णन

आजु कछु कुंजन में वर्षा सी।
बादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सी।
नान्हीं नान्हीं बूंदनि कछु धुरवा से पवन बहै सुखरासी॥
मंद मंद गरजनि सी सुनियत नाचती मोर सभा सी।
इन्द्रधनुष बग पंगत डोलति, बोलति कोक-कला सी॥
इन्द्र वधू छवि छाइ रही, मनु गिरि पर अरुन घटा सी।
उमगि मही रुह सेमहि फूली भूली मृग माला सी॥
रटत व्यास चातक ज्यों रसना रस पीवत हू प्यासी।[2]

इसी सुषमा-पूर्ण वृन्दावन के उद्दीपक वातावरण में श्यामा-श्याम अपने सहज प्रेम के वशीभूत सहज क्रीड़ाएँ करते हैं। इन क्रीड़ाओं मे से व्यास जी ने मुख्य रूप से वन-विहार, जल-विहार, झूलन, फाग, रास आदि का वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के विहार वर्णन में हमे रस-परिपाक के विभाव, अनुभाव, सात्त्विकी भाव और संचारी भाव—सभी अंग लक्षित होते है। झूलन के इस वर्णन में सभी अंगों का एक साथ समावेश हुआ है—

मेह सनेही स्याम के वृन्दावन पर्वत।
दामिनी दमकति चमकति कामिनी, झूलत दम्पति तन मन हर्षत॥
ललना लाल हिंडोरा गावत सुनि धुनि मुनिव्रत को मन कर्षत।
पुलकि पुलकि वेपथजुत भेंटत, उर उरजनि सौं घर्षत॥
झूका सहत न डाँडी गहत न कर गहि चुंबन लेत न लर्षत।
नैन सैन दै हसत दोऊ व्यासदासि मुख सुख वर्षत॥[3]

---

१. व्यास-वाणी : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ४१५
२. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ३९२
३. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ४११

नृत्य के इस वर्णन में व्यास जी ने जहाँ एक ओर राधा और कृष्ण की अंग-चेष्टाओं का सुन्दर ढंग से निरूपण किया है, वहाँ विषयानुकूल शब्द-योजना द्वारा नृत्य के अनुरूप गीत में भी गति, ताल और लय लाने की चेष्टा की है।

श्याम नटुवा नटत राधिका संगे।
पुलिन अद्‌भुत रच्यो, रूप गुन सुख सच्यौ, निरखि मनमथवधू मान-भंगे॥
तत्त थेई थेई मान, सप्तसुर पट गान, राग रागिनी तान श्रवन भंगे।
लटकि-मुह-पटकि, पद मटकि, पटु झटकि, हँसि विविधि कल माधुरी अंग अंगे॥
रतन कंकन क्वनित किंकिनि नूपरा-चर्चरी ताल मिलि मनि मृदंग।
लेति नागर उरप, कुँवरि औघर तिरप, व्यासदासि सुघरवर सुघंगे॥[1]

शरद् की ज्योत्स्ना-मंडित रजनी मे श्रीकृष्ण ने राधा तथा अन्य गोपियों से जो रास-क्रीड़ा की थी उसका व्यास जी ने अनेक पदों में सरस वर्णन किया है। अतः रास का एक पद यहाँ देना विषय-विस्तार न होगा।

छबीलो वृन्दावन को रास।
जापर राधा मोहन विहरत, उपजत सरस विलास॥
जीवन मूरि कपूरि धूरि जहाँ, उड़नि चहूँ दिसि वास।
जल थल कमल मंडली बिगसत अलि मकरन्द निवास॥
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुन खग मृग तजत न पास।
तान बान सुर जान विमोहित चंद सहित आकास॥
सुख सोभा रस रूप प्रीति गुन अंग निरंग सुहास।
दोऊ रीझि परसपर भेंटत छाँह निरखि बलि व्यास॥[2]

उक्त कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यास जी ने राधा-कृष्ण के विहार का वर्णन अत्यधिक सुन्दर ढंग से विविध रूपों में किया है। इस वर्णन में उपास्य-युगल की लीलाओं की मनोहरता अक्षुण्ण बनी रही है। अतः इनका गान एवं ध्यान करके रसिक भक्त को भी मधुर-लीला रस की अनुभूति हो जाती है। इस प्रकार का रसिक भक्त लोक-लाज, वेद-विधि आदि सभी से ऊपर उठकर सदा राधा-कृष्ण की इन्हीं लीलाओं में मस्त रहता है। उसे किसी के उपहास की चिन्ता नहीं और न ही किसी की प्रशंसा की अपेक्षा

---

१. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ३४४
२. वही : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ३७८

है। यही उपासक की अनन्यता है। उसका आदर्श लोक लाज, कुल कानि सभी परित्याग करके कृष्ण प्रेम में अनुरक्त गोपी है।

जो भावै सो लोगन कहन दै।
अवनि पिछौड़ो पाँव न दीजै, न्याव मेटि प्रीति निवहन दै॥
हौं जोवन मदमाती सखी री, मेरी छतियाँ पर मोहन रहन दै।
नव निकुंज पिय अंग संग मिलि, सुरति पुंज रससिन्धु थहन दै॥
या सुखकारन व्यास आस के लोक वेद उपहास सहन दै॥[1]

उपासक-धर्म के रूप में व्यास जी ने सखी भाव से राधा-कृष्ण की सेवा का उल्लेख अपनी वाणी में किया है। उनके अनेक पदों में 'व्यास-दासि'—इस प्रकार की छाप मिल जाती है। किन्तु निम्न पद में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी स्वामिनी प्रिया के चरणों में सहचरी भाव प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट की है—

बलि जाऊँ राधा मोहि रहन दै वृन्दावन के सरन।
मोको ठौर न और कहूँ जब सेउँगो ये चरन॥
सहचरि ह्वै तेरी सेवा करिहुँ, पहिराऊँ आभरन।
अति उदार अंग अंग माधुरी, रोम रोम सुख करन॥
देखों केलि वेलि मन्दिर में किंकिनी रव-श्रवन।
दीजै वेगि व्यास कों यह सुख जहाँ न जीवन मरन॥[2]

माधुर्य्य भक्ति सम्बन्धी पदों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास जी केवल भावुक भक्त न थे, वरन् अच्छे कवि भी थे। विषय और विषय प्रतिपादन शैली दोनों का ही उचित सम्मिश्रण उन्होंने अपने पदों में किया है। यह सत्य है कि जहाँ सिद्धान्त का प्रतिपादन ही मुख्य रहा है—वहाँ कवित्व को अवश्य ही क्षति पहुँची है। किन्तु इस प्रकार के पद संख्या में अधिक नहीं है।

---

१. व्यास-वाणी : उत्तरार्द्ध : पृष्ठ ५१७
२. वही : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ १७७-७८

ध्रुवदास

इतिवृत्त

राधावल्लभ सम्प्रदाय मे ध्रुवदास जी का स्थान अत्यधिक महत्त्व का है। इस सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धान्तों का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन इनकी वाणी मे उपलब्ध होता है वैसा किसी अन्य महानुभाव की वाणी में नही। परन्तु सम्प्रदाय में इतने महत्त्व का स्थान रखते हुए भी आपके जन्म-संवत् आदि का कुछ निश्चित पता नहीं है। आपने अपने 'रसानन्द लीला' नामक ग्रन्थ में उसका रचना-काल इस प्रकार दिया है—

संवत् सोलह सै पंचासा, बरनत हित ध्रुव जुगल बिलासा।

इस ग्रन्थ को यदि आपकी प्रारम्भिक रचना माना जाय तो उससे कम से कम बीस वर्ष पूर्व आपकी जन्म-तिथि माननी होगी। इस अनुमानाश्रित आधार पर आपका जन्म-संवत् १६३० के आसपास निश्चित होता है। इसी प्रकार ध्रुवदास जी के 'रहस्यमंजरी लीला' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध इस दोहे के आधार पर इनके मृत्यु-संवत् (१७०० के आसपास) का अनुमान लगाया जा सकता है।

सत्रह सै द्वै ऊन अरु अगहन पछि उजियार।
दोहा चौपाई कहैं ध्रुव इकसत ऊपर चार॥

ध्रुवदास जी का जन्म देवबन्द ग्राम के कायस्थ कुल में हुआ था।[1] आपके वंश मे पहले ही से वैष्णव-पद्धति की अनन्य उपासना प्रचलित थी, अतः जन्मजात वैष्णव संस्कार लेकर आप उत्पन्न हुए और शैशव से ही भक्ति-पथ पर सहज रूप से चल पड़े। ध्रुवदास जी के वंशजों के अनुसार इनके पितामह श्री हित हरिवंश जी के शिष्य थे। इनके पिता श्यामदास भी परम भक्त और साधु-सेवी पुरुष थे। ध्रुवदास जी की रचनाओं से पता चलता है कि पिता के समान इन्होंने भी श्री गोपीनाथ जी से ही युगल-मंत्र की दीक्षा ली—

श्री गोपीनाथ पद उर धरैं महागोप्य रस सार।
बिनु बिलम आवे हिये अद्भुत जुगल विहार॥

---

१. काइथ कुल देवन वासी, परम्पराइ अनन्य उपासी।
श्री गोपीनाथ के शिष्यन श्रेष्ठ, सेवत राधावल्लभ इष्ट॥
—भगवत मुदित कृत रसिक अनन्यमाल।

ध्रुवदास जी जन्मगत संस्कारों के कारण शैशव में ही विरक्त हो गए और अल्पायु में वृन्दावन चले आये। ये स्वभाव के अत्यन्त नम्र, विनीत, साधुसेवी, सहनशील और गम्भीर प्रकृति के महात्मा थे।

आपकी सभी रचनाएँ मुक्तक है, किन्तु आपके मुक्तक काव्य मे शैलीगत विविधता देखकर आश्चर्य होता है। अपने ग्रन्थों का नाम आपने 'लीला' रखा है। ये ग्रन्थ अथवा लीलाएँ संख्या मे बयालीस हैं। इनके अतिरिक्त आपके १०३ फुटकर पद और मिलते हैं—जिन्हे पद्यावली के नाम से बयालीस लीला में स्थान दिया गया है। ध्रुवदास जी ने अपने विचारों को लेखनी बद्ध करने के लिये गद्य का भी आश्रय लिया। यद्यपि गद्य-रचना केवल एक है, तथापि उसका महत्व कम नही है। विषय की दृष्टि से गद्य-रचना वाला खंड सिद्धान्त-विवेचक है—अतः ऐसे स्थल के लिए गद्य का आश्रय ग्रहण करना ध्रुवदास की प्रतिभा का परिचायक है।

माधुर्य्य भक्ति

वृन्दावन घन-कुंज मे प्रेम-विलास करने वाले अपने उपास्य-युगल श्यामा-श्याम का परिचय ध्रुवदास जी ने निम्न कवित्त मे बहुत सुन्दर ढंग से दिया है—

प्रीतम किशोरी गोरी रसिक रंगीली जोरी,
प्रेम ही के रंग बोरी शोभा कहि जाति है।
एक प्राण एक बेस एक ही सुभाव चाव,
एक बात दुहुनि के मन को सुहाति है॥
एक कुंज एक सेज एक पट ओढ़े बैठे
एक एक बीरी दोउ खंडि खंडि खात हैं।
एक रस एक प्राण एक दृष्टि हित ध्रुव
हेरि हेरि बढ़े चौंप क्यों हू न अघात हैं॥[1]

राधा और कृष्ण का पारस्परिक प्रेम अद्भुत है। स्वार्थ के अभाव तथा 'तत्सुखे सुखित्वं' की भावना के कारण उनका प्रेम नितान्त शुद्ध है। इस प्रेम का केवल एक ही लक्ष्य है—दूसरे की प्रसन्नता। और इसी लक्ष्य के अनुरूप उनकी सब चेष्टाएँ होती हैं। यही कारण है कि 'सकल लोक चूड़ामणि' होकर भी श्रीकृष्ण राधा की सेवा से सुख प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार राधा भी सदा अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की प्रसन्नता का ध्यान रखती हैं।

१. बयालीस लीला : भजन द्वितीय शृंखला लीला : पृष्ठ १०३

ध्रुवदास जी ने 'रति मंजरी लीला' में राधा के विषय में **'प्रिय रुचि जानि केलि विस्तारी'** लिखकर उनके इसी भाव को स्पष्ट किया है। राधा कृष्ण के इस पारस्परिक प्रेम का वर्णन कई स्थलों पर आलंकारिक भाषा में किया गया है—

जैसी अलबेली बाल तैसे अलबेले लाल,
दुहुँनि में उलही सहज शोभा नेह की।
चाहनि के अम्बु दे-दे सींचत हैं छिन-छिन,
आलबाल भई-सेज छाया कुंज गेह की॥
अनुदिन हरी होति पानिप वदन जोति,
ज्यों ज्यों ही बौछार ध्रुव लागे रूप मेह की।
नैननि की वारि किये हरे सखी मन दियें
चित्र सी ह्वै रही सब भूली सुधि देह की॥[1]

ध्रुवदास जी ने अपनी आराध्या राधा के स्वभाव तथा सौंदर्य का भी कई कवित्त एवं सवैयों में वर्णन किया है। यह वर्णन उनकी कवि-प्रतिभा तथा कल्पना-शक्ति का पूर्ण परिचायक है।

हँसनि में फूलन की चाहन में अमृत की
नख सिख रूप ही की बरषा सी होति है।
केशनि की चन्द्रिका सुहाग अनुराग घटा
दामिनी की लसनि दशनि ही की दोति है॥
हित ध्रुव पानिप तरंग रस छलकत
ताको मानो सहज सिंगार सोवां पोति है।
अति अलबेलि प्रिये भूषित भूषन बिनु
छिन छिन औरे और बदन की जोति है॥[2]

यद्यपि सिद्धान्ततः राधा-कृष्ण का प्रेम नित्य है तथा एक रस है किन्तु लीला-वर्णन में उनको सामान्य प्रेमियों के समान प्रेम करते हुए दिखाया गया है। राधा की रूप-माधुरी से मुग्ध-मन श्याम सदा बरसाने की ओर टकटकी लगाये चुपचाप बैठे रहते हैं और सदा राधा से मिलने के अवसर की प्रतीक्षा करते हैं। तात्पर्य यह है कि आदि तथा अन्त रहित नित्य विहार को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हुए भी अपनी बयालीस लीलाओं में ध्रुवदास जी ने

१. बयालीस लीला : शृंगार सत लीला (प्रथम शृङ्खला)
२. भजन शृंगार सत लीला : पृष्ठ ८६–६०

राधा-कृष्ण की संयोग और वियोग दोनों प्रकार की लीलाओं का अत्यधिक सरस वर्णन किया है। क्योंकि सिद्धान्त-पक्ष और लीला-वर्णन पक्ष—इन दोनों को सभी रसिक-भक्त कवियों ने अलग अलग माना है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में केवल सिद्धान्त-प्रतिपादन नहीं है, वरन् सुन्दर कवित्व भी लक्षित होता है।

राधा-कृष्ण की संयोग परक लीलाओं में होरी, झूलन, मंगला, द्यूत-क्रीड़ा, जल-विहार, रास इत्यादि सभी लीलाओं का वर्णन ध्रुवदास ने किया है। होरी के इस वर्णन को पढ़कर होली खेलते हुए नर-नारियों का वास्तविक चित्र पाठक के सन्मुख आ जाता है। उनकी वेष-भूषा, रंग-फेंकना तथा छीना-झपटी सभी का वर्णन ध्रुवदास ने होली के इस वर्णन में किया है—

लाल लड़ैती जू खेलहीं आज होरी का त्यौहार हो।
फूलीं संग सखीं सबै निरखत प्रेम बिहार हो॥
प्यारी पहिरें सारी केशरी दियें बेंदी लाल गुलाल हो।
मोहे मोहन मोहनी चितवनि नैन विशाल हो॥
अद्भुत उड़नि गुलाल की पिचकारी धार निहारि हो।
मानों घन अनुराग के वरषत आनंद वारि हो॥
लटकनि ललित सुहावनी पद पटकनि करनि सुदेश हो।
झटकनि उर हारावली ध्रुव कहि न सकत छवि लेश हो॥[1]

ध्रुवदास जी ने **'न आदि न अन्त विहार करें दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी'** कह कर जिस नित्य विहार के स्वरूप को स्पष्ट किया है उसका सरस वर्णन भी उनके कवित्त और सवैयों में मिल जाता है। विहार के इन वर्णनों में रस के विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव—इन विभिन्न अंगों का समावेश हो गया है, जिससे ये मधुर रस परिपाक की दृष्टि से सुन्दर हैं।

सरस विलास साने अंग अंग लपटाने
आरस में अरसाने नैना न अघाने हैं।
जब जब छुटि जात फिरि फिर लपटात
छाँडि न सकत सेज ऐसे ललचाने हैं॥
उठिवै को मन करैं, पुनि तेहि रंग ढरैं
घरी एक और जाउ कहि मुसिकाने हैं।

---

१. पद्यावली : पृष्ठ २०

हित ध्रुव ऐसी भाँति छिन छिन सरसात
जानत न रैनि दिन केतिक विहाने हैं ॥[1]

प्रातःकाल सखियों द्वारा उठाये जाने पर जब राधा-कृष्ण बिछौने पर साथ-साथ बैठ जाते हैं उस समय की उनकी छवि भी दर्शनीय होती है। निशि-विहार के कारण उनकी वेष-भूषा अस्त-व्यस्त है, रति-चिन्हों द्वारा उनके अंग-प्रत्यंग सुशोभित होते हैं और उनके हाव-भावों से हर्ष एवं अतृप्ति सूचित होती है। उनकी इस दशा का वर्णन भी ध्रुवदास ने मंगला के कई सवैयों में किया है।

संयोग की अपेक्षा वियोग-पक्ष की लीलाओं का वर्णन कम है। पूर्वराग का उल्लेख हम ऊपर कर आए है। इसके अतिरिक्त मान सम्बन्धी दो चार कवित्त उपलब्ध होते हैं। प्रवास-विरह के लिए शायद नित्य विहार में स्थान ही नहीं है। इसलिए प्रवास का वर्णन ध्रुवदास की रचना में नहीं मिलता।

राधा-कृष्ण की लीलाओं के उद्दीपन-पक्ष को लक्ष्य में रखकर ध्रुवदास ने वसन्त, पावस आदि ऋतुओं का भी वर्णन किया है—

स्याम घटा उमड़ि चहुँ ओरनि पावस की ऋतु आई सुहाई।
नाचत मोर मयूरी विनोद सो आनन्द की वरषा वरषाई ॥
कौंधें जहाँ तहाँ दामिनि कामिनि प्रीतम अंक रही दुरि माई।
कैसे कही ध्रुव जात है सो छवि देखत नैन रहे हैं लुभाई ॥[2]

राधा-कृष्ण का यह विहार केवल प्रेम का विहार है। प्रेम के प्रकाशनार्थ प्रेम-स्वरूप राधा-कृष्ण परस्पर क्रीड़ा करते हैं। प्रेम-सर्वस्वा सखियाँ ही इन प्रेम-लीलाओं का आस्वादन करती हैं तथा इन लीलाओं की स्थली वृन्दावन-धाम भी प्रेममय है। तात्पर्य यह है कि नित्य विहार में साधन एवं साध्य सभी कुछ प्रेम है।

प्यार ही की कुंज और प्यार ही की सेज रचि
प्यार ही सों प्यारे लाल प्यारी बात करहीं।
प्यार ही की चितवनि मुसिकनि प्यार ही की
प्यार ही सों प्यारी जू को प्यारो अंक भरहीं ॥
प्यार सों लटकि रहे, प्यार ही सों मुख चहैं
प्यार ही सों प्यारो प्रिया अंक भुज धरहीं।

---

१. भजन तृतीय शृंखला लीला : पृष्ठ ११२
२. रस हीरावली : पृष्ठ ११०

हित ध्रुव प्यार भरी प्यारी सखी देखें खरी
प्यारे प्यार रह्यो छाइ प्यारं रस ढरहीं ॥[1]

नित्य विहार जनित शुद्ध प्रेम की अनुभूति प्रत्येक उपासक का मात्र लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का केवल उपाय यही है कि भक्त प्रेम-पूर्वक श्यामा-श्याम और उनकी लीलाओं का नित्य ध्यान करे। इसी से सुख एवं शान्ति मिल सकती है। श्यामा-श्याम के इस भजन से इतर ज्ञानादि मोक्ष-प्राप्ति के साधन व्यर्थ हैं—क्योंकि उनमें प्रेम की सरसता नहीं है। इसीलिए ध्रुवदास अपने मन को शिक्षा देते हैं—

रे मन अरु सब छाँड़ि के, जो अटकै इकठौर।
वृन्दावन घन कुंज में, जहाँ रसिक सिरमौर ॥[2]

सखी भाव से उपास्य-युगल की सेवा करना और सेवा करते हुए उनके विहार का दर्शन कर कृतार्थ होना—यही ध्रुवदास की दृष्टि में उपासक का धर्म है। साधनांगों की दृष्टि से कृष्ण-नाम-स्मरण, भक्त-सत्संग आदि का उल्लेख भी इन्होंने किया है।

ध्रुवदास की माधुर्य्य भक्ति के सम्बन्ध में ऊपर उद्धृत किये गये कवित्तों तथा पदों से उनकी रचना के काव्य-गुणों पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कविता के भाव और भाषा सम्बन्धी सभी गुणों का समावेश उनकी रचना में हुआ है। भाव की तीव्रता के साथ उनके पदों की भाषा भावानुकूल, प्रवाहशील, प्रांजल और अलंकारों से युक्त है। इसी आधार पर ध्रुवदास एक सफल भक्त कवि माने जा सकते है।

---

१. आनन्द दशा विनोद प्रारम्भ : पृष्ठ २५६
२. मन शिक्षा लीला : पृष्ठ ८

श्री नेही नागरीदास

इतिवृत्त

भक्त कवियों में नागरीदास नाम से तीन कवि विख्यात हैं, परन्तु राधा-वल्लभ सम्प्रदायी नागरीदास जी के नाम से पूर्व 'नेही' उपाधि के कारण आप अन्य कवियों से सहज ही अलग हो जाते हैं। नागरीदास जी पँवार क्षत्रिय कुलोद्भव तथा बेरछा गाँव (बुन्देलखंड) के रहने वाले थे। इनके जन्म-संवत् का निर्णय सममामयिक भक्तों के उल्लेख से ही किया जा सकता है। इस आधार पर नागरीदास जी का जन्म-संवत् १५९० के आस-पास ठहरता है और इतना तो निश्चित है कि विक्रम की १७ वीं शती के मध्य तक आप जीवित थे।[1]

भक्ति की ओर नागरीदास जी की रुचि शैशव से ही थी। भक्त-जनों से मिलकर आपको अत्यधिक प्रसन्नता होती थी। एक बार सौभाग्य से स्वामी चतुर्भुजदास जी के साथ आपका मिलाप हुआ। इन्हीं के संग से रस-भक्ति का रंग नागरीदास जी को लगा और वे घरबार छोड़कर वृन्दावन चले आये। यहाँ आकर आपने वनचन्द्र गोस्वामी से दीक्षा ली[2] और इस प्रकार रस-भक्ति में इनका प्रवेश हुआ।

नेही नागरीदास जी की हितवाणी और नित्य विहार में अनन्य निष्ठा थी। वे हितवाणी के अनुशीलन में इतने लीन रहते कि उन्हें अपने चारों ओर के वातावरण का भी बोध न रहता। परन्तु इस प्रकार के सरल और अनन्य भक्त में भी कुछ हितधर्मियों ने द्वेष किया और इन्हें विवश होकर वृन्दावन छोड़ बरसाने जाना पड़ा। इस बात का उल्लेख नागरीदास जी ने स्वयं किया है—

जिनके बल निधरक हुते ते बैरी भये बान।
तरकस के सर साँप ह्वै फिरि-फिरि लागैं खान॥

नागरीदास जी की वाणी अभी प्रकाशित नहीं हुई है। जो कुछ भी हस्तलिखित रूप में प्राचीन पोथियों में उपलब्ध होता है उसका विषय-क्रम इस प्रकार है—

---

१. 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य'—विजयेन्द्र स्नातक : पृष्ठ ४७६
२. 'श्री हितहरिवंश : सिद्धान्त और साहित्य'—गो० ललिताशरण : पृष्ठ ४१७

१. सिद्धान्त दोहावली ६३५ दोहे
२. पदावली १०२ पद
३. रस पदावली (स्फुट पद सहित) २३२ पद

सिद्धान्त दोहावली का मूल भाव हित-हरिवंश-प्रतिपादित प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करना है। नागरीदास जी ने रसिक नृपति हरिवंश की वाणी का यशोगान ही अधिकांश दोहों तथा पदों में किया है। फिर भी उनकी वाणी में सम्प्रदाय सिद्धान्तों का अभाव नहीं है। इसी कारण नागरीदास जी सम्प्रदाय के उन प्रारम्भिक कवियों में गिने गए हैं जिन्होंने अपने चरित्र और वाणी द्वारा सम्प्रदाय की नींव को सुदृढ़ बनाया है। ध्रुवदास जी को जिस प्रकार सम्प्रदाय की रस-रीति को सुगठित बनाने का श्रेय है, उसी प्रकार नागरीदास जी को उसके उपासना-मार्ग को सुव्यवस्थित बनाने का गौरव प्राप्त है।[1]

माधुर्य्य भक्ति

नागरीदास जी ने आत्म-परिचय के रूप में लिखे गए एक सवैये में अपने आराध्य, अपनी उपासना और अपने उपासक-धर्म का सुन्दर ढंग से उल्लेख किया है—

सुन्दर श्री बरसानो निवास और बास बसौं श्री वृन्दावन धाम है।
देवी हमारे श्री राधिका नागरी गोत सौं श्री हरिवंश को नाम है॥
देव हमारे श्रीराधिकावल्लभ रसिक अनन्य सभा विश्राम है।
नाम है नागरीदासि अली वृषभान लली की गली को गुलाम है॥

इस सवैये से स्पष्ट है कि नेही जी के आराध्य राधा और कृष्ण है। कृष्ण का महत्त्व राधिकावल्लभ के रूप में ही अंगीकार किया गया है। स्वयं नागरीदास जी **'वृषभान लली की गली को गुलाम"** हैं। नागरीदास जी की निष्ठा एव अनन्यता अत्यधिक तीव्र थी। अपने राधाष्टक में आपने राधा और श्री हितहरिवंश के अतिरिक्त किसी और को स्वीकार ही नहीं किया है। इसी कारण राधाष्टक की राधावल्लभ सम्प्रदाय में अत्यधिक मान्यता है—

रसिक हरिवंश सरवंश श्री राधिका, सरवंश हरवंश वंशी।
हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रेमावली हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी।
राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवंश श्रुतावतंशीं।
रसिक जन मननि आभरन हरिवंश हितहरिवंश आभरन कल हंस हंसो॥

१. वही : पृष्ठ ४२१

राधा और हितहरिवंश में इस प्रकार की दृढ़ निष्ठा के कारण जहाँ एक ओर उन्होंने अपने पदों में बरसाने का वर्णन किया है[1] वहाँ दूसरी ओर हरिवंश जी की वाणी का यशोगान किया है। उनके मत में हितवाणी सर्वगुण सम्पन्न, अगाध, अमल और रतिसाध से ओतप्रोत है। उसकी गम्भीरता को केवल रस-मर्मज्ञ ही अनुभव कर सकते हैं। इस वाणी-रूपी गुन (डोर) में हितहरिवंश ने रसिक-भक्तों के धारण करने के लिए राधा-कृष्ण की नित्य-नूतना छवि को पिरोया है।

व्यास सुवन वानी अमल, अति गुन अमित अगाध।
मोद विनोद लड़ावने लोभ ललक रति-साध॥
अति अगाध आनन्द अमल, प्रेम ललक रस मूल।
हास विलास हुलास में वानी में अति फूल॥
नव नव छवि अति विमल नग, गुन वानी मृदु मोहि।
रूप भेद रचि रसिक मनि सुजन धरैं मन मोहि॥

उपास्य युगल राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का गान तथा ध्यान नागरीदास जी की उपासना है। यह उपासना सरस होते हुए भी सरल नहीं है। इस मार्ग के पथिक के लिए विषय-वासनाओं से अपने को मुक्त कर अनन्य भाव से भजन करना अत्यधिक आवश्यक है। अन्यथा विचलित हो जाने पर जीवन नष्ट हो जाता है। किन्तु श्री हितहरिवंश की शरण में जाकर तथा अनन्य-भजन के द्वारा उपासक इस मार्ग की कठिनाई को पार कर लेता है। फिर तो वह सदा राधा-कृष्ण के विहार में ही मग्न रहता है। इस अवस्था में लोक एवं वेद आदि की मर्यादाएँ भी नहीं रह पातीं।

प्रेम में मग्न हो नागरीदास ने राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन अपनी वाणी में किया है। रास के इस वर्णन में कवि ने तत्कालीन हाव-भावों

---

१. बरसानों हमारी रजधानी रे।
महाराज वृषभानु नृपति जहाँ कीरतिदा सुभ रानी रे॥
गोपी-गोप ओप सौं राजैं बोलत मधुरी बानी रे।
रसिक मुकटमणि कुँवरि राधिका वेद पुरान बखानी रे॥
खोरि साँकरी मोहन दुक्यो दान केलि रति ठानी रे।
गहवर गिरिवन बीथिन विहरत गढ विलास सुख दानी रे॥

—नागरीदास की वाणी

का सुन्दर निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त नृत्य के अनुरूप भाषा में भी गति और लय लक्षित होता है—

उघरि मुख मुसकि मृदु ललित करताल दे,
सुरत तांडव अलग लाग लीनी।
विविध विध रमित रति देत सुख प्रानपति
छाम कटि किंकिनी कुनित कीनी॥
उरप निरपनि लेत सरस आलाप गति,
मुदित मद देन मधु अधर दीनी।
अमित उपजनि सहित सार सुख संचि रति,
भाम हिय लखत रमि रंग भीनी॥
स्वाद चौंपनि चढ़ी लाड़ लाड़िली लड़ी,
अवनि दुति तन तड़ित घन सुछीनी।
कोक-संगीत गुन मथन की माधुरी
नागरीदासि अलि दृगनि भीनी॥

विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव की दृष्टि से राधा-कृष्ण का यह विहार-वर्णन सुन्दर है—

प्यारी जोर करज तन मोरत।
बंक विशाल छबीले लोचन भ्रुव विलास चित चोरत॥
कनक लता सी आगें ठाड़ी मन अरु दृष्टि अगोरत।
उघरी वर कुच-तटी-पटी तें छवि मर्यादहि फोरत॥
अति रस विवस पियहिं उर लावत केलि-कलोल झकोरत।
नागरिदास ललितादि निरखि सुख लै बलाइ तृन तोरत॥

नागरीदास जी ने अपने कुछ पदों में प्राकृतिक पदार्थों तथा ऋतुओं का सुन्दर वर्णन किया है। वसन्त तथा पावस के वर्णन में वृन्दावन सुषमा दर्शनीय है—

ऋतु वसन्त फूलत वन राजि।
ललित लता मिलि अंग तरंगनि भाँति भाँति तरु सभा समाजी॥
मधुप मोर चातक कोकिल कुल मनहर मदन मंडली साजी।
कौतिक कुशल केल कानन कुँवरि तव नागरीदास संग सुख काजी॥

राधा-कृष्ण की इन विविध मधुर-लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन सखी भाव से

राधा-कृष्ण की सेवा करते हुए हो सकते है। अतः इसी भाव को प्राप्त करना उपासकों की साधना का मात्र लक्ष्य है।

संक्षेप में यही नेही नागरीदास की वाणी में निरूपित माधुर्य्य भक्ति का स्वरूप है।

नवम अध्याय

हरिदासी सम्प्रदाय

माधुर्य भक्ति का स्वरूप और प्रमुख कवि

हरिदासी सम्प्रदाय उन सम्प्रदायों में से है, जिन्होंने किसी प्रकार की दार्शनिक ऊहापोह में न फंसकर, अपने को केवल उपासना तक सीमित रखा। इस सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास स्वभाव से विरक्त थे। **'कर करवा, गुंजन के हरवा, कुंजन माँह बसेरो'**—यही उनके जीवन का सिद्धान्त था। इस सिद्धान्त के अनुसार वह सब प्रकार के शास्त्रीय विधि-विधानों से दूर रहकर राधा-कृष्ण के विहार में सदा लीन रहते थे। राधा और कृष्ण के विहार के अनुकूल समस्त सामग्री जुटाकर उनके विहार-लीन हो जाने पर स्वामी जी उन की उस मधुर-लीला का दर्शन करके अपने नयनों को तृप्त करते थे। और यदा-कदा अपने उपास्य युगल की इच्छा के अनुसार मधुर संगीत से उन्हें सन्तुष्ट करते थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण के विहार का दर्शन एवं ध्यान ही स्वामी हरिदास की भजन-रीति थी। इसीलिए बिहारिनदेव ने स्वामी हरिदास की प्रशस्ति में कहा था—

'बिहारीदास हरिदास को जीवन भजन विहार।'

स्वामी हरिदास ने अपने अनुयायियों को संसार से विरक्त रहकर राधा-कृष्ण की इन मधुर लीलाओं के चिन्तन तथा भावन की शिक्षा दी थी। वे स्वयं उच्चकोटि के रसिक थे—अतः उन्होंने सिद्धान्त की अपेक्षा उपासना पर अधिक बल दिया था। फलतः उनकी रचनाओं—सिद्धान्त के अठारह पद तथा केलिमाल में हमें किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं मिलता। वहाँ तो राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का गान ही किया गया है। जो कुछ थोड़े बहुत सिद्धान्त इन रचनाओं में मिलते हैं—वे भक्ति के सामान्य-सिद्धान्त हैं, जिनसे स्वामी जी की रसोपासना पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

इस सम्प्रदाय की माधुर्य भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न स्वामी हरिदास के अनुयायी आचार्यों ने किया है। इनमें से बिहारिनदेव और भगवतरसिक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम बिहारिनदेव ने

सिद्धान्त के लगभग आठ सौ दोहे लिखकर हरिदासी सम्प्रदाय के उपासना-विषयक सिद्धान्तों को स्पष्ट किया। इन दोहों में जिस स्पष्टता तथा सरलता से सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वह सराहनीय है। बाद में भगवत-रसिक ने बिहारिनदेव के सिद्धान्त-सूत्रों को ग्रहण करके उनको अधिक विशद रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा अपनी कुण्डलियों द्वारा की। अतः हरिदासी सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को मुख्यतः इन्हीं दो कवियों की रचनाओं के आधार पर समझा जा सकता है।

उपासना को ही सर्वस्व स्वीकार करने वाले हरिदासी सम्प्रदाय के विद्वानों ने किसी दार्शनिकवाद को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार रस-रूप भगवान् को द्वैत, अद्वैत आदि किसी दार्शनिकवाद के बन्धन में बाँधना सर्वथा अनुचित है। ईश्वर इन विभिन्न वादों से बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। अपनी इच्छानुसार वे भक्त के हित के लिए दो विग्रह (राधा और कृष्ण) धारण कर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। किन्तु इस प्रकार की क्रीड़ा करते हुए भी वे स्वयं निर्लिप्त रहते हैं।

नाहीं द्वैताद्वैत हरि नहीं विशिष्टाद्वैत
बंधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छा द्वैत।
ईश्वर इच्छा द्वैत करें सब ही को पोषन,
आप रहें निर्लेप भक्त सौं माने तोषन॥[1]

इसी बात को अधिक स्पष्ट करते हुए श्री भगवतरसिक ने कहा है कि धर्म की रज्जु वर्णाश्रम, षट्-दर्शन आदि विभिन्न तत्त्वों से निर्मित है। समस्त संसार इसी रज्जु में बँधा हुआ है और यह बन्धन इतना दृढ़ है कि इससे निकल जाना सबके लिए सम्भव नहीं है।

पशु रूपी संसार सब बंध्यो धर्मरजु माँहि।
वर्णाश्रम दर्शन छहू छूटि सकत कोउ नाहिं॥
छूटि सकत कोउ नाहिं सम्प्रदा पथ गरूरे। ..... ॥[2]

तात्पर्य यह है कि हरिदासी सम्प्रदाय में दार्शनिकवाद अथवा शास्त्रीय विधि-विधानों के बन्धन को स्वीकार नहीं किया गया। क्योंकि प्रेम के सरल एवं सहज मार्ग में ये सभी बन्धन बाधा-रूप सिद्ध होते हैं। इस प्रकार हरिदासी सम्प्रदाय की भक्ति का आधार दर्शन नहीं उपासना-पद्धति सिद्ध होता है।

---

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ८३
२. वही : पृष्ठ ८७

उपास्य का स्वरूप

अपने उपास्य राधा-कृष्ण को स्वामी हरिदास ने 'श्यामा-श्याम', कुंज बिहारी', 'जुगलकिशोर' आदि विभिन्न नामों से पुकारा है राधा और कृष्ण का परस्पर प्रेम समान है। कहीं-कहीं कृष्ण से राधा के चरणों का स्पर्श करवाकर प्रेम की जो किंचित् विषमता प्रदर्शित की गई है—वह केवल लीला परक है, सैद्धान्तिक नहीं। अपने उपास्य-युगल के स्वरूप का वर्णन स्वामी हरिदास ने निम्न पंक्तियों में किया है—

प्यारी जू हम तुम दोऊ एक कुंज के सखा रूसे क्यों बने।
ह्यां कोउ हितू मेरो न तेरो जो यह पीर जने॥
हौं तेरो बसीठ तू मेरी और न बीच सने।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा कहत प्रीति बने॥[1]

यद्यपि राधा और कृष्ण ने लीला के लिए भिन्न-भिन्न देह धारण किये है, किन्तु वास्तव में वे अभिन्न प्राण हैं। उनकी लीला उसी प्रकार नित्य तथा अनादि है जिस प्रकार वे स्वयं।

मेरे नित्य किशोर अजन्मा।
विहरत एक प्राण द्वै तन मा॥
कुंज कुटी क्रीड़त छिन छिन मा।
संतत वास वसत वन घन मा॥[2]

राधा-कृष्ण का यह विहार अपनी रुचि के अनुसार ही होता है, किन्तु इसका मूल उद्देश्य भक्तों पर अपना प्रेम प्रकट करना है। इसी प्रेम से वे भक्तों का पोषण करते हैं। इन लीलाओं में भगवान् अपने ऐश्वर्य भाव को पूर्ण रूप से तिरोहित कर प्रेम-सर्वस्व माधुर्य्य भाव का आश्रय ग्रहण करते हैं। अतः इस भावानुसार वह राधा के चरणों पर गिरकर रस के लिये प्रार्थना भी कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि राधा-कृष्ण की लीलाएँ प्रेम-पूर्ण हैं। इनके चिन्तन तथा भावन से भक्त को सहज ही मधुर रस की अनुभूति हो सकती है।

षट ऋतु बारह मास रैन दिन रहत एक रस सानी।
सेवत श्याम सकाम स्वामिनी श्यामा नेह निधानी॥

---

१. केलिमाल : पद संख्या ७६।
२. बिहारिन देव की वाणी।

सब ऐश्वर्य छिपाइ पाइ परि दीन भयो अभिमानी ।
प्रगट कियो माधुर्य मधुर रस रसिक नरेश निशानी ।।[1]

हरिदासी सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण का परस्पर सम्बन्ध स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्य विहारी भाव का स्वीकार किया गया है। भगवत-रसिक ने स्पष्ट कहा है कि राधा और कृष्ण के परस्पर सम्बन्ध का कारण लौकिक प्रेम नहीं है। वे सदा सहज प्रेम में अनुरक्त रहते हैं। उनका यह प्रेम उन्हीं के समान नित्य है, अनादि है और अनन्त है। इस प्रकार वह लौकिक प्रेम से सर्वथा विलक्षण है। अतः स्वकीया और परकीया, इन लौकिक भावों से उनका सम्बन्ध सूचित करना उचित नहीं है।

कोउ सुकिया कोउ परकिया कलप किये मतवादि ।
जोरी भगवत रसिक की नित्य अनन्त अनादि ।।
नित्य अनन्त अनादि लोक तें रीति विलक्षण ।
श्रुति सुमृति बिलगाय देखि अनुभव के अक्षण ।।
सहज प्रेम माधुर्य रहत अनुरागे दोऊ·····।।[2]

इस सम्प्रदाय के भक्तों की रचनाओं में यद्यपि राधा और कृष्ण का समान महत्त्व स्वीकार किया गया है, किन्तु कुछ पदों में राधा को अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा भी लक्षित होती है। भगवत रसिक की इस पंक्ति **'श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी'** से यह बात स्पष्ट सूचित होती है। बिहारिन देव ने राधा को अपनी उपजीविका अवश्य कहा है, पर उसे इष्ट-देवी कहीं नहीं माना।

तुम मेरी उपजीविका प्राणप्रिया पिय पाय ।
एक बैस रस रसिक हौ लाड़ौ तुमै लड़ाय ।।[3]

साम्प्रदायिक विद्वानों की मान्यता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर भी पड़ा। इसीलिए इन रसिक भक्तों ने 'नित्य-किशोर-उपासना' स्वीकार करते हुए भी राधा को 'इष्ट' कहा। पर पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस बात को निश्चित तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

१. भगवत रसिक की बाणी : पृष्ठ ३१।
२. भगवत रसिक की बाणी : पृष्ठ ८२-८३।
३. बिहारिन देव की बाणी : दोहा १२५।

उपासना का स्वरूप

इस सम्प्रदाय में अपने उपास्य राधा-कृष्ण की लीलाओं का नित्य-प्रति चिन्तन एवं भावन ही उपासना स्वीकार की गई है। इसके अतिरिक्त नाम-जप, सत्संग आदि जितने भी साधनों का उल्लेख सम्प्रदाय के आचार्यों की वाणियों में मिलता है, वे केवल साधना की पृष्ठभूमि हैं। तात्पर्य यह है कि इन विभिन्न साधनों से साधक का हृदय विकार-शून्य हो जाता है। तदुपरान्त राधा-कृष्ण की लीलाओं में उसे रस आने लगता है और इस प्रकार उसका सारा समय इन्हीं लीलाओं के ध्यान में व्यतीत हो जाता है।

बिहारीदास जल-जन्तु लौं जल बिन रहै न प्रान।
याही अर्थहि समझ लै नित्यविहार निदान॥[1]

स्पष्ट है कि हरिदासी सम्प्रदाय की उपासना में नित्य विहार का विशेष महत्त्व है। अतः उपासना के स्वरूप को समझने के लिये यहाँ इस सम्प्रदाय के नित्य विहार सम्बन्धी विचारों को जान लेना आवश्यक है।

नित्य विहार का स्वरूप

बिहारिनदेव के अनुसार भक्तों का जीवनाधार नित्य विहार उपमा-रहित, ज्ञान से अगम्य, वाणी से अवर्णनीय तथा सिद्धान्तों की सीमा से दूर है। वह शुद्ध जल के समान दोष रहित है। देवर्षि नारद, शिव, सनकादि उसका किंचित् निरूपण कर पाये हैं।

उपमा ज्ञान कवीश्वरी सिद्धान्तन ते दूरि।
नित्य विहार अधार है हमारी जीवन मूरि॥
शुद्ध नीर सबसे परे ऐसो नित्य विहार।
शिव सनकादिक नारदै कह्यो कछुक निरधार॥[2]

नित्य विहार के रस का जिसने आस्वादन कर लिया है उसके लिये अन्य सभी स्वाद फीके हो जाते हैं। किन्तु इस रस का आस्वादन सभी को सरलता से नहीं हो सकता। जब तक साधक का हृदय नितान्त शुद्ध नहीं हो जाता तब तक नित्य विहार के ध्यान से रसास्वादन असम्भव है। इसके विपरीत हृदय की मलिन अवस्था में विहार के ध्यान से पतन की ही सम्भावना है। इसलिये इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने नित्य विहार के साधकों को स्थान-स्थान पर सावधान करते हुए कहा है--

---

१. बिहारिनदेव की वाणी : दोहा १३१
२. वही : दोहा ६६१, ६२५।

कठिन प्रीति रस रीति है समुझि गहो मन माहिं ।
इक चकोर पावक चुगै सबहिन को भख नाहिं ॥[1]

नित्य विहार और विधि-निषेध

नित्य विहार के उपासक का शास्त्रीय विधि-विधानों से कोई सम्बन्ध नहीं होता । उसके लिये रसिकों की वाणियाँ ही वेद के समान हैं । वह इन्हीं वाणियों का पारायण करता हुआ अपने उपास्य के प्रेम में सदा मत्त रहता है । जो साधक शास्त्रीय विधि-विधानों का आश्रय ग्रहण करके नित्य विहार के रस का आस्वादन करना चाहता है उसकी दशा उस यात्री के समान होती है जो पूर्व की ओर जाने के उद्देश्य से पश्चिम दिशा में कदम बढ़ाता है ।

चलत चाल नैमित्य की, चाहत नित्य विहार ।
किसोरदास पछ्यम चलै, पुरब करत उचार ॥[2]

तात्पर्य यह है कि नित्य विहार की उपासना और विधि-निषेध का मार्ग दो विपरीत मार्ग हैं । अतः नित्य विहार के उपासक के लिए विधि-निषेध का मार्ग सर्वथा त्याज्य है । बिहारिनदेव ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

कर्म धर्म सों नाहीं काम ।
निरभय भज श्री श्यामा श्याम ॥
विधि निषेध सों को पचि मरै ।
प्रेम भक्ति में अंतर परै ॥

वास्तव में तप, तीर्थ, होम, व्रत आदि साधनों से केवल भ्रम बढ़ता है, सुख की प्राप्ति नहीं होती । सुख प्राप्त करने के लिये तो राधा-कृष्ण की लीलाओं के ध्यान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है ।

रसिक अनन्य भये सुख पैये ।
जो युग सहस जन्म कोटिक धरि और उपाव न हैये ।
तप तीरथ व्रत नेम होम संयम के श्रम उपजैये ॥[3]

जब साधक इस नित्य विहार की उपासना में प्रवेश करता है तो कर्म, धर्म, विधि-निषेध आदि उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार शंकर के तीसरे नेत्र से कामदेव भस्म हो गया था । नित्य विहार के साधकों के लिये

---

१. वही : दोहा ३९६ ।
२. सिद्धान्त रत्नाकर : स० विश्वेश्वरशरण : सिद्धान्त सरोवर : पृष्ठ ७२ ।
३. बिहारिनदेव की वाणी ।

साधना में विधि-मर्यादा को तिलांजलि देकर कृष्ण का भजन करने वाली गोपियाँ आदर्श स्वीकार की गई हैं।

साँचे प्रेम को गुरु गोपी।
सबै निशंक हरि सन्मुख लै अपनो उर ओपी।
मेटि मिलीं मर्याद लाज जे लोक वेद आरोपी॥
मगन भई सुन्दर सरूप सुख सब वासना अलोपी।
बिहारीदास रस रमी श्याम संग सब बाधकन दै धोपी॥[1]

किन्तु विधि मर्यादा की अवहेलना में साधक को अत्यधिक सावधानी से कार्य लेना चाहिये। विधि-मर्यादा का तिरस्कार भक्तों ने केवल कृष्ण-प्रेम की तीव्रता में बाधक होने के कारण स्वीकार किया है। यदि मर्यादा की अवहेलना केवल उच्छृंखल वृत्ति का परिणाम है तो यह कदापि ग्राह्य नहीं है।

नित्य विहार और काम

राधा-कृष्ण के विहार के चिन्तन से भक्तों को जिस प्रेम की अनुभूति होती है वह अलौकिक है, अतः लौकिक प्रेम (काम) से सर्वथा भिन्न है। राधा-कृष्ण के विहार मे मूल प्रेरणा प्रेम है। इसलिये इनका विहार विकार रहित है, शुद्ध है और दिव्य है। नित्य विहार में काम परक चेष्टाएं केवल प्रेम को आस्वाद्य बनाने का साधन मात्र हैं। राधा और कृष्ण के अतिरिक्त नित्य विहार के लिये सभी प्रकार की सामग्री जुटाने तथा विहार के दर्शन से अपने नयनों को तृप्त करने वाली सखियाँ भी सावधानतापूर्वक इसी प्रेम का आस्वादन करती है।

इनके मल मैथुन कछु नाहीं।
दिव्य-देह विहरत वन माहीं॥
काम प्रेम रस विवस विहारी।
सावधान सहचरि सुकुमारी॥[2]

मदन के सहयोग से राधा-कृष्ण के विहार में प्रेम उसी प्रकार उमड़ पड़ता है जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर सिंधु हिलोरें लेने लगता है। काम जनित रति में रस की स्थिति आदि, मध्य और अवसान में एक जैसी नहीं होती किन्तु नित्य विहार की यह विशेषता है कि उसमें सभी अवस्थाओं में रस-दशा समान रहती है।

---

१. बिहारिनदेव की वाणी।
२. बिहारिनदेव की वाणी।

श्री बिहारिनिदासि की स्वामिनी पिय रसिक सिरोमणि ।
आदि मध्य अवसान एक रस संपति सुरति निबही ॥[1]

यह अवश्य है कि ज्यों ज्यों उस रस का आस्वादन किया जाता है त्यों त्यों तृष्णा और भी बढ़ती जाती है, किन्तु रस-दशा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता ।

लौकिक प्रेम (काम) में जिस मान, विरह आदि की स्थिति स्वीकार की गई है, वह नित्य विहार में संभव नहीं है । क्योंकि यहाँ राधा और कृष्ण सदा संयोग की स्थिति में रहते हैं । अतः उन्हें इस अवस्था में स्थूल (लौकिक) विरह, मान आदि की अनुभूति नहीं होती । किन्तु सदा मिलन की अवस्था में भी जो अतृप्ति की भावना है—वही यहाँ स्वीकृत सूक्ष्म-विरह है ।

तिनकौ विरह होत मन माहीं ।
सो कहिबे में आवत नाहीं ॥[2]

इसी प्रकार मान-रस की अनुभूति भी प्रिया-प्रियतम को इसी संयोग की दशा में हो जाती है । तात्पर्य यह है कि काम का सम्बन्ध देह से है, नित्य विहार का बाह्य-सम्बन्ध केवल उपकरण मात्र है । वास्तव में यहाँ प्रिया-प्रियतम का विहार देहेन्द्रियों की तृप्ति के लिये नहीं मानसिक तृप्ति के लिये है । और वह तृप्ति काम से नहीं प्रेम से ही सम्भव है । इसलिये नित्य विहार प्रेम का आस्वादक स्वीकार किया गया है ।

नित्य विहार की साधना

विधि-निषेध रहित तथा काम-विकार शून्य नित्य विहार की उपासना में जिस हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है, उसके लिये हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्यों ने कई साधनों का उल्लेख किया है । इन साधनों का अनुसरण करते हुए साधक क्रम-क्रम से इस रसोपासना के मार्ग में अग्रसर होता जाता है और सिद्ध हो जाने पर प्रेम का आस्वादन करता है । यह साधना-क्रम भगवद्-भक्तों से भागवत श्रवण से आरम्भ होता है । यहीं से साधक भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करता है । इस ओर जब उसकी रुचि बढ़ती है तब वह 'नवधा भक्ति का अनुसरण' नामक दूसरी सीढ़ी पर पैर रखता है । इसके बाद भक्ति-रहस्य को जानने के लिये वह गुरु-धारण करता है और तदुपरान्त गुरु के निर्देश से विरक्त होकर वृन्दावन-वास करता है । इस प्रकार विरक्त होकर भजन करते

१. बिहारिनदेव की वाणी ।
२. सिद्धान्त रत्नाकर : स० विश्वेश्वरशरण : रससार : पृष्ठ १३ ।

करते पाँचवीं अवस्था में उसे देह-सुधि की विस्मृति हो जाती है। इस अवस्था में उसका मन केवल राधा-कृष्ण की विहार-लीलाओं में रमण करता है। छठी स्थिति में पहुँचकर साधक को इन लीलाओं का भी विस्मरण हो जाता है और सातवीं स्थिति में इन मधुर-लीलाओं से व्यंजित प्रेम ही शेष रह जाता है।

प्रथम सुनै भागौत भक्त मुख भगवत बानी।
द्वितिय आराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी॥
तृतिय करै गुरु समुझि दक्ष सर्वज्ञ रसीलो।
चौथे होइ विरक्त बसै बनराज यशीलो॥
पाँचे भूले देह निज छठें भावना रास की।
सातें पावे रीति रस श्री स्वामी हरिदास की॥[1]

सातवीं स्थिति में साधक केवल प्रेम का आस्वादन करता हुआ उसी के रस मे मत्त रहता है। उसके लिये नित्य विहार जीवन का आधार हो जाता है और उसकी विस्मृति उसे एक क्षण के लिए भी सह्य नहीं होती। इस साधना-क्रम से स्पष्ट है कि रसिक भक्तों का साध्य केवल प्रेम है। और इसकी प्राप्ति का मात्र उपाय नित्य विहार का सतत ध्यान है। इसीलिए भगवत रसिक ने नित्य विहार को **'प्रेम उमगन रस-सागर'** कहा है।

इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने जहाँ **'कठिन प्रीति रस-रीति'** कह कर नित्य विहार की उपासना-पद्धति को कठिन बताया है—वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि सच्चे हृदय से इस पथ का पथिक बन जाने पर यह रसोपासना सुलभ हो सकती है। क्योंकि भगवत्कृपा का बीज सभी को समान रूप से मिलता है, किन्तु जब तक हृदय-रूपी भूमि की विषमता बनी रहती है तब तक उस बीज का कोई भी प्रभाव नहीं होता।

यह रस-रीति प्रिया-प्रीतम की दिव्य स्वाति जल जैसे।
विषयी ज्ञानी भक्त उपासक प्रापत सबकौं कैसे॥
कदली कमल पपीहा सीपी पात्र भेद गुण तैसे।
भगवत बीज विषमता नाहीं भूमि भाग्य फल ऐसे॥[2]

अतः स्पष्ट है कि जब तक साधक का हृदय शुद्ध नहीं हो जाता तब तक उसे भक्ति-ग्रन्थों में निर्दिष्ट नवधा भक्ति का आराधन, वृन्दावन-वास आदि साधनों का निरन्तर अनुसरण करना चाहिए। जब हृदय शुद्ध हो जाता है उस

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ७८-७९।
२. वही : पृष्ठ ५८।

समय बिहारिदेव के **'सिद्ध भयो साधन बिसरायो'**—इस कथन के अनुसार साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। साधना-काल में साधक को सदा विवेक से कार्य करना चाहिये। क्योंकि विवेक रहित कार्य से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना होती है। नित्य विहार की उपासना में अग्रसर होने वाला साधक यदि विवेक रहित होकर विहार का ध्यान करता है तो वह अन्धकार के गर्त में गिरता है। इसीलिए कहा गया है—

जो कछु करौ सो समुझि कै, बिनु समुझै करि नाहिं।
बिनु समझैं जिन जिन करी, परे अन्ध तम माहिं॥[1]

विरक्त सम्प्रदाय होने के कारण हरिदासी सम्प्रदाय में 'करुवा', 'कामरि' और 'कोपीन' का अत्यधिक महत्त्व है। हाथ में करुवा ले, कंधे पर कामरि रखे और कटि में कोपीन बाँधे विरक्त भाव से राधा-कृष्ण के युगल-मंत्र का उच्चारण करते हुए वृन्दावन में विचरण करना यही इनकी 'विरक्तभाव से वृन्दावन-वास' नामक साधना है। और यही साधना एवं भजन सुख का मूल कारण है। वृन्दावन में भी हरिदास की निवास-भूमि निधिवन का महत्त्व इस सम्प्रदाय के रसिक-भक्तों में अत्यधिक है। इनकी दृष्टि में हरिदास का वसति-स्थल निधिवन तीर्थराज के समान है। यहाँ श्यामा-श्याम नित्य विहार करते हैं। इसी कारण यह स्थल अत्यधिक पवित्र एवं पुण्य-प्रद है।

नित्य विहार की भाव-भूमि

इस प्रकार साधना-क्रम से जब साधक नित्य विहार की भाव-भूमि पर पहुँच जाता है तब उसे राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के दर्शन होते हैं। उस समय उसकी अभिलाषा यही होती है—

अंगन संग लसैं विलसैं परसे सुख सिन्धु न रूप अघैहौं।
रूप लखे नित माधुर बैन श्रवन्न सु चैन सुने गुण गैहौं॥
दंपति संपति संचि हियें धरि या सुख तें न कहूँ चलि जैहौं।
नित्य विहार अधार हमार बिहारी बिहारिनि की बलि जैहौं॥[2]

भाव की इस दशा में भक्त राधा-कृष्ण की होली, झूलन, निशि-विहार, जल-क्रीड़ा आदि अनेक लीलाओं को देखता है। और अपने उपास्य युगल की इन क्रीड़ाओं का वह अत्यन्त सरस भाषा में गान कर देता है।

---

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ६४।
२. बिहारिनदेव की वाणी।

हरिदासी सम्प्रदाय के भक्तों ने अपने लिये 'रसिक' छाप का प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में अनन्य रसिक हुए बिना श्यामा-श्याम के विहार-रस का आस्वादन कर सकना सम्भव नहीं है। अतः इस सम्प्रदाय का प्रत्येक उपासक रसिक की स्थिति को प्राप्त करना चाहता है।

रसिक का स्वरूप

इस सम्प्रदाय के आचार्यों के अनुसार रसिक जीव की वह दशा है जिसमें निरन्तर साधना एवं भजन से वह श्यामा-श्याम के साथ एक रूप हो जाता है। इस दशा में उसे अपने देह की सुधि बिल्कुल नहीं रहती।

जीव ईश मिलि दोय नाम रूप गुण परिहरं।
रसिक कहावं सोय, ज्यों जल घोरें शर्करा॥[1]

रसिक सदा श्यामा-श्याम की लीलाओं में मस्त रहता है, उसके जीवन का आधार यही विहार हो जाता है। प्रत्यक्ष में वह राधा-कृष्ण का नाम स्मरण करता हुआ देखा जाता है परन्तु उसकी वास्तविक स्थिति यह होती है—

मन मनसा आसा मगन तन की कछु न सम्हार।
बिहारीदास नाम कहै निरखें नित्य विहार॥[2]

इस अवस्था में साधक का मन राधा-कृष्ण की विहार-स्थली बन जाता है—

काया कुंज निकुंज मन, नैन द्वार अभिराम।
भगवत हृदय सरोज सुख, बिलसत श्यामा-श्याम॥[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि निरन्तर साधना से जब साधक का मन बिल्कुल शुद्ध होकर श्याममय हो जाता है तभी उसे उपास्य-युगल की मधुर-लीलाओं से प्रेम की प्राप्ति होती है। नित्य विहार का ध्यान तभी सार्थक है, अन्यथा प्रेम के अभाव में विहार का चिन्तन काम-क्रीड़ाओं के चिन्तन के समान है।

आरति करत विहार की, रस आरति विसराय।
आगि वारि आरति करैं, सेवत खसम खिझाय॥[4]

हृदय की शुद्धि के लिये किसी एकान्त वन में जाकर कठोर साधना की

---

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ २७।
२. बिहारिनदेव की वाणी : दोहा ४४८।
३. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ २८।
४. बिहारिनदेव की वाणी : दोहा ३७६।

आवश्यकता इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने स्वीकार नहीं की है। इसके अनुसार स्पृहणीय यही है कि साधक घर में रहते हुए घर की वस्तुओं से उपराम हो जाय। स्वयं स्वामी हरिदास का जीवन इसी प्रकार का था—

घर ही घर वन भयो कुंज पुलिन बिच रास।
बिहारीदास हरिदास को जगते रहै उदास॥[1]

यह विरक्त दशा जीव को विवेक धारण कर निरन्तर भजन करने तथा सतत मन का निरीक्षण करते रहने से प्राप्त हो सकती है। और इस प्रकार साधना करते करते जीव इस स्थिति तक पहुँच जाता है—

गौर श्याम अंजन अंजी अँखियाँ आनन्द रूप।
पलकन में झलकत रहें दोऊ सुखद स्वरूप॥[2]

इस दशा में पहुँच कर उपासक स्वयं संसार से विरक्त हो जाता है। क्योंकि विहार-चिन्तन से उसे जिस रस की अनुभूति होती है उसकी तुलना में जगत के स्वाद बिल्कुल फीके होते हैं।

सखी भाव

रसिक दशा को प्राप्त उपासक राधा-कृष्ण की लीलाओं का आस्वादन केवल दर्शक के रूप में नहीं करता वरन् वह उसमें स्वयं भाग लेता है। इन लीलाओं में भाग लेने के लिये वह अपने को राधा की सखी स्वीकार करता है। इसी रूप में उपासक राधा-कृष्ण की सेवा करता हुआ उनके विहार का दर्शन करता है। इसलिये इस सम्प्रदाय का प्रत्येक साधक सखी भाव को प्राप्त करना चाहता है।

हैं हम रसिक अनन्य प्रिया पिय कुंज महल के वासी।
नई नई केलि बिलोकें क्षण क्षण रति विपरीत उपासी॥
बीरी बसन सुगन्ध आरसी रुख लै करत खवासी।
देत प्रसाद प्रेम सों हँसि हँसि कहि कहि भगवत दासी॥[3]

इस सखी रूप में भक्त राधा-कृष्ण की विहार-लीलाओं में सदा सहायता करता है। उनके मन की रुचि को देखते हुए वह प्रत्येक लीला के अनुकूल सामग्री जुटाता है और अपने उपास्य-युगल के लीला-रत हो जाने पर उनकी रस-क्रीड़ाओं का लता-रन्ध्रों से दर्शन करता है।

---

१. वही : दोहा २२७।
२. वही : दोहा ६३७।
३. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ५५।

राखी सखियन साथ नामधृत दास बिहारिनि।
निरखत नित्य विहार लता गृह रंध्र निहारिनि ॥[1]

सखी भेद

प्रिया-प्रियतम की सेवा में रहने वाली सखियाँ दो कोटि की हैं—नित्य-सिद्धा और साधन-सिद्धा। कृष्ण की भाँति नित्य तथा अनादि गोपियाँ नित्य-सिद्धा सखियाँ हैं और मुनि-कन्या, ऋषि-कन्या, श्रुति-कन्या आदि साधन-सिद्धा सखियाँ स्वीकार की गई हैं। इन दो भेदों के अतिरिक्त सखियों के दो अन्य भेद भी हैं—स्वसुख सखी और तत्सुख सखी। यही दो भेद इस सम्प्रदाय में विशेष रूप से प्रचलित हैं। स्वसुख सखी राधा-कृष्ण की सेवा करते समय कृष्ण के स्पर्शादिक सुख की अभिलाषा करती है। किन्तु इसके विपरीत तत्सुख सखी राधा-कृष्ण के सुख को ही अपना सुख मानती है और सदा उन्हीं के सुख के लिये प्रयत्नशील रहती हैं। इसीलिये स्वसुख सखियों की अपेक्षा तत्सुख सुखी भावना वाली सखियों को श्रेष्ठ माना गया है। स्वसुख सखियों का प्रवेश राधा-कृष्ण की रासादि लीलाओं में हो सकता है। क्योंकि यहाँ कृष्ण सभी की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। इसके विपरीत राधा-कृष्ण की एकान्त-केलि में इस प्रकार की सखियों का प्रवेश नहीं।

अपने सुख में रहें जे राती।
कृष्ण स्वरूप सों रहें जे माती ॥
एकांत केलि जहाँ दोऊ करैं।
ऐसी सखी न तहाँ अनुसरैं ॥[2]

उपास्य-युगल की क्रीड़ा से तत्सुख सुखी भाव परायण सखियों को भी असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सम्प्रदाय के साधक का अभीष्ट तत्सुख सखी भाव को प्राप्त करना है। इसी भाव की सखियाँ इष्ट को प्रिय होती हैं।

जे जन ततसुख सखी, ते संतत सुख पात।
किसोरदास अपसुख सखी, ते न इष्ट मन भात ॥[3]

हरिदासी सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के इस विवेचन का सारांश यह है : इस सम्प्रदाय के उपास्य नित्य-किशोर राधा और कृष्ण हैं। इनका

---

१. बिहारिनदेव की वाणी।
२. सिद्धान्त रत्नाकर : स० विश्वेश्वरशरण : रस-सार : पृष्ठ १४।
३. सिद्धान्त रत्नाकर : सिद्धान्त सरोवर : पृष्ठ ५६।

पारस्परिक सम्बन्ध स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष नित्य विहारी भाव का है—क्योंकि ये स्वयं नित्य हैं, अतः इनका विहार भी नित्य है। राधा-कृष्ण के नाम का जप और नित्य विहार का गान एवं ध्यान इस सम्प्रदाय की उपासना है। रसिक दशा को प्राप्त हो राधा-कृष्ण की तत्सुखी भाव से सेवा करना इनका उपासक धर्म है। इसी प्रकार से असीम आनन्द-प्रद प्रेम की प्राप्ति सम्भव है और यही भक्तों का मात्र साध्य है। भगवत रसिक की इस कुंडली द्वारा इस सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के सिद्धान्तों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य-किशोर उपासना, युगल मन्त्र को जाप॥
युगल मन्त्र को जाप वेद रसिकन की बानी।
श्री वृन्दावन धाम इष्ट श्यामा महारानी॥
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होइ न कारज।
भगवत सब सुखदानि प्रगट भये रसिकाचारज॥[१]

१. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ ४३-४४।

स्वामी हरिदास

इतिवृत्त

हरिदासी सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास की भजन भावना और विरक्ति के विषय में कई समकालीन तथा परवर्ती कवियों ने लिखा है। किन्तु इनके जन्म-संवत्, जन्म-स्थान, जाति, कुल, गुरु आदि का उल्लेख किसी भी समकालीन कवि अथवा लेखक ने अपनी रचना में नहीं किया। इसलिये आज इनके जन्म-संवत् आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना अत्यधिक कठिन है।

स्वामी जी की जीवन-सम्बन्धी बातों के विषय में मुख्यतः दो मत है। प्रथम मत के पोषक वृन्दावनस्थ बाँके बिहारी जी के मन्दिर के गोस्वामी है और दूसरा मत स्वामी जी की टट्टी संस्थानीय परम्परा के अनुयायी विरक्त साधुओं का है। जन्म-संवत्, जन्म-स्थान, गुरु आदि सभी बातों के विषय में दोनों मत वालों की भिन्न-भिन्न मान्यता है और दोनों के ही निजी तर्क है। अतः यहाँ दोनों के मतों की संक्षेप से चर्चा अनावश्यक न होगी।

जन्म-संवत् तथा जन्म-स्थान के सम्बन्ध में गोस्वामियों का मत है कि स्वामी जी वि० सं० १५६९ में अलीगढ़ जिले के अन्तर्गत हरिदासपुर (हरदासपुर) नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे। इनके अनुसार स्वामी जी का जन्म गर्ग गोत्रीय सारस्वत ब्राह्मण कुल में हुआ था। गोस्वामियों के इस मत की पुष्टि डा० दीनदयालु गुप्त ने भी की है।[1] इसके विपरीत स्वामी जी के परम्परानुयायी महानुभावों के अनुसार स्वामी जी का जन्म वि० सं० १५३७ में वृन्दावन से आध कोस पर स्थित राजपुर नामक ग्राम के एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल में हुआ था। इस मत की पुष्टि महन्त किशोरीदास कृत 'निजमत-सिद्धान्त' और सहचरिशरण रचित 'गुरुप्रणालिका तथा आचार्योत्सव' आदि ग्रन्थों के आधार पर की जाती है। किन्तु ये सभी ग्रन्थ बहुत बाद के हैं, अतः इनकी प्रामाणिकता निस्सन्देह नहीं मानी जा सकती।

स्वामी हरिदास का निकुंज गमन ९५ वर्ष की अवस्था में हुआ—यह दोनों मतों के विद्वानों को मान्य है। वि० सं० १५६९ में जन्म मानने वालों के अनुसार स्वामी जी का परलोक-गमन-काल वि० सं० १६६४ है और दूसरे

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : पृष्ठ ६६।

वर्ग के मत में वि० सं० १६३१ ही उनका निकुंज गमन काल है। राधावल्लभ सम्प्रदायी श्री हरिराम व्यास की वाणी में कुछ ऐसे पद मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि स्वामी जी का परलोक वास हरिराम व्यास से पहले हो चुका था।

कृष्णदास हरिदास उपास्यो वृन्दावन को चन्द।
जिन बिनु जीवत मृतक भये हम सह्यौ विपति को फन्द।
तिन बिनु उरको सूल मिटे क्यों जिये व्यास अति मन्द॥

डा० विजयेन्द्र स्नातक ने श्री हरिराम व्यास का मृत्यु-समय विक्रमी संवत् १६५० से १६५५ के बीच स्वीकार किया है।[1] अतः जन्म-संवत् तथा मृत्यु-संवत् के विषय में गोस्वामियों की मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती।

स्वामी हरिदास के गुरु और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में भी दोनों मत वालों की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हैं। नाभादास जी की इस पंक्ति **'आसुधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की'** को लेकर गोस्वामी वर्ग यह सिद्ध करने की चेष्टा करता है कि आशुधीरदेव जी स्वामी जी के पिता थे। स्वामी जी के परम्परानुयायी विद्वान् आशुधीरदेव जी को स्वामी जी का गुरु स्वीकार करते हैं। इस मत की पुष्टि टट्टी संस्थान के छठे आचार्य रसिकदेव के इस श्लोक से हो जाती है—

आशुधीरस्य शिष्यो यो हरिदासः प्रकीर्तितः।
अनन्याधिपतिः श्रीमान् गुरूणांच गुरुः प्रभुः॥

अतः स्वामी हरिदास को आशुधीरदेव जी का शिष्य स्वीकार करना ही युक्ति संगत है। सम्प्रदाय के विषय में गोस्वामी-वर्ग स्वामी जी को विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का सिद्ध करने की चेष्टा करता है और दूसरे मत वाले उन्हें निम्बार्कानुयायी। स्वामी जी को विष्णु सम्प्रदायी कहना तो अनर्गल चर्चा करना है। निम्बार्क सम्प्रदाय से उनका सम्बन्ध स्थिर करने की चेष्टा 'चतुः सम्प्रदाय' के आग्रह के कारण बाद में हुई है—इसकी चर्चा हम चतुर्थ अध्याय मे कर आये हैं। अतः हम स्वामी हरिदास को स्वतन्त्र सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में हैं।

स्वामी जी के दो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक में सिद्धान्त के अठारह पदों का संकलन है और दूसरे में राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन है। लीला वर्णन की प्रधानता के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम 'केलिमाल' है।

---

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य : पृष्ठ ३८३।

सिद्धान्त के अठारह पदों में भक्ति-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। अतः माधुर्य्य भक्ति की दृष्टि से केलिमाल का ही महत्त्व है।

माधुर्य्य भक्ति

स्वामी हरिदास के उपास्य युगल राधा-कृष्ण नित्य-किशोर, अनादि, एकरस और एक वयस् हैं। यद्यपि ये स्वयं प्रेम-रूप हैं तथापि भक्त को प्रेम का आस्वादन कराने के लिए ये नाना प्रकार की लीलाओं का विधान करते हैं। इन्हीं लीलाओं का दर्शन एवं भावन करके जीव अखंड प्रेम का आस्वादन करता है। **'कुंज बिहारी बिहारिनि जू को पवित्र रस'**—कहकर स्वामी जी ने यह स्पष्ट सूचित किया है कि राधा-कृष्ण का विहार अत्यधिक पवित्र है। उस विहार में प्रेम की लहरें उठती रहती हैं, जिनमें मज्जित होकर जीव आनन्द में विभोर हो जाता है। इस प्रेम की प्राप्ति उपासक को विरक्त भाव से वृन्दावन-वास करते हुए भजन करने से हो सकती है। स्वामी हरिदास जी का जीवन इस साधना का मूर्त रूप कहा जा सकता है।

राधा-कृष्ण की इस अद्भुत मधुर-लीला का वर्णन स्वामी हरिदास ने वन-विहार, झूलन, नृत्य आदि विभिन्न रूपों में किया है। इस लीला-वर्णन का महत्त्व संगीत की दृष्टि से ही अधिक है। कवित्तों को पढ़कर ऐसा लगता है कि भावों को अपने तान-पूरे की लय के अनुसार बद्ध कर दिया गया है। नृत्य का यह वर्णन ऐसा ही है—

अद्भुत गति उपजत अति नाचत,
दोउ मंडल कुँवर किसोरी।
सकल सुधंग अंग अंग भरि भोरी,
पिय नृत्यत मुसकनि मुखमोरि परिरंभन रस रोरी॥[1]

रसिक भक्त होने के कारण राधा-कृष्ण की लीलाओं को ही वह अपना सर्वस्व समझते हैं। और सदा यही अभिलाषा करते हैं—

ऐसे ही देखत रहौं जनम सुफल करि मानौं
प्यारे की भाँवती भाँवती के प्यारे जुगल किसोरै जानौं॥
छिन न टरौं पल होहुँ न इत उत रहौं एक तानौं।
'श्री हरिदास' के स्वामी स्यामा 'कुंज बिहारी' मन रानौं॥[2]

स्वामी हरिदास ने केलिमाल में केवल राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं

---

१. केलिमाल : कवित्त ३४।
२. केलिमाल : पद ३।

का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अपनी नित्य विहार की साधना अथवा सखी भाव के विषय में कुछ चर्चा नहीं की। अन्य भक्तों के पदों से उस पर जो कुछ प्रकाश पड़ता है, उनकी साधना पद्धति को जानने का वही मात्र साधन है। व्यास जी का यह पद ऐसा ही है—

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।
श्री कुंजविहारी सेये बिन इक छिन न करी काहू की आस॥
सेवा सावधान जानि दिन गावत सुघर रसराज।
ऐसो रसिक भयो नहिं ह्वै है भूमंडल आकास॥
... ...
प्रीति रीति कीनी सबही सों किये न खास खवास।
अपनो व्रत यह और निबाह्यो जब लग कंठ में स्वास॥[1]

केलिमाल के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवित्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व नहीं है। यह सत्य है कि कुछ कवित्तों में भाव की सरसता अवश्य है—किन्तु भाषा की सरसता, स्वच्छता, स्पष्टता और प्रवाह का प्रायः अभाव है। अच्छे कवित्तों के एक उदाहरण से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी—

आवहु लाल ऐसो मद पीजै तेरो झगा मेरी अंगिया धरि।
कंचुकी सुराही नैनन के प्याले दारु देहुंगी ज्यों अंकौ भरि॥
अधरनि चुवाइ लेहु सबरो तनको न जान देहु इत उत ढरि।
श्री हरिदास के स्वामी स्यामा बिहारी की सुहवत असर जहाँ आपुन हरि॥

अतः केलिमाल का महत्त्व सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य की रचना की दृष्टि से ही विशेष है।

---

१. व्यास-वाणी : पूर्वार्द्ध : पृष्ठ ४५।

श्री विट्ठलविपुल देव

इतिवृत्त

श्री विट्ठलविपुल देव स्वामी हरिदास के मामा के पुत्र थे। इनके जन्म-संवत् पर अभी तक कुछ प्रकाश नहीं पड़ा। हरिदासी सम्प्रदाय के विद्वानों के अनुसार ये स्वामी हरिदास से आयु में कुछ बड़े थे और इनका निकुंज गमन स्वामी जी की मृत्यु के एक वर्ष बाद हुआ। इस आधार पर ये स्वामी जी के समकालीन ठहरते हैं और इनका निधन-काल वि० सं० १६३२ माना जा सकता है। इनका जन्म कहाँ हुआ—यह तो निश्चित नहीं, किन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि स्वामी हरिदास के जन्म के बाद आप उनके पास राजापुर में ही रहते थे। और स्वामी जी के विरक्त होकर वृन्दावन आ जाने पर आप भी वृन्दावन आ गये। आयु में बड़े होने पर भी इन्होंने स्वामी हरिदास का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये बाल्यकाल से स्वामी जी से प्रभावित थे और उन्हें एक महापुरुष मानते थे। स्वामी जी की मृत्यु के उपरान्त ये टट्टी संस्थान की गद्दी पर बैठे। किन्तु स्वामी जी के वियोग की भावना इनके हृदय में इतनी प्रबल थी कि एक वर्ष बाद ये स्वयं नित्य-लीला में उनके पास पहुँच गये।

श्री विट्ठलविपुल देव जी का लिखा कोई ग्रन्थ आज नहीं मिलता। केवल चालीस स्फुट पद एवं कवित्त टट्टी संस्थान के आचार्यों की वाणी में संकलित मिलते हैं। इनके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य की अपेक्षा ये भावुक भक्त अधिक थे। इसलिये इन पदों वा कवित्तों में सिद्धान्त-सम्बन्धी चर्चा अधिक नहीं है। यहाँ तो राधा-कृष्ण की लीलाओं का सरस वर्णन ही अधिक हुआ है।

माधुर्य्य भक्ति

विट्ठलविपुल देव के उपास्य श्यामा-श्याम परम रसिक हैं। ये नित्य-किशोर सदा विहार में लीन रहते हैं। इनकी यह निकुंज-क्रीड़ा 'काम-केलि रस-पागी' होने पर प्रेम-परक होने के कारण सदा भक्तों का मंगल विधान करती है। यद्यपि सामान्य रूप से राधा और कृष्ण को श्री विट्ठलविपुल देव ने नित्य विहारी स्वीकार किया है, किन्तु कुछ लीला परक पदों से उनका स्वकीया सम्बन्ध भी सूचित होता है।

मिलि खेलि मोहन सो करि मनभायो।
कुंज बिहारीलाल रसबस बिलसत मेरे तन मन फूलि अपनो कर पायो॥
तुम बिन दुलहिन ए बिन दूलह सघन लता गृह मंडप छायो॥
कोकिल मधुपगन परेगी भाँवरी तहाँ श्री विट्ठलविपुल मृदंग बजायो॥[1]

उपास्य-युगल की लीलाओं का गान एवं ध्यान ही इनकी उपासना है। अतः इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रातःकाल से निशा-पर्यन्त होने वाली सभी लीलाओं का गान अपनी वाणी में किया है। इनमें से वन-विहार, झूलन, वीणा-वादन-शिक्षा आदि लीलाएँ उल्लेखनीय है। जिनकी बाँसुरी की तान सुनकर चर, अचर सभी मोहित हो जाते हैं—उन्हीं को वीणा सिखाती हुई राधा का यह वर्णन भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से सुन्दर है—

प्यारी पियहि सिखावति बीना।
ताल बंध्यान कल्यान मनोहर इत मन देह प्रवीना॥
लेत सम्हारि-सम्हारि सुघरवर नागरि कहति फबीना।
श्री विट्ठलविपुल विनोद बिहारी कौ जानत भेद कवीना॥[2]

इसी प्रकार निम्न पद में कवि ने राधा की निशि-विहार के बाद की छवि का सफल चित्रण किया है—

प्रिया स्याम संग जागी है।
सोभति कनक-कपोल ओप पर दसन-छाप-छवि लागी है।
अधरन रंग छुटी अलि की वल सुरति रंग अनुरागी है।
श्री विट्ठलविपुल कुंज की क्रीड़ा काम-केलि-रस पागी है॥[3]

लीला-वर्णन के अतिरिक्त ऋतु अथवा प्राकृतिक-सुषमा का वर्णन इनके पदों मे नही मिलता। अपने उपास्य-युगल की लीला-भूमि वृन्दावन के वर्णन में भी इनका ध्यान श्यामा-श्याम की क्रीड़ाओं की ओर रहा है, उसकी सुषमा की ओर नहीं—

सुनहु रसिक वृन्दावन को जस।
कुंज-केलि मानिनी मनोहर रसवस भए नाहिने अपने बस॥
इहि बन नित्य नवीन जुगल बर द्रुमदल दिव्य अमित सलिता लस।
श्री विट्ठलविपुल विनोद विहारी को पान कियो चाहत रसना रस।[4]

---

१. विट्ठलविपुलदेव की वाणी (हस्तलिखित) : पद ३१
२. वही : पद २९
३. वही : पद ७
४. वही : पद १२

श्री विट्ठलविपुल देव के अनुसार भक्त का उपासक धर्म राधा-कृष्ण की सखी भाव से सेवा है। यह सेवा उनकी लीलाओं के लिए उपयुक्त सामग्री जुटाकर उनमें सहयोग देना है। निम्न पद से सखी सेवा का अच्छा परिचय मिलता है।

प्रिया पाँव धरिये पिय पहियाँ।
कुंज भवन के द्वारे ठाड़े कुँवर कदम की छहियाँ॥
सुनत बचन हँसि विलंब न कीनो चली अली गहि बहियाँ।
श्री विट्ठलविपुल विनोद विहारी लाय लई उर महियाँ॥[1]

ऊपर उद्धृत पदों के आधार पर कहा जा सकता है कि विट्ठलविपुल केवल रसिक भक्त न थे, एक भावुक कवि भी थे। उनके पदों में भाव और भाषा दोनों की सरसता, स्पष्टता और स्वाभाविकता सर्वत्र लक्षित होती है।

१. वही : पद २१

श्री बिहारिनदेव

इतिवृत्त

श्री बिहारिनदेव हरिदासी सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्यों में से हैं। ये श्री विट्ठलविपुलदेव के शिष्य थे। महन्त किशोरीदास ने अपने ग्रन्थ 'निजमत-सिद्धान्त' में इनका जन्म वि० सं० १५६१ दिया है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह संवत् विद्वानों को मान्य नहीं है। यह बात निश्चित है कि बिहारिनदेव टट्टी संस्थान की आचार्य-गद्दी पर अपने गुरु विट्ठलविपुलदेव के देहान्त के बाद बैठे थे विट्ठलविपुलदेव जी का निकुंजगमन काल विक्रमी संवत् १६३२ है। अतः इस आधार पर बिहारिनदेव जी का समय इस संवत् के आसपास माना जा सकता है।

बिहारिनदेव दिल्ली-निवासी थे। इनका जन्म शूरध्वज ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता मित्रसेन अकबर के राज्य-सम्बन्धी कार्यकर्त्ताओं में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। अपने शील-स्वभाव के कारण पिता की मृत्यु के उपरान्त बिहारिनदेव को भी अपने पिता का सम्मानित पद प्राप्त हो गया। किन्तु ये स्वभाव से विरक्त थे, अतः युवावस्था में ही घर छोड़कर वृन्दावन आ गये। और वहीं भजन-भाव में लीन होकर रहने लगे। इनकी रस-रीति, विरक्ति और शील-स्वभाव का वर्णन केवल हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने नहीं, वरन् अन्य सम्प्रदाय के भक्तों ने भी किया है।

बिहारिनदेव का महत्त्व अपने सम्प्रदाय में अत्यधिक है। हरिदासी सम्प्रदाय के यही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने सम्प्रदाय के उपासना सम्बन्धी सिद्धान्तों को विशद रूप से प्रस्तुत किया। रस-रीति की तीव्र अनुभूति के कारण इनके प्रतिपादित सिद्धान्त बहुत स्पष्ट हैं, और इसीलिए सहज-गम्य हैं। सत्य तो यह है कि इन्हीं सिद्धान्तों की नींव पर आज हरिदासी सम्प्रदाय का विशाल भवन स्थिर है।

बिहारिनदेव की अप्रकाशित वाणी दो भागों में विभक्त है—सिद्धान्त के दोहे और रस शृंगार के पद। सिद्धान्त के दोहों की संख्या लगभग आठ सौ है और शृंगार के पद ३०० के आसपास हैं। सिद्धान्त के दोहों में इन्होंने नित्य विहार के स्वरूप तथा रसोपासना पर उचित मात्रा में प्रकाश डाला है। शृंगार के पद राधा-कृष्ण की नित्य विहार लीला से सम्बद्ध हैं। तात्पर्य

यह है कि बिहारिनदेव की रचना सिद्धान्त तथा लीला-वर्णन दोनों दृष्टियों से पूर्ण है। इसीलिए हरिदासी सम्प्रदाय की रस-रीति की चर्चा करते समय हमने मुख्य रूप से इन्हीं के दोहों को उद्धृत किया था।

माधुर्य्य भक्ति

बिहारिनदेव के उपास्य श्यामा-श्याम अजन्मा, नित्य-किशोर, तथा नित्य विहारी हैं। इनका रूप, भाव और वयस् समान हैं। यद्यपि इनकी विहार लीला अपनी रुचि के अनुसार होती है, किन्तु उसका मूल उद्देश्य प्रेम का प्रकाशन है। अतः भक्त इन विहार लीलाओं का चिन्तन एवं भावन करके प्रेम का आस्वादन करते हैं। बिहारिनरेव की रचना मे निरूपित नित्य विहार की चर्चा हम ऊपर सम्प्रदाय की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप में कर आए हैं। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ है।

बिहारिनदेव ने अपने उपास्य-युगल राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन अनेक पद, कवित्त, सवैये आदि में बहुत सुन्दर ढंग से किया है। इनमें मान, भोजन, झूलन, नृत्य, विहार आदि सभी लीलाओं का समावेश है। मान का त्याग कर अपने प्रियतम कृष्ण को सुख देने के लिए जाती हुई राधा का यह वर्णन बहुत सरस है। इसमें भाव और भाषा की मधुरता, भाषा का प्रवाह, सौकुमार्य, स्पष्टता आदि दर्शनीय हैं—

बिगसे मुखचन्द्र अनंद सने सचिहार कुचं विच भाँति अली।
उतते रस राशि हुलास हिये इत चोप चढ़ी मिलि श्याम अली॥
सुविहारी विहारिनिदासि सदा सुख देखत राजत कुंज थली।
तजि मान अयान सयान सबै यह लाल को ललना सुख देन चली॥

निशि-विहार के उपरान्त प्रातःकाल सखियाँ कृष्ण की दशा देखकर सब रहस्य जान गई हैं, किन्तु कृष्ण नाना प्रकार से उस रहस्य को छिपाने का प्रयत्न करते है। इसी व्याज से निम्न पद में कवि ने कृष्ण की सुरतान्त छवि का सांगोपांग चित्रण किया है —

आज क्यों मरगजी उरमाल।
देखिये विमल कमल नयन युगल लगत न पलक प्रवाल।
अति अरसात जम्हात रसमसे रस छाके नव बाल॥
अधर माधुरी के गुण जानत वनितन वचन रस ढाल।
फबे न पेंच सुदृढ शिथिल अलक बिगलित कुसुम गुलाल॥

विवश परे मन मनत आपने रंग पग भूषण माल।
साखिदेत सब प्रगट पिशुन तन काहे दुरावत लाल ॥
अब कछु समुझि सयान बनावत बातें रचित रसाल।
बिहारीदास पिय प्रेम प्रिया वश बसे हैं कुंज निशि ख्याल॥

मधुर रस परिपाक की दृष्टि से यह पद उत्तम है—

हँसि मिलवो मेरे जिय ते न टरई।
सहज चिते चित चोर परस्पर प्रेम बचन सरस सुर ढरई॥
मदन मुदित बंद ही बंद छोरत उर जोरत मुख पर मुख धरई।
परम कृपाल रसाल लाड़िली लालै लटकि लपटि भुज भरई॥
प्यारी जू प्राण नाथ रस विलसत श्रम जलकन बरषत मन हरई।
श्री बिहारिनिदासि अंचल चंचल कर यह अवसर आनन्द अनुसरई॥

सत्य तो यह है कि राधा-कृष्ण की नित्य विहार-परक लीलाएँ अपने सभी रूपों में भक्त के लिए सुखद हैं। अतः उसकी यही अभिलाषा है कि वह इस प्रकार की आनन्द प्रद लीलाओं को नित्य-प्रति देखा करे।

अंगन संग लसें विलसें परसे सुख सिन्धु न प्रेम अघैहौं।
रूप लखें नित माधुर बैन श्रवन्न सु चैन सुनें गुण गैहौं॥
दंपति संपति संचि हियें धरि या सुख ते न कहूँ चलि जैहौं।
नित्य विहार अधार हमार विहारी विहारिनि की बलि जैहौं॥

राधा-कृष्ण की लीला-भूमि वृन्दावन की सुषमा का भी कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से निम्न कवित्त में वर्णन किया है। इसमें भाव और भाषा दोनों की प्रौढ़ता लक्षित होती है।

श्याम सुधामय रची अवनी जू बही सलिला सुख पुंजन की जू।
है मणि भूमि लता रहि भूमि सु केलि कला दुख दुंजन की जू॥
नील अरुण सुपीत प्रसून कहा जु कहौं अलि गुंजन की जू।
दास बिहारी बिहारिनि के चित्त ते न टरै छबि कुंजन की जू॥

उपास्य-युगल के नित्य विहार की इन लीलाओं के दर्शन का अवसर केवल सखी भाव से उनकी सेवा करने से प्राप्त होता है। इस सेवा-धर्म को स्वीकार कर भक्त उपास्य-युगल की रुचि के अनुसार उनकी लीलाओं के अनुकूल सभी प्रकार की सामग्री संयोजित कर देता है। और तदुपरान्त राधा-कृष्ण के विहार-लीन हो जाने पर उनकी लीला का लता-रन्ध्रों से दर्शन कर निहाल हो जाता है। सखियों की सेवा से प्रसन्न होकर निकुंज की रानी भक्त पर

कृपा करती है और इनकी कृपा से भक्त को उस रस की प्राप्ति होती है जो ब्रह्मादि के लिए भी दुर्लभ है।

जै श्री वृन्दावन नव निकुंज में संतत सहज विराजत जोरी।
अति अगाध महिमा रस जिनको सो पैयत इक कृपा किशोरी॥
शुक नारद से भक्त मुक्त सनकादिक सुहृदन सों·····चोरी।
श्री बिहारीदास यश कहाँ लौं बरनौं रस रसना सहस्र तउ मति थोरी॥

तात्पर्य यह है कि सखी भाव परायण भक्त के लिए प्रेम का आस्वादन सहज सम्भव हो जाता है। अतः बिहारिनदेव की दृष्टि में सखी भाव से प्रिया-प्रियतम की सेवा करना रस-प्राप्ति का मात्र साधन है। अन्य साधनों से तो केवल श्रम बढ़ता है।

बिहारीदास हरिदासी सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य ही नहीं एक प्रमुख रसिक भक्त कवि भी है। उनके पदों, कवित्तों और सवैयों में भाव की तीव्रता और सरसता सर्वत्र देखी जा सकती है। उनकी भाषा में अलंकारों का प्रयोग बहुत नहीं है किन्तु अपनी स्वाभाविकता, मधुरता, प्रवाहशीलता आदि के कारण उनकी भाषा अत्यधिक आकर्षक है। इसीलिए बिहारिनदेव के कवित्त सवैये किसी भी उत्तम भक्ति-भाव-प्रधान काव्य-संग्रह की शोभा बढ़ा सकते है।

श्री नागरीदास

इतिवृत्त

श्री नागरीदास हरिदासी सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य हैं। महन्त किशोरीदास के अनुसार आपका जन्म विक्रमी संवत् १६०० में हुआ।[1] ये तत्कालीन बंगाल के राजा के मंत्री कमलापति के पुत्र थे। ऐसा प्रचलित है कि इनके पिता पुनः प्राण-दान देने के कारण बिहारिनदेव जी का अपने ऊपर बहुत ऋण मानते थे। उसी ऋण से मुक्त होने के लिए उन्होंने अपने दो विरक्त और साधु स्वभाव के पुत्रों को वृन्दावन श्री बिहारिनदेव की चरण-शरण में भेज दिया। इन दो पुत्रों में बड़े श्री नागरीदास और छोटे श्री सरसदास थे।

नागरीदास की जाति ब्राह्मण और कुल गौड़ प्रसिद्ध है। किन्तु इनके जन्म-स्थान आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ पता नहीं है। केवल इस आधार पर कि इनके पिता बंगाल के राजा के मंत्री थे—ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि नागरीदास का जन्म उसी प्रदेश में हुआ होगा। श्री बिहारिनदेव जी का शिष्यत्व स्वीकार कर लेने पर इनका शेष जीवन वृन्दावन में व्यतीत हुआ। दीक्षा ग्रहण के समय इनकी आयु बाईस वर्ष की थी और अड़तालीस वर्ष का समय इन्होंने वृन्दावन में भजन-भाव में व्यतीत किया। अतः इनका परलोक-गमन काल वि० स० १६७० माना जा सकता है।[2]

नागरीदास जी के कुछ स्फुट पद, कवित्त, सवैये आदि हस्तलिखित रूप में मिलते हैं। इनका संकलन टट्टी-संस्थानीय अष्टाचार्यों की वाणी में हुआ है। विषय की दृष्टि से कुछ पद, कवित्त आदि में पूर्वाचार्यों की वन्दना की गई है और अन्य पदों में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। पूर्वाचार्यों की वन्दना के पदों से ही हमें इनकी भजन-भावना का भी पता चलता है।

माधुर्य्य भक्ति

नागरीदास के उपास्य श्यामा-श्याम नित्य-किशोर, अनादि, एकरूप और परम रसिक हैं। ये सदा विहार में लीन रहते हैं। इनका यह विहार निजी सुख के लिए नहीं, दूसरे की प्रसन्नता के लिए है। अतः यह विहार नितान्त

---

१. सम्वत् सोरह सै तनु धार्‌यो। महा शुक्ल पंचमी विचार्‌यो॥
—निजमत सिद्धान्त।

२. निम्बार्क माधुरी : बिहारीशरण : पृष्ठ २६६

शुद्ध है। इसके आगे काम का सुख कुछ भी नहीं है।

राग रंग रस सुख बाढ्यो अति सोभा सिंध अपार।
विपुल प्रेम अनुराग नवल दोउ करत अहार विहार॥
श्री वृन्दाविपुन विनोद करत नित छिन छिन प्रति सुखरासि।
काम केलि माधुर्य प्रेम पर बलि बलि नागरीदासि॥[1]

नागरीदास ने राधा-कृष्ण के इस नित्य विहार का वर्णन विविध रूपों में किया है। निम्न पद में किया गया राधा-कृष्ण के जल-विहार का वर्णन अच्छा है—

विहरत जमुना जल जुगराज।
श्री वृन्दाविपुन विनोद सहित नवजुवतिन जूथ समाज॥
छिरकत छैल परस्पर छवि सों सखी संपति साज।
नवल नागरीदास श्री नागर खेलत मिले चलै भाज॥

कहीं-कहीं इन्होंने लीला-वर्णन में रूपकात्मक शैली का भी प्रयोग किया है—

खेलत चतुर चौंप चौगान।
मंदिर नवल निकुंज विराजत नवरंग मदन मैदान॥
मन तुरंग गुन कटाछनि दृग टोलनि कुच ढीह पर बान।
होति तहाँ सरस प्रेम परस्पर रीझि सखी नागरीदास पर वारौं प्रान॥

नागरीदास के विचार में नित्य विहार की साधना सरस होते हुए भी सरल नहीं है। क्योंकि इसमें जरा सी भी असावधानी से पतन की सम्भावना बनी रहती है।

नित्य विहार सार सब को अति दुर्लभ अगंम अपार।
अनन्य धर्म संधि समुझे बिन माया कठिन किवार॥

नित्य विहार की साधना के लिए करुवा, कामरि तथा कोपीन धारण कर विरक्त भाव से वृन्दावन में विचरण करते हुए युगल-अनन्य राधा-कृष्ण के भजन की आवश्यकता है। इसी भजन से कालान्तर में सहचरी भाव की प्राप्ति होती है, जो राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के दर्शन करने का मात्र साधन है।

लै करुवो कोपीन कामरी कुंज निकुंज निकूल निवास।
तब मिलि है मीत मन मुदित श्री बिहारिनदास खवास॥

---

१. नागरीदास की वाणी (हस्तलिखित)

श्री सरसदास

इतिवृत्त

श्री सरसदास नागरीदास के छोटे भाई तथा बंगाल के राजा के मंत्री कमलापति के दूसरे पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १६११ में गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ। ये स्वाभाव से विरक्त थे—अतः अपने भाई नागरीदास जी के साथ ये भी वृन्दावन आ गए और श्री बिहारिनदेव से दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के उपरान्त इनका शेष जीवन वृन्दावन में व्यतीत हुआ। वि० सं० १६७० में अपने बड़े भाई नागरीदास के परलोक-गमन के उपरान्त ये टट्टी-संस्थान की आचार्य-गद्दी पर बैठे। किन्तु तेरह वर्ष के उपरान्त वि० सं० १६८३ में इन्होंने नित्य-निकुंज लीला में प्रवेश पाया।

सरसदास जी के कुछ पद, कवित्त तथा सवैये स्फुट रूप में उपलब्ध होते हैं, जो टट्टी-संस्थानीय अष्टाचार्यों की वाणी में संकलित है। इनकी समस्त वाणी 'सिद्धान्त के पद' तथा 'शृंगार के पद'—इन दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग में विशेष रूप से पूर्वाचार्यों की स्तुति एवं वन्दना की गई है। शृंगार के पदों में राधा-कृष्ण की नित्य विहार परक विविध लीलाओं का वर्णन है।

माधुर्य्य भक्ति

सरसदास के उपास्य श्यामा-श्याम आनंदनिधि, गुणनिधि और लावण्य-निधि हैं। ये सदा प्रेम में मत्त विहार में लीन रहते हैं। राधा-कृष्ण के इसी विहार का ध्यान सरसदास की उपासना है। किन्तु यह उपासना सभी को प्राप्य नहीं है। स्वामी हरिदास जिस पर कृपा करें वही इसे प्राप्त कर सकता है।

राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं में से सरसदास ने झूलन, नृत्य, जल-विहार, रति आदि सभी का वर्णन किया है। अपनी प्रिया को प्रसन्न करने के लिए उसका शृंगार करते हुए कृष्ण का यह वर्णन भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से सुन्दर है—

लाल प्रीया को सिंगार बनावत।
कोमल कर कुसुमनि कच गुंथत मृग मद आडर चित सचुपावत॥
अंजन मनरंजन नख वरकर चित्र बनाइ बनाइ रिझावत।
लेत बलाइ भाइ अति उपजत रीझि रसाल माल पहिरावत॥

अति आतुर आसक्त दीन भये चितवत कुँवर कुँवरी मन भावत।
नैननि में मुसिक्याति जानि पिय प्रेम विवस हसि कंठ लगावत॥
रूपरंग सीवाँ ग्रीवाँ भुज हसत परस्पर मदन लड़ावत।
सरसदास सुख निरखि निहाल भये गई निसा नव नव गुन गावत॥

इसी प्रकार राधा-कृष्ण के जल-विहार का यह वर्णन भी सरस है —

विहरत जमुना जल सुखदाई।
गौर स्याम अंग अंग मनोहर चीरि चिकुर छवि छाई॥
कबहुँक रहसि वरसि हसि धावत प्रीतम लेत मिलाई।
छिरकत छैल परस्पर छवि सौं कर अंजुली छुटकाई॥
महामत्त जुगवर सुखदाइक रहत कंठ लपटाई।
क्रीड़त कुँवरि कुँवर जल थल मिलि रंग अनंग बढ़ाई॥
हाव भाव आलिंगन चुंबन करत केलि सुखदाई।
भीजे वसन सहचरी नऊ तन चित्र बनाई॥
रचे दुकूल फूल अति अंग अंग सरसदास बलि जाई॥

सरसदास की दृष्टि में उपास्य युगल की सेवा करना ही उपासक का श्रेष्ठ-धर्म है। स्वामी हरिदास की प्रशस्ति में गाये गए इस कवित्त से उनकी इस साधना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

विविध वर माधुरी सिंधु में मगन मन,
वसत वृन्दाविपुन वर सुधामी।
महलनि जु टहल में सहल पावै न कोउ,
छत्रपति रंक जिते कर्म कामी॥
रसिक रसरीति की रीति सों प्रीति नित,
नैन रसना रसत नाम नामी।
हृदै-कमल मद्धिय सुख सेज राजत दोऊ,
रसिक सिरमौर श्री हरिदास स्वामी॥

अंग अंग की सब सुधि भूली देखत नंद किशोर।
मेरो मन हर लियो तब ही को जब चितयें यह ओर ॥[1]

गोपियों के प्रेम से प्रभावित हो श्रीकृष्ण उनकी मनोरथ-पूर्ति का वचन दे देते हैं। इसका पहला रूप हमें दानलीला के पदों में लक्षित होता है। गोपियों से जब कृष्ण दान की याचना करते हैं—तो वह तुरन्त सभी कुछ देने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं, क्योंकि वे कृष्ण-चरणों में पहले ही आत्म-समर्पण कर चुकी हैं। अतः किसी प्रकार की अमर्यादित छेड़छाड़ यहाँ लक्षित नहीं होती।

ग्वालिनि दान हमारो दीजे।
अति मनमुदित होय ब्रजसुंदरि कहत लाल हसि लीजे ॥
दीजे मन मेरो अब प्यारे निरखि निरखि मुख जीजे।
अति रस गलित होत वह भामिनी मनमाने सो कीजे ॥
चलि न सकत अति ठठकि रहत पग रूप रासि अब पीजे।
श्री विट्ठलगिरिधरन लाल सों नवल नवल रस भीजे ॥[2]

किन्तु कुछ पदों में हास-परिहास की झलक अवश्य मिल जाती है।

जीती हो चंद्रावली नारि।
जीती हैं व्रजमंगलराधे जीती सुंदरि गोपकुमारि ॥
हारे हैं व्रजराज लड़ते रहे हैं सबके वदन निहारी।
पकरो पाय कह्यो करो मेरो कह रही जिय माँझ विचारी ॥
पहेरो हार इनें पेहेरायो करो कुँवर आपन मनभाये।
श्री विट्ठलगिरिधर सबही की गहि गहि भुजा हिये सों लाये ॥[3]

कृष्ण की मधुर लीलाओं में केवल संयोग पक्ष की रास, झूलन, होरी, द्यूत-क्रीड़ा आदि लीलाओं का वर्णन गंगाबाई ने अपने पदों में किया है। सुरत वर्णन के पदों का प्रायः अभाव है। जहाँ सुरत का प्रसंग आया भी है वहाँ उसे इस ढंग से रूपकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है कि वह स्पष्ट रूप से रति का वर्णन नहीं प्रतीत होता।

झूलो तो सुरत हिंडोरे झुलाऊँ।
मरुवे मयार करौं हित चित के तन मन खंभ बनाऊँ ॥

---

१. पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह : प्रथम भाग : पृष्ठ ४७४।
२. वही : प्र० भा० : पृष्ठ १६४।
३. वही : प्र० भा० : पृष्ठ १८०।

सुधि पटली बुद्धि डाँडी बेलन नेह बिछौना बिछाऊँ ।
अति ओसेर धरों रुचि कलशा प्रीति ध्वजा फेहराऊँ ।।
गरजन कोहोक किलक मिलवे की प्रेम नीर बरषाऊँ ।
श्री विट्ठलगिरिधरन झुलाऊँ जो इकेले करि पाऊँ ।।[1]

साधारणतया उनके वर्णन में सहजता और सरलता ही दृष्टिगत होती है। होली का यह वर्णन इसी सरलता और स्वाभाविकता के कारण सुन्दर लगता है। ऐसे अवसर पर गोप-युवतियों का कृष्ण के साथ मनमानी करना सर्वथा अवसर के अनुकूल है—

खेलें चाँचर नर नारि माई होरी रंग सुहावनी ।
... ... ।।
एक जु युवती धाय गहि लाई भर पिय को अंकवारी ।
एकन लई झटककर मुरली एकन लीये हार उतारी ।।
एक मुख माँड आँज दोऊ नयना एक हसत दे तारी ।
एक आलिंगन देत लेत एक रही जो वदन निहार ।
एक अधर रस पान करत एक सर्वस डारत वार ।।
एक मगन रस भुज प्रीतम की लेत आप उरधारी ।
धन्य ब्रजयुवती भाग्य पूरन ये यह रस बिलसनहारी ।।[2]

कृष्ण से सभी गोपियाँ प्रेम करती है, अतः कृष्ण अवसरानुकूल सभी गोपियों की अभिलाषा पूर्ण करते हैं। किन्तु कभी-कभी किसी गोपी को उनकी बहुनायकता पर खीज आ ही जाती है। इस प्रकार के खीज सूचित करने वाले पदों में कृष्ण की सुरतान्त वेषभूषा का सुन्दर वर्णन किया गया है।

इकरंग स्याम सदा तुम आज भये पचरंग ।
चंदन वदन अधरन अंजन पीक कपोल सुरंग,
हौं तो तिहारे हाथ बिकानी तुम औरन के संग ।
श्री विट्ठलगिरिधर बहुनायक सीखे ऐसे ढंग ।।[3]

इसी प्रकार निम्न कवित्त में सम्भोग-सुख-हर्षिता राधा के भावों को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भाव और भाषा दोनों की ही सरसता लक्षित होती है—

---

१. वही : प्र० भा० : पृष्ठ ४६८।
२. वही : द्वि० भा० : पृष्ठ १४६।
३. वही : तृ० भा० : पृष्ठ ५६।

आज उठ भोर नव कुंज कानन सखी ठाढ़ि भई राधिका रंगभीनी ।
विलस सुख नवरंग पिय स्याम घन काम की सेन सब जीत लीनी ।।
सुभग विकसत वदन नयन अति रससे मोर मुखहास कछु सकुच दीनी ।
श्री विट्ठलगिरिधरन संग नागरी जाग सब रेन आनन्द कीनी ।।'

उपर्युक्त पदों में गंगाबाई की उपासना पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । कृष्ण की मधुर-लीलाओं के गान और ध्यान द्वारा प्रेम की अनुभूति इनके जीवन का लक्ष्य रहा है । किन्तु अपने किसी पद में गंगाबाई ने उपासक के स्वरूप का संकेत नहीं किया है । अतः इस अवस्था में उस विषय में कुछ कह सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है । पर उपासना के पदों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गोपी-प्रेम उनके लिए आदर्श रहा ।

१. वही : तृ० भा० : पृष्ठ ४२ ।

ग्यारहवाँ अध्याय

माधुर्य्य भक्ति के अन्य कृष्ण-कवि

ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य्य भक्ति का प्रवेश मुख्यतः ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के द्वारा हुआ। कृष्ण-काव्य के प्रायः सभी भक्त-कवि जिन्होंने राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का गान ब्रजभाषा में किया, किसी न किसी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय में दीक्षित थे अथवा स्वयं सम्प्रदाय प्रवर्तक थे। सूरदास, परमानन्ददास, श्रीभट्ट, गदाधर भट्ट, ध्रुवदास, हरिराम व्यास आदि प्रथम वर्ग के भक्त-कवि हैं और राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हित हरिवंश और हरिदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास ऐसे कृष्ण-भक्त कवि हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से सम्प्रदाय की स्थापना की। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृष्ण-काव्य के अधिकांश भक्त-कवि जिनसे हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी परिचित है, किसी न किसी कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी कृष्ण-कवि हुए हैं, जिन्होंने कृष्ण की मधुर-लीलाओं का गान अवश्य किया है, किन्तु उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से किसी भी सम्प्रदाय के साथ नहीं रहा। इन कवियों में से मीराबाई का उल्लेख हम तृतीय अध्याय में कर आए हैं। इनकी माधुर्य्य भक्ति ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों से विलक्षण है। इन्होंने यद्यपि राधा-कृष्ण एवं गोपी-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भी अपने पदों में किया है—किन्तु वह वर्णन, प्रधान नहीं है। अधिकांश पद मीरा और कृष्ण के परस्पर मधुर-सम्बन्ध को ही स्पष्ट करते हैं। अतः इन्हीं का महत्त्व अधिक है।

इस प्रकार के दूसरे कवि हैं—रसखान। ऐसा प्रचलित है और चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता से भी स्पष्ट होता है कि इन्हें गोस्वामी विट्ठलनाथ ने दीक्षा दी थी। किन्तु मुसलमान होने के कारण वल्लभ सम्प्रदाय के वैष्णवों में इनकी गणना करने में सम्प्रदायी विद्वानों को आज भी संकोच होता है। पर जिस तन्मयता से इन्होंने राधा कृष्ण और गोपियों की मधुर-लीलाओं का गान किया है उसके आधार पर इन्हें वैष्णव भक्त मानने में किसी रसिक को संकोच न होगा। साम्प्रदायिक भावना के बन्धन में न पड़कर रसखान ने मधुर-लीलाओं का सामान्य रूप से वर्णन किया है। उसमें प्रेम का सहज आत्म-समर्पण, अखंड विश्वास और अनन्य निष्ठा पूर्ण मात्रा में है। इसीलिए मधुर-

लीलाओं के वर्णन की दृष्टि से रसखान के कवित्त और सवैयों का विशेष महत्त्व है। किन्तु सैद्धान्तिक आधार के अभाव में रसखान माधुर्य्य भक्ति के विशिष्ट स्वरूप को अपनी रचना में स्थान न दे सके। अतः इस अध्याय में हम केवल मीरा की माधुर्य्य भक्ति के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

मीराबाई

प्रसिद्ध कवयित्री मीरा जिनके पदों का गायन उनकी भक्ति-भावना तथा गेयता एवं मधुरता के कारण भारत के प्रायः सभी भागों में होता है राजस्थान की रहने वाली थी। मीरा से साधारण जनता तथा विद्वानों का परिचय उनके गीतों के कारण था। ये गीत भी लिखित रूप में न होने के कारण अपने आकार-प्रकार में भाषा और भाव की दृष्टि से बदलते चले गये। इसी का यह परिणाम हुआ कि आज एक भाव के पद विभिन्न भाषाओं में विभिन्न रूपों में उपलब्ध होते हैं किन्तु इन पदों द्वारा प्राप्त प्रसिद्धि के कारण साहित्यिक तथा ऐतिहासिक विद्वानों की जिज्ञासा मीरा के सम्बन्ध में आवश्यक परिचय प्राप्त करने की हुई। ऐतिहासिक दृष्टि से कर्नल टॉड तथा स्ट्रैटन ने इनके जीवन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की और स्व० मुंशी देवी प्रसाद मुंसिफ ने 'मीराबाई का जीवन और उनका काव्य' यह पुस्तक लिखकर सर्वप्रथम साहित्यिक दृष्टि से उनके सम्बन्ध में विद्वानों को परिचित कराया। इनके अतिरिक्त भी कई विद्वानों ने मीरा के जीवन पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इन सभी विद्वानों की मान्यताओं को सन्मुख रखते हुए संक्षेप में मीरा का जीवन वृत्त इस प्रकार दिया जा सकता है।

जीवन वृत्त

मीराबाई जोधपुर के संस्थापक सुप्रसिद्ध, राठौड राजा राव जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी की पौत्री तथा रत्नसिंह जी की पुत्री थीं। इनका जन्म कुड़की गाँव में सं० १५५५ विक्रमी के आस-पास हुआ था। मीराबाई का श्री गिरधर लाल के प्रति बचपन से ही सहज प्रेम था। किसी साधु से गिरधर लाल की एक सुन्दर मूर्ति इन्हें प्राप्त हुई। मीरा उस मूर्ति को सदा अपने पास रखतीं और समयानुसार उसकी स्नान, पूजा, भोजन आदि की व्यवस्था स्वयं करतीं। एक बार माता से परिहास में यह जानकर कि मेरे दूल्हा ये गिरधर गोपाल है—मीरा का मन इनकी ओर और भी अधिक झुक गया और ये गिरधर लाल को अपना सर्वस्व समझने लगीं।

यद्यपि मीरा का जन्म अच्छे कुल में हुआ और उनका लालन-पालन भी बहुत स्नेह से हुआ तथापि बचपन से उन्हें कष्टप्रद घटनाओं को सुनना व देखना पड़ा। मीराबाई की माता उनकी बाल्यावस्था में परलोक चली गईं।

पिता को लड़ाइयों से कम अवकाश मिलता था—अतः इनको राव दूदा जी ने अपने पास मेड़ता में बुला लिया। वहाँ उन्हें अपने पितामह के स्नेह के साथ-साथ उनके धार्मिक भाव भी प्राप्त हुए और इस प्रकार मीरा के गिरधर प्रेम का अंकुर यहाँ पल्लवित हो उठा। राव दूदा जी की मृत्यु के उपरान्त उनके बड़े पुत्र राव वीरमदेव जी ने इनका पालन-पोषण किया।

सं० १५७३ विक्रमी में मीरा का विवाह मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ हुआ। मेवाड़ में आकर इनका वैवाहिक जीवन अत्यधिक सुख से व्यतीत होने लगा। किन्तु यह सुख कुछ समय ही रहा। कुँवर भोजराज शीघ्र मीरा को विधवा बनाकर इस संसार से सदा के लिए चले गए। मीरा ने यह दुःसह वैधव्य का समय किसी प्रकार गिरधरलाल की उपासना में व्यतीत करने का निश्चय किया। कुछ वर्ष उपरान्त मीरा के पिता और श्वसुर दोनों का देहान्त हो गया। इन घटनाओं से मीरा का मन संसार से बिल्कुल विरक्त हो गया और वे अपना अधिक से अधिक समय भगवद्भजन और साधु सत्संग में व्यतीत करने लगीं। धीरे-धीरे उन्होंने लोक-लाज छोड़ कर प्रेमवश भगवान् के मन्दिरों में नाचना प्रारम्भ कर दिया।

किन्तु ये बातें मेवाड़ के प्रतिष्ठित राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ीं—अतः महाराणा सांगा के द्वितीय पुत्र रत्नसिंह और उनके छोटे भाई विक्रमजीतसिंह को इनका यह भक्ति भाव बिल्कुल न रुचा। विक्रमजीतसिंह ने नाना प्रकार के उचित अनुचित साधनों से मीराबाई की इहलीला समाप्त करने की पूरी चेष्टा की। इन अत्याचारों का उल्लेख स्वयं मीरा ने अपने गीतों में किया है—

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।
सांप पिटारा राणा भेज्यो, मीरा हाथ दियो जाय॥
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय॥
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अंचाय।
... ... ॥[1]

इस प्रकार के अत्याचारों से तंग आकर मीरा अपने पीहर मेड़ता चली गई। किन्तु कुछ समय उपरान्त मेड़ता का राज्य मीरा के चाचा वीरमदेव के हाथ से चला गया। इस घटना से प्रोत्साहित होकर मीरा तीर्थ-यात्रा के लिए

१. मीराबाई की पदावली : पदसंख्या ४५।

निकल पड़ी और वृन्दावन होते हुए द्वारका चली गई। वहीं ये रणछोड़ भगवान की भक्ति में तल्लीन रहने लगीं। प्रसिद्ध है कि अन्तिम समय में मीरा को बुलाने के लिए उनके पीहर और ससुराल वालों ने ब्राह्मण भेजे—किन्तु ये फिर वापस न लौट सकीं। वि० स० १६०३ में द्वारका में ही इनका देहान्त हो गया।

रचनाएँ

मीरा के कई ग्रन्थों की चर्चा विद्वानों ने अपनी खोजों के आधार पर की है। किन्तु अद्यावधि जो कुछ प्राप्त हुआ है वह केवल स्फुट रूप में है। इन स्फुट पदों की संख्या भी निश्चित नहीं की जा सकती—क्योंकि गेय रूप में होने के कारण मीरा के बहुत से पद थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ स्वतन्त्र रूप में प्रचलित हो गए हैं। कहीं यह परिवर्तन भाषा सम्बन्धी है और कहीं भाव सम्बन्धी।[1] अतः इन सभी प्राप्त पदों के अनुशीलन के उपरान्त जो २०० के लगभग पद हाथ लगते हैं—उन्हीं के आधार पर मीरा की माधुर्य्य भक्ति के विषय में विचार किया जा सकता है। वैसे मीरा की जिन रचनाओं की चर्चा विद्वानों ने की है वे इस प्रकार हैं—

(१) नरसी जी रो माहेरो
(२) गीत गोविन्द की टीका
(३) राग गोविन्द
(४) सोरठ के पद
(५) मीराबाई की मल्हार
(६) गर्वागीत
(७) फुटकर पद।

मीरा के जितने भी पद अद्यावधि प्राप्त हुए हैं—चाहे वह किसी भाषा अथवा किसी रूप में क्यों न हों उनको फुटकर-पदों के रूप में संग्रहीत कर दिया गया है।[2] ये पद हस्तलिखित, मुद्रित और गेय रूपों में प्राप्त होते हैं। मीरा के सभी पद मुख्यतः तीन भाषाओं—राजस्थानी, ब्रज और गुजराती में उपलब्ध होते हैं। संख्या की दृष्टि से इनमें से भी राजस्थानी में प्राप्त पद अधिक हैं। अन्य भाषा के पदों पर राजस्थानी की छाप लक्षित होती है।

---

१. देखिए 'मीरा-बृहद्-पद-संग्रह' : सम्पादक पद्मावती शबनम।

२. इस प्रकार का भाषा तथा भावानुरूप क्रमबद्ध पद संग्रह पद्मावती शबनम द्वारा सम्पादित तथा बनारस से मुद्रित 'मीरा-बृहद्-पद-संग्रह' है।

अतः शुद्ध ब्रजभाषा और गुजराती के पद संख्या में अधिक नहीं निकाले जा सकते।

मीरा की पदावली का विषय

मीरा के सभी पदों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे सभी पद रखे जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध मीरा के जीवन से है। इन पदों में मीरा के अपने सम्बन्धियों से मतभेद, उन पर किए गए अत्याचार, कृष्णचरणों में आत्म-समर्पण और विरह (कृष्ण एवं पति) की चर्चा की गई है। दूसरे भाग में वे पद आते हैं जिनका सम्बन्ध मीरा की साधना से है। इन पदों में मीरा का सन्त-मत के प्रभाव के कारण निर्गुण-रूप ब्रह्म की साधना, सगुण-रूप भगवान गिरधरलाल की भक्ति तथा पौराणिक कृष्ण-लीलाओं का वर्णन दृष्टिगत होता है। इन दो प्रकार के पदों में से यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल दूसरे भाग के पदों से है। दूसरे भाग के पदों में भी सन्त-मत के प्रभाव से युक्त जो पद उपलब्ध होते हैं उनकी चर्चा माधुर्य्य भक्ति परक ग्रन्थ में अनावश्यक होगी। वैसे साधारणतया विद्वानों की मान्यता यही है कि मीरा के पदों में माधुर्य्य भाव के पदों को अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए। डा० श्रीकृष्णलाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **मीरा की प्रसिद्धि जिन पदों से हुई थी, मीरा की जो विशिष्टतम रचनाएँ हैं, 'मीरा की जिन रचनाओं की दूर दूर तक प्रसिद्धि थी, वे रचनाएँ माधुर्य्य भाव की भक्ति से पूर्ण भगवान कृष्ण की ब्रज-लीला के गान थे। इसीलिए तो मीरा के कृष्ण-लीला सम्बन्धी तथा माधुर्य्य भाव के अभिव्यक्ति वाले विरह के पदों को मीरा की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना मानता हूँ।'**[1] यही भाव डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की इन पंक्तियों से निकलता है—**'उनके कुछ पदों में निर्गुण भाव की भक्ति भी मिलती है। परन्तु गिरधर नागर को उद्देश्य करके लिखे गए भजनों में मीराबाई जिस प्रकार सहज और स्व-स्थित दीखती हैं, उस प्रकार इन भजनों में नहीं दीखतीं।'**[2] उक्त दोनों विद्वानों की सम्मतियों के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मीरा की साधना माधुर्य्य भाव की थी। सन्त-मत की उपासना केवल युग-प्रभाव ही माना जाना चाहिए। और फिर मीरा ने स्वयं एक स्थल पर कहा है—

बाल्हा मैं बैरागिण हूँगी हो।

---

१. 'मीरा-बृहद्-पद-संग्रह' : भूमिका (श्रीकृष्णलाल) : पृष्ठ च

२. हिन्दी साहित्य : डा० हजारीप्रसाद : पृष्ठ १९५।

जीं जीं भेष म्हारो साहिब रीझे, सोइ सोइ भेष धरूंगी हो।[1]...

वास्तविकता यह है कि मीरा अपने प्रियतम को जिन्हें उन्होंने 'गिरधर नागर', 'गिरधर गोपाल' आदि विभिन्न नामों से पुकारा है, प्राप्त करना चाहती थी। अतः उन्होंने अपने प्रियतम की प्राप्ति के उस युग में प्रचलित सभी साधनों को अंगीकार किया। किन्तु तो भी उनका मन सगुण-रूप की मधुर-उपासना में जितना रमा है उतना अन्यत्र नहीं। इस कारण मीराबाई मूलतः माधुर्य्य भाव की ही भक्त मानी जाएँगी।

मीरा की माधुर्य्य भक्ति

मीराबाई की माधुर्य्य भक्ति के सम्बन्ध में हम संक्षेप से विचार पंचम अध्याय के अन्तर्गत माधुर्य्य भक्ति के भेदों को देखते हुए कर चुके हैं। मीरा की माधुर्य्य भक्ति अभी तक विवेचित सभी ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्तों से विलक्षण है। विलक्षण इस अर्थ में है कि जहाँ अन्य कृष्ण-भक्त कवियों ने मधुर रस का आस्वादन राधा-कृष्ण अथवा गोपी-कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से अपने को राधा की सखी मानकर किया है, वहाँ मीरा ने कृष्ण को अपना पति माना। इस प्रकार अपने को कृष्ण की पत्नी मानकर उन्होंने कृष्ण की मधुर-लीलाओं का आस्वादन किया। इस प्रकार की माधुर्य्य भक्ति के भेद में विरह की जितनी तीव्र अनुभूति भक्त को हो सकती है, उतनी मिलन की नहीं। यही कारण है कि मिलन के वे मनोहारी वर्णन जिनका ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में प्राचुर्य है, यहाँ अधिक दृष्टिगत नहीं होते हैं। थोड़े बहुत जो उपलब्ध होते भी हैं उनमें सन्त-मत के प्रभाव के कारण रहस्य की छाप पूर्ण रूप से देखी जा सकती है।

मैं गिरधर रंग राती, सैयाँ मैं।
पचरंग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती॥
जिनका पिया परदेश बसत है, लिख लिख भेजें पाती॥
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुं आती जाती।
चंदा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी॥
पवन पाणी दोनुं ही जायेंगे, अटल रहे अविनासी॥
सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती।
प्रेम हटी का तेल मंगाले जगे रह्या दिन ते राती॥

---

१. मीराबाई की पदावली : पद संख्या १५२।

सतगुर मिलिया साँसा भाग्या, सैन बताई साँची।
ना घर तेरा न घर मेरा, गावे मीरा दासी॥[1]

अन्यथा मीरा का सारा समय प्रियतम से यही प्रार्थना करते व्यतीत होता है—

गोबिंद कबहुं मिले पिया मोरा।
चरण कंवल कूं हंसि-हंसि देखूं राखूं नेणा नेरा॥
निरखण कूं मोहि चाव घणेरो, कब देखूं मुख तेरा।
व्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज, मिलि तूं मीत सवेरा।
मीरा के प्रभु हरि गिरधर नागर, ताप तपन बहुतेरा॥[2]

और वास्तविकता तो यह है कि मीरा के उन पदों में जिनमें प्रेम-निवेदन तथा विरह-व्याकुलता का वर्णन है जिस कोटि की अनुभूति-तीव्रता प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह सहृदय को स्पंदित और चालित करती है और अपने रंग में रंग डालती है।

मीरा के प्रियतम गिरधर नागर मोर मुकुट धारी है, उनके गले में वैजयन्ती माला फहरा रही है। पीताम्बर धारण किये वे वन-वन में गायें चराते है। कालिन्दी तीर पर पहुँच कर शीतल कदम्ब की छाया में सुखासीन हो मधुर मुरली बजाते हैं। इस प्रकार अपनी सहज माधुरी से गोपियों को मोहित कर उनसे रासादि क्रीड़ाएँ करते हैं। इसी मोहनलाल की माधुरी-छवि मीरा के मन में बस गई है और वे उस पर अपना तन मन वारने को प्रस्तुत हैं। उस मोहन के मोहित करने वाले रूप को देखकर मीरा के नेत्रों को सतत उन्हीं को देखने की टेव पड़ गई है। वह अपनी इस स्थिति को अपनी सखी के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत करती हैं—

आली री मेरे नेणाँ बाण पड़ी॥
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूं, जीवन मूर जड़ी।
मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहें बिगड़ी॥[3]

और अपनी इस स्थिति के आधार पर वे दृढ़ता पूर्वक कहती है—

---

१. मीराबाई की पदावली : पद संख्या २०।
२. वही : पद संख्या १११।
३. मीराबाई की पदावली : पदसंख्या ११।

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरे पति सोई·····॥[1]

साँवरे के रंग में रंग कर वे समस्त लोक-लाज का त्याग कर देती हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि में एकमात्र सच्चा और सुन्दर व्यक्ति गिरधरलाल है, उसके अतिरिक्त सारा संसार उन्हें 'कटु' लगता है। अपने इस प्रेम की तीव्रता में उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि **'मेरी उणकी प्रीत पुराणी'**—अतः मीरा अपना सर्वस्व कृष्ण-चरणों में न्यौछावर कर स्वयं उनकी दासी बन जाती हैं। यद्यपि लोगों की दृष्टि में उनका यह कर्म कुल नाशक है[2]—किन्तु मीरा का हृदय जानता है कि इस मार्ग से अधिक कुल का उपकारक कृत्य और कोई नहीं है।

मीरा जिन प्रभु के चरणों में आत्म-समर्पण करती हैं वह सामान्य प्रियतम नहीं है, जिनसे सहज भेंट हो जाय। अतः उनकी यह उक्ति **'दरद की मारी मैं बन बन डोलूँ'** उनकी प्रेम-स्थिति का सुन्दर परिचय देती है। कृष्ण-प्राप्ति के लिए वे लाख प्रयत्न करती हैं—यहाँ तक कि आभूषण, वस्त्र आदि उतार कर वैरागिण का वेश धारण कर लेती हैं, किन्तु प्रियतम उन्हें अपने साक्षात्कार से कृतार्थ नहीं करते। प्रियतम की इस विमुखता से जहाँ उन्हें अत्यधिक संताप होता है वहाँ कुछ-कुछ खीझ भी उनके मन में उठती है और इसी खीझवश वे अपनी सखी से कहती हैं—

देखो सहियाँ हरि मन काठो कियो॥
आवन कह गयो अजूं न आयो, करि करि बचन गयो।
खान पान सुध बुध सब बिसरी, कैसे, करि मैं जियो॥
बचन तुम्हारे तुमहीं बिसारे, मन मेरो हर लियो।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, तुम बिनि फटत हियो॥[3]

अपने प्रियतम के वियोग में मीरा ने अपनी दशा का जो वर्णन किया है उसे पढ़कर प्रत्येक सहृदय पाठक का उनकी अवस्था से साधारणीकरण हो जाता है और वह स्वयं उसी 'कसक' का अनुभव अपने हृदय में करता है। प्रिय-वियोग में मीरा का रात दिन अपने साँवरे की प्रतीक्षा में व्यतीत हो

१. वही : पद संख्या १५।
२. मैं तो मेरे नारायण की आपहि हो गई दासी रे।
लोग कहें मीरा भई बावरी-न्यात कहें कुलनासी रे॥—वही : पद संख्या ३६।
३. मीराबाई की पदावली : पद संख्या ५६।

जाता है। दिन में तो चैन पड़ता ही नहीं, रात्रि में भी एक क्षण के लिए उन्हें निद्रा सुख प्राप्त नहीं होता। उन्हें इस बात का और भी अधिक कष्ट है कि उनके हृदय की पीर का पारखी कोई नहीं है। मीरा प्रियतम से मिलने के लिए नाना प्रकार के उपवास, व्रत आदि करती हैं, जिनके फलस्वरूप वे सूखे पत्ते की भाँति पीली पड़ जाती हैं, सूखकर काँटा हो जाती हैं—किन्तु उनकी व्यथा को शान्ति किसी प्रकार नहीं मिलती। अन्ततः जब उनका हृदय इस पीड़ा से अत्यधिक व्यथित हो उठता है तब वह अपनी पीड़ा को कम करने के लिए उसे इस प्रकार प्रकट कर देती हैं—

सखी मेरी नींद नसानी हो॥
पिय को पंथ निहारत, सिगरी रैण बिहानी हो।
सब सखियन मिली सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिनि देख्यां कल नाहिं पड़त, जिय ऐसी ठानी हो॥
अंगि अंगि व्याकुल भई, मुखि पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, वह पीड़ा न जानी हो॥
ज्यूं चातक घन को रटे, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहणी, सुध बुध बिसरानी हो॥[1]

प्रियतम से मिलने के वह अनेक उपाय सोचती हैं। इनमें कंथा धारण करना, ध्यान-धारणा, योगाभ्यास सभी कुछ है। किन्तु वह साधना जिसमें मीरा की भाव-विह्वलता सबसे अधिक स्पष्ट हुई है **'मने चाकर राखो जी'** वाले पद में ही दृष्टिगत होती है। क्योंकि इस चाकरी में उन्हें अपने प्रियतम के नित्य दर्शन की पूर्ण आशा है और यही उनके जीवन की मात्र कामना तथा उनकी साधना की सफलता है।

कृष्ण के प्रति अपने प्रेम-निवेदन और विरह-व्याकुलता के अतिरिक्त मीरा ने सामान्य कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति कृष्ण की विविध लीलाओं—वंशी-वादन लीला, नागलीला, चीरहरण लीला, मिलन लीला, फाग लीला, पनघट लीला, दधि बेचन लीला, मथुरा गमन, ऊधव संवाद आदि का भी सुन्दर ढंग से वर्णन किया है—

छाँडो लंगर मेरी बहियाँ गहो ना॥
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गुपाल रहो ना॥
जो तुम मेरी बहियाँ गहत हो, नयन जोर मेरे प्राण हरो ना॥

---

१. वही : पद संख्या ८७।

बृन्दावन की कुंज गली में, रीति छोड़ अनरीत करो ना।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल चित टारे टरो ना।।[1]

कवयित्री ने एकाध पद में वृन्दावन का वर्णन भी किया है—

आली म्हाने लागे वृन्दाबन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंद जी को।
निरमल नीर बहत जमना में, भोजन दूध दही को।
रतन सिंघासण आप बिराजे, मुकट धर्‌यो तुलसी को।।
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका, सबद सुणत मुरली को।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको।।[2]

भावोद्दीपन के लिए वर्षा ऋतु तथा उसमें अपना प्रभाव प्रगट करने वाले मोर-पपीहा आदि पक्षियों का उल्लेख यत्र तत्र उपलब्ध हो जाता है।

रे सांवलिया म्हारे आज रंगीली गणगोर, छै जी।
काली पीली बदली में बिजली चमके, मेघ घटा घनघोर, छै जी।।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल कर रही सोर छै जी।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणों में म्हांरो जोर, छै जी।।[3]

साधक को लक्ष्य में रखकर मीरा ने स्थान-स्थान पर यह कहा है कि संसार असार है। जो कुछ हमें दिखाई देता है वह अनित्य है। अतः सांसारिक पदार्थों से अनुराग बढ़ाकर हमें दुःख के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। सुख चाहने वालों को तो सदा भगवान का भजन करना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के भगवद् भजन का अवसर केवल मनुष्य जन्म में प्राप्त होता है और यह मानव-शरीर बार-बार हमें प्राप्त नहीं होता। इसलिए इसे सफल बनाने की सतत चेष्टा करनी चाहिए। भगवद्-भक्ति में साधन की सफलता केवल मानसिक-शुद्धि पर निर्भर है। यदि मन शुद्ध नहीं तो हमारी भक्ति केवल स्वाँग-मात्र सिद्ध होगी।

यही विधि भक्ति कैसे होय।।
मन की मैल हिय तें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी, बाँधि मोहि चंडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल।

---

१. वही : मिलन-लीला : पद १७३।
२. मीराबाई की पदावली : पद-संख्या १६३।
३. मीराबाई की पदावली : पद-संख्या १४३।

बिलार विषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से राम नाम न लेत॥
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु, जल कहाँ ठहरात॥
जो तेरे हिय अन्तर की जाने, तासों कपट न बने।
हिरदे हरि को नाम न आवे, मुख ते मनिया गने।
हरि हितु से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दास मीरा लाल गिरधर, सहज कर वैराग॥'

मीराबाई की माधुर्य्य भक्ति के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मीरा के पद-गान का मात्र उद्देश्य अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के गुणों का गान करना और उन्हें प्रसन्न करना था। अतः उनके पदों में भाव की जितनी तीव्रता लक्षित होती है—उतनी भाषा की प्रौढ़ता नहीं। किन्तु फिर भी उनकी भाषा अधिकतर सरल, स्वाभाविक, प्रसादगुण युक्त, प्रवाहपूर्ण और भावानुकूल रही है। इसी कारण मीराबाई के पद जितने लोकप्रिय हो सके हैं, उतने अन्य किसी कवि के नहीं। इनके अधिकांश पदों में अनुभूति की जो तीव्रता और संगीतात्मकता उपलब्ध होती है उससे पाठक का हृदय बरबस उनकी ओर खिंच जाता है। यह बात विशेषतया उन पदों के विषय में कही जा सकती है, जिनमें हृदय की पीड़ा तीव्रता के साथ व्यंजित होती है। किसी भावुक संगीतज्ञ के मुख से **'हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोइ'** अथवा **'नातो नाम को मोसूँ तनक न तोड़ियो जाइ'** आदि पद सुनकर जनता का भाव-विभोर हो जाना यही सूचित करता है। पदों की इस संवेदनात्मक शक्ति के कारण ही मीराबाई को गीति कवियों में विशेष स्थान प्राप्त हो सका है।

---

१. मीराबाई की पदावली : पद संख्या १६२।

बारहवाँ अध्याय

मधुर भाव के उपासक कृष्ण-कवियों का योगदान

भारतीय जीवन में साधना का विशेष महत्त्व रहा है। साधना परक ग्रंथों में आनन्द-प्राप्ति के जिन साधनांगों का प्रतिपादन है उनमें ज्ञान, कर्म और भक्ति मुख्य हैं। इनमें भी भक्ति का स्थान मूर्धन्य पर है। भक्ति का आधार है प्रेम। इसी मूलाधार को समझाने की चेष्टा महर्षि शाण्डिल्य ने **'परानुरक्तिरीश्वरे'** और देवर्षि नारद ने **'सा परमप्रेमरूपा'** आदि सूत्रों द्वारा की है। मध्यकालीन निर्गुणोपासक सन्तों का ध्यान भी इस प्रेम-तत्त्व की ओर गया है—

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गंवायो सार॥ (कबीर)

भक्ति के सिद्ध हो जाने पर भक्त का जीवन ही प्रेममय हो जाता है। इसलिए जीवन के समस्त कार्य-कलाप में वह प्रेम की अनुभूति करता है। उसका एक क्षण भी आनन्द के अभाव में व्यतीत नहीं होता। स्वयं कबीर ने हठयोग की साधनाओं के द्वारा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की स्थिति का अनुभव किया था। उनका प्रसिद्ध पद **'रस गगन गुफा में अजर झरे'**—इसी समाधि अवस्था का सूचक है। किन्तु इस आनन्द की अनुभूति कर लेने के उपरान्त भी उनकी धारणा यही थी कि प्रेम के अभाव में कोरी साधना व्यर्थ है। इसीलिए उन्होंने प्रेम-मूलक 'सहज-समाधि' का प्रतिपादन किया। कबीर के अतिरिक्त **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** के आधार पर अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले स्वामी शंकराचार्य ने अपने 'प्रश्नोत्तरी' ग्रन्थ में **'मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं'** के उत्तर में **'सत्संगतिर्निर्ममतेश भक्तिः'** कह कर मुक्ति चाहने वालों के लिए ईश्वर की भक्ति का ही निर्देश किया है। **'कार्या प्रिया का ? शिवे विष्णु भक्तिः'** से भी स्पष्ट है कि उनके हृदय में प्रेम-मूलक भक्ति के लिए कितना आदर था। इसी प्रकार गो० तुलसीदास ने **'यन्मायावशवर्त्ति-विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा'**—के द्वारा राम के वास्तविक स्वरूप का निरूपण कर देने के उपरान्त भी उसी रूप का वर्णन किया है जो प्रेम की प्रतिमूर्ति हैं, जिन्होंने भक्त के प्रेम के वशीभूत सगुण रूप धारण किया है तथा जो दशरथ और कौशल्या का वात्सल्य पाने के लिए लालायित हैं। तात्पर्य यह

है कि आनन्द-प्राप्ति के साधनों में प्रेमरूपा भक्ति का स्थान प्रमुख है। जहाँ ज्ञान अनन्त अभावों को सूचित करता है वहाँ प्रेम सभी प्रकार के अभावों को भर देता है। माधुर्य्य भक्ति में इसी प्रेम का चरम उत्कर्ष पाया जाता है। अतः आनन्दानुभूति की दृष्टि से विभिन्न भक्ति-भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर में से मधुर भाव की भक्ति का स्थान प्रमुख है। इस भाव की भक्ति में प्रिय की सन्निकटता तथा आत्मीयता की भावना के कारण प्रेम की जो तीव्रता लक्षित होती है—वह अन्य किसी भाव में नहीं है। इसी कारण मधुर भाव द्वारा प्रेरणा प्राप्त साहित्य की सवेदनात्मक शक्ति अद्भुत तथा अनुपम है।

माधुर्य्य भक्ति का आरम्भ, जैसा कि साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रंथों से पता चलता है, कृष्ण-लीलाओं के माध्यम से हुआ। आलवार सन्तों के पदों में हमें गोपी-कृष्ण की लीलाओं का कुछ आभास मिल जाता है। डा० हरवंश-लाल की इन पंक्तियों से भी यही आशय निकलता है—**'इन भक्त कवियों (आलवारों) ने प्रेमा-भक्ति के वे गीत गाए जिनकी मधुर धारा में तर्क, शास्त्र-ज्ञान, अविश्वास आदि के भाव विलीन हो गए और समस्त देश रस-सिक्त हो गया।'**[१] गोपी-कृष्ण की लीलाओं की पूर्ण प्रतिष्ठा श्रीमद्भागवत में हुई और भागवत का ही आधार लेकर चैतन्य के अनुयायी रूपगोस्वामी और जीवगोस्वामी ने माधुर्य्य भक्ति को दार्शनिक और साहित्यिक आधार पर प्रतिष्ठित किया। इस प्रकार सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित माधुर्य्य भक्ति विभिन्न कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के माध्यम से सम्पूर्ण ब्रजमण्डल में फैल गई। दूसरी ओर रामभक्ति साहित्य में भी कुछ समय पश्चात् मधुर धारा का स्रोत फूट पड़ा। राम-भक्तों ने राम और सीता की मधुर-लीलाओं के गान और ध्यान को अपने भक्ति-भाव में उसी रूप में स्थिर किया जिस रूप में वह कृष्ण-भक्ति में प्रवाहित हुआ था। अभिप्राय यह है कि मधुर भाव की उपासना केवल वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति-शाखा में ही सीमित न रही, उसका प्रसार राम-भक्ति-शाखा में भी हो गया। कृष्ण और राम के भक्तों की मधुर-उपासना में साम्य और वैषम्य मूलक भेद का जान लेना यहाँ आवश्यक है।

पिछले पृष्ठों में माधुर्य्य भक्ति के विषय में जो चर्चा की गई है उसके आधार पर कृष्ण भक्ति-काव्य की माधुर्य्य भक्ति की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

---

१. सूर और उनका साहित्य : पृष्ठ ८५

(१) कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों में उपास्य के रूप में राधा और कृष्ण का स्मरण किया गया है। किन्तु परवर्ती काल में राधा का प्राधान्य होता गया और राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो राधा को इष्टदेवी ही मान लिया गया।

(२) राधा और कृष्ण का परस्पर सम्बन्ध निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय में स्वकीया भाव का है, गौड़ीय सम्प्रदाय में परकीया भाव का है और राधावल्लभ तथा हरिदासी सम्प्रदाय में नित्यविहारी भाव का है।

(३) राधा और कृष्ण के अतिरिक्त प्रेम की आदर्श रूपा गोपियों की भी चर्चा विशेष रूप से गौड़ीय और वल्लभ सम्प्रदाय में की गई है। दोनों ही सम्प्रदायों में गोपियों की रागात्मिका-भक्ति भक्तों के लिए अनुकरणीय मानी गई है। किन्तु गौड़ीय सम्प्रदाय में गोपियाँ केवल राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का विस्तार करने में सहायक होती हैं और वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियाँ राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में सहयोग देने के साथ-साथ स्वयं भी उस लीला में भाग लेती हैं और कृष्ण-स्पर्श-सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करती हैं। अन्य सम्प्रदायों में सखी रूप जीवात्मा केवल सेवा-परिचर्य्या (ख़वासी) करने में ही अपनी कृतकृत्यता अनुभव करती है।

(४) उपासना के लिए निम्बार्क, राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की स्थूल विरह और मान रहित, नित्य विहार की लीलाओं के गान और ध्यान का निर्देश है किन्तु गौड़ीय और वल्लभ सम्प्रदाय में संयोग और वियोग दोनों पक्षों का समान महत्त्व है।

(५) राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान और ध्यान का मात्र उद्देश्य सभी सम्प्रदायों में उस मधुर प्रेम का आस्वादन स्वीकार किया गया है जो सर्वथा काम विवर्जित अथच उज्ज्वल है।

(६) मधुर-प्रेम-प्राप्ति का मार्ग (रसोपासना) विधि-निषेधातीत माना गया है। इस पथ के पथिक का पाथेय केवल प्रेम है, अतः तप, तीर्थ, व्रत, संयम आदि के फेर में न पड़ कर उसी की तीव्रता पर यहाँ बल दिया गया है। स्पष्ट है कि इस मार्ग में शास्त्र मर्यादा के लिए विशेष स्थान नहीं है।

(७) रसोपासना की अन्तिम स्थिति सभी संप्रदायों में वही मानी गई है जिसमें राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं का दर्शन भक्त को प्रत्यक्ष रूप से होता है।

(८) मधुर-लीलाओं के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए सभी संप्रदाय के आचार्यों

ने निकुंजेश्वरी राधा की कृपा को अनिवार्य माना है। इनकी कृपा बिना लाख साधन करने पर भी वह स्थिति प्राप्त नहीं होती जो मधुर भाव के उपासक का चरम लक्ष्य है।

(९) निकुंजेश्वरी की कृपा प्राप्त करने के लिए कृष्ण-भक्त-आचार्यों ने केवल एक उपाय बताया है—राधा-कृष्ण की सेवा अर्थात् उनकी मधुर-लीलाओं को सम्पन्न कराने में सभी प्रकार का सहयोग देना। इस प्रकार की सेवा करते हुए कृष्ण-भक्त का भाव राधा की अन्तरंग सखी का होता है। इसलिए राधा-कृष्ण की सेवा-परिचर्या वाले इस भाव को कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है।

(१०) मधुरोपासक भक्त के उपर्युक्त सभी भाव उसकी सिद्धावस्था को सूचित करते हैं। अतः इस अवस्था में पहुँचकर उसकी उपासना उपास्य-युगल की सेवा रह जाती है—अन्य किसी प्रकार के नाम-जप, गुण-गान, सत्संग, ध्यान-धारणा आदि साधन की उसे अपेक्षा नहीं रहती। **'सिद्ध भये साधन बिसरायो।'** किन्तु जो भक्त अभी इस स्थिति में नहीं पहुँचा है—उसके लिए उक्त सभी साधनों की आवश्यकता सभी सम्प्रदायों में स्वीकार की गई है। तात्पर्य यह है कि जब तक भक्त सिद्धावस्था तक नहीं पहुँच जाता तब तक वह नाम-जप आदि साधनों के साथ-साथ मधुर-लीलाओं का ध्यान भी करता है और ज्यों-ज्यों उसका हृदय अनाविल होता जाता है त्यों-त्यों उसका मधुर-लीलाओं का ध्यान भी निरन्तर बढ़ता जाता है। प्रेम की परिपक्वावस्था में अन्य साधन छूट जाते हैं और मधुर-लीलाएँ उसका मात्र आहार हो जाती हैं। अतः मधुरोपासक भक्त का आरम्भ से ही सत्संग आदि साधनों का त्याग कर केवल मधुर-लीलाओं का ध्यान करना अपने पतन का मार्ग प्रशस्त करना ही है। प्रेम-रूपी सूर्य तो वहीं प्रकाश करेगा जहाँ हृदयाकाश स्वच्छ होगा। अन्यथा प्रकाश का अभाव अर्थात् अन्धकार तो चोरी-जारी आदि बुरे कामों में ही सहयोगी सिद्ध होता है। इसीलिए इस मार्ग में सोच समझकर कदम उठाना नितान्त आवश्यक है।

कठिन प्रीति रस-रीति है, समुझि गहो मन मांहि।
इक चकोर पावक चुगे सबहिन को भख नाहिं॥ (बिहारिनदेव)

हृदय-शुद्धता को परखने की एक ही कसौटी कृष्ण-भक्ति के आचार्यों ने बताई है—स्वसुख विवर्जित तत्सुखी भाव। जब भक्त के सभी प्रयत्न केवल कृष्ण-सौख्यार्थ होने लगते हैं—तभी उसे सिद्ध अवस्था में पहुँचा हुआ समझना

चाहिए। इस अवस्था में उसका अपना सुख कृष्ण-सुख में पर्य्यवसित हो जाता है और इस प्रकार उन सभी दुःखों से, जिनसे सदा अपने ही सुख की चिन्ता में ग्रस्त सांसारिक प्राणी व्यथित रहता है, मुक्त होकर भक्त शाश्वत आनन्द का उपभोग करता है। यही उसके जीवन का चिर-काम्य चरम लक्ष्य है और यही उसके मनुष्य जन्म की सार्थकता है।

रामभक्ति-काव्य में मधुर-उपासना का आरम्भ कब और किस प्रकार हुआ—यह बात निर्विवाद रूप से नहीं कही जा सकती। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत पुराण के मधुर-लीला परक वर्णन का कुछ प्रभाव राम-भक्तों की साधना पर पड़ा। सम्भव है यह प्रभाव पर्याप्त समय तक राम-भक्ति साहित्य में स्फुट रूप से अभिव्यक्त न हुआ हो—क्योंकि उसमें मर्यादा, ऐश्वर्य और दास्य भाव की प्रधानता थी। किन्तु राम-भक्तों की साधना में मधुर भाव विद्यमान अवश्य था। अतः जब उसकी काव्य-ग्रन्थों में अभिव्यक्ति प्रारम्भ हुई तो एक साथ कई रचनाएँ प्रस्तुत हो गईं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र ने अपने ग्रंथ 'रामभक्ति साहित्य में मधुर उपासना' में लिखा है—**'इस प्रकार रामोपासना का प्रादुर्भाव 'दास्य—सेवक-सेव्य भाव से हुआ तथा 'मर्यादा' ही इसकी मुख्य प्रेरणा एवं आधार शिला रही। परन्तु क्रमशः दास्य सख्य में, सख्य वात्सल्य में, और वात्सल्य माधुर्य्य में परिणित होता गया और आज लगभग चार सौ वर्षों से रामभक्ति-शाखा में (रामभक्ति की) माधुर्य्य-धारा उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही है, आरम्भ में तो गुप्त गोदावरी की भाँति अप्रकट रूप में परन्तु शनैः शनैः व्यक्त एवं प्रकट रूप में, हाँ, अलबत्ता यह स्वीकार करना होगा कि कृष्ण-भक्ति-शाखा की तरह इसमें 'सखी भाव' अत्यन्त उन्मुक्त रूप में व्यक्त नहीं हो पाया है।'**[१]

रामभक्ति काव्य की माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले आलोचनात्मक दो ग्रन्थ हमारे देखने में आए हैं—(१) श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र का 'राम भक्ति साहित्य में मधुर उपासना' और (२) डा० भगवती प्रसाद सिंह का 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय।' प्रथम ग्रन्थ के लेखक ने राम-भक्ति के मधुर भाव परक साहित्य को प्रकाश में लाने की प्रेरणा से अपने ग्रन्थ में रामभक्ति के इसी भाव के ग्रन्थों—संस्कृत और हिन्दी—का सोदाहरण संकलन कर दिया है। इसमें माधुर्य्य भक्ति के स्वरूप को समझाने के लिए

१. रामभक्ति-साहित्य में मधुर उपासना : पृष्ठ ११८।

किसी प्रकार का सिद्धान्त-निरूपण नहीं है। डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने अपने ग्रन्थ में साहित्य-संकलन के साथ-साथ सिद्धान्त-निरूपण को भी महत्त्व दिया है। अतः इसी ग्रन्थ के आधार पर हम राम-भक्ति-काव्य की माधुर्य्य भक्ति की प्रमुख विशेषताओं को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) रामभक्ति में उपास्य राम और सीता हैं। दोनों सिद्धान्ततः एक हैं किन्तु लीला-निमित्त उन्होंने दो विग्रह धारण किए हैं। दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्वकीया भाव का है।[1]

(२) उपास्य-युगल राम और सीता की विभिन्न लीलाओं का चिन्तन ही रसोपासना है। ये लीलाएँ—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार सभी भावों की हैं और सभी का समान महत्त्व है। यह अवश्य है कि रसोत्कर्ष एवं आराध्य के सेवाधिकार की दृष्टि से रसिक वर्ग के भक्तों में सखी भावोपासकों को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। पर उसी भाव की भक्ति को स्वीकार करके ही रसोपासना हो सकती है—ऐसा कोई बन्धन इस सम्प्रदाय में नहीं है।[2]

(३) ध्येय लीलाओं में राम और सीता की संयोग परक लीलाओं पर विशेष बल दिया गया है। इन लीलाओं के गान और ध्यान का उद्देश्य युगल-केलि के लोकोत्तर रस का आस्वादन करना है।[3]

(४) रसोपासना का यह मार्ग मध्य मार्ग है। इसमें न तो ऐश्वर्य ही प्रधान रहता है और न ही माधुर्य्य। इसी प्रकार वैधी और रागानुगा भक्ति का समान रूप से आश्रय लिया जाता है। इस कारण रामभक्ति की मधुर-उपासना में शास्त्र मर्यादा का स्थान अक्षुण्ण है।

कहूँ प्रकट ऐश्वर्य अति, कहुँ संयोग वियोग।
जुगल संधि माधुर्य रति, नित्य दिव्य सुख भोग॥ (नाभादास)
वैधी अरु रागानुगा, उभयकूल सो जान।
करि निवास जे मज्जहिं, तिनकर सुकृत पुरान॥ (रसिक अली)

(५) रामभक्त रसिकों के अनुसार साधना का परम लक्ष्य दिव्य दम्पति का सेवा सुख प्राप्त करना है और इसकी प्राप्ति उपास्य के सान्निध्य से हो सकती है। अतएव अपने दिव्य शरीर (सिद्ध देह) का सखी, सखा, दासादि

१. रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह : पृष्ठ १५१।
२. वही : पृष्ठ १४३-१४५
३. वही : पृष्ठ १७६

किसी एक रूप में ध्यान कर, प्रभु की सेवा में स्वयं को अर्पित करना ही उसका मुख्य साधन माना गया है। दिव्य शरीर के इन रूपों में सखी भाव का स्थान अपेक्षाकृत विशिष्ट है।[१]

(६) राम-भक्ति-सम्प्रदाय में भक्त सखी भाव में अपने को सीता की बाल सखी निमिवंश कुमारियों से अभिन्न मानते हैं और सीता जी के साथ ही स्वयं को परिणीता समझते हैं। किन्तु स्वामी से उनका सम्बन्ध सीधा न होकर सीता के माध्यम से होता है।[२]

(७) वस्तुतः ये सभी सखियाँ राम की आह्लादिनी शक्ति सीता का अंश हैं। ऐसी दशा में अनन्त सखियों से राम का सम्बन्ध युगल-स्वरूप के दाम्पत्य के ही अन्तर्गत आ जाता है। यह भाव-साधना है, अतएव सीता को भाव रूप में अंशी मानने वाली सखियों के साथ राम की क्रीड़ा, सीता के साथ दाम्पत्य केलि से भिन्न नहीं है।[३]

(८) ये सखियाँ सीता की अंश होने के कारण तत्सुख की अधिकारी होती हैं। तत्सुख से अभिप्राय उस परमानन्द से है जिसका भोग अथवा अनुभव सखियाँ अपने को जानकी जी के रूप में अवस्थित करके करती है।[४]

उपरिलिखित कृष्ण-भक्ति-काव्य और राम-भक्ति-काव्य की प्रमुख विशेषताओं की तुलना से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों भक्ति-शाखाओं में प्रचलित मधुर-उपासना में साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। समता केवल इतनी है कि दोनों भक्ति-शाखाओं में से इस उपासना का प्राप्य फल लोकोत्तर रस का आस्वादन है। यह रस लोकोत्तर इसलिए है कि संसार में जिस रस की अनुभूति व्यक्ति को होती है उससे यह सर्वप्रकारेण विलक्षण है। इसके अतिरिक्त उपास्य-युगल की भावना भी दोनों प्रकार के उपासकों में समान है।

वैषम्य की दृष्टि से सबसे पहली बात उपास्य का पारस्परिक सम्बन्ध है। राम और सीता में राम-भक्तों ने केवल स्वकीया सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त परकीया भाव के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है और विहार की नित्यता स्वीकार न करने के कारण यहाँ नित्य विहारी भाव की भी कल्पना न हो सकी। दूसरी बात उपासना के सम्बन्ध में है। भक्ति के जिन पाँच

१. वही : पृष्ठ १४५ और १७३
२. वही : पृष्ठ १५१।
३. वही : पृष्ठ १५४।
४. राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवतीप्रसाद सिंह : पृष्ठ ३०६

भावों—शान्त, दास्य, सख्य आदि का समावेश राम-भक्ति-शाखा की मधुर उपासना में हुआ है उनमें से केवल मधुर भाव (शृंगार) को कृष्ण-भक्तों ने अपनी माधुर्य्य भक्ति का आधार माना है। यह सत्य है कि यहाँ अन्य चार भाव इसी मधुर भाव में समाहित माने गये हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से इनकी कृष्ण-काव्य की माधुर्य्य भक्ति में कोई सत्ता नहीं है। इन पाँच भक्ति भावों की परिगणना माधुर्य्य भाव के अन्तर्गत अवश्य हुई है, किन्तु मधुर भाव की उपासना केवल दाम्पत्य-सम्बन्ध को सूचित करती है। इसके अतिरिक्त माधुर्य्य भाव के ये सभी रूप भी कृष्ण-भक्तों की दृष्टि में सर्वथा ऐश्वर्य-शून्य हैं। पर राम-भक्तों ने अपनी उपासना में ऐश्वर्य का आश्रय बिल्कुल नहीं छोड़ा है। रसोपासना का यह मार्ग कृष्ण-भक्ति-शाखा में विधि-निषेधातीत माना गया है, किन्तु राम-भक्ति में इसे विधि और राग दोनों का समन्वित रूप स्वीकार किया गया है। इसीलिये जहाँ कृष्ण-भक्ति में मर्यादा का बन्धन बिल्कुल नहीं है, वहाँ राम-भक्ति में राम-चरित्र का निरूपण करने में मर्यादा का सदा ध्यान रखा गया है। इस कारण भी उपास्य के स्वरूप में भेद आ गया है। कृष्ण का कार्य केवल गोपियों के साथ हास-परिहास और राधा के साथ नित्य विहार करना है किन्तु राम दरबार में भी जाते हैं तथा प्रजा पर शासन करते हैं।

उपासक भाव को लक्ष्य में रखकर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि राम-भक्ति-शाखा में सखी का जो स्वरूप स्वीकृत है उससे कृष्ण-भक्ति-शाखा की सखी का स्वरूप नितान्त भिन्न है। रामभक्ति-शाखा की सखी का स्वरूप कृष्ण-भक्तों द्वारा निरूपित गोपियों और सखियों का मिश्रित रूप है। गोपियों को ही वहाँ आह्लादिनी शक्ति राधा की अंशभूत स्वीकार किया गया है और उन्हें ही वल्लभ सम्प्रदाय में कृष्ण-स्पर्श-सुख की अधिकारिणी माना गया है। अन्यथा कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों की सखी निज सुख की अभिलाषा विवर्जित है। वह राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं को सम्पन्न कराने में योग देती है और उन्हें सुखी देखकर तथा उनकी लीलाओं के साक्षात् दर्शन कर उन्हीं में विभोर हो मधुर प्रेम का आस्वादन करती है। यही उनका तत्सुखी भाव है। यह तत्सुखी भाव राम से रमण की योग्यता को सूचित करने वाले तत्सुख से बिल्कुल भिन्न है। अतः स्पष्ट है कि दोनों प्रकार के भक्तों के मधुर प्रेम की रसास्वादन-पद्धति में भी पर्याप्त अन्तर है। कृष्ण-स्पर्श-सुख प्राप्त करने की अभिलाषा रखने वाले वल्लभ सम्प्रदायी भक्तों के उपासक भाव को सखी भाव न कहकर गोपी भाव कहा गया है। किन्तु वहाँ भी भक्त न तो अपने को राधा की अंशभूता स्वीकार करता है और न ही कृष्ण की परिणीता। वह भगवान

की रास लीलाओं में प्रवेश प्राप्त कर उपास्य-युगल के सान्निध्य का भागी बनना चाहता है। और इस प्रकार राधा-कृष्ण की सेवा करते हुए उसे कभी राधा-कृपा वश कृष्ण-स्पर्श सुख मिल जाता है। स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति में उपास्य के सुख में निज सुख का पर्य्यवसान किया जाता है और रामभक्ति मे सीता के रूप में भक्त का पर्य्यवसान (अंश-अंशी भाव द्वारा) किया जाता है। अतः कृष्ण भक्ति-शाखा में भक्त सिद्ध-देह प्राप्त करके तत्सुखी भाव से उपास्य-युगल का सुख-विधान करने में सदा तत्पर रहता है और राम-भक्ति-शाखा मे भक्त तत्सुख का अधिकारी होकर स्वयं उस परमानन्द का उपभोग करता है।

उपर्युक्त विषमताओं को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि कृष्ण-भक्ति-शाखा की माधुर्य्य भक्ति का राम-भक्ति शाखा की मधुर उपासना पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु राम भक्तों की माधुर्य्य भक्ति की रचनाओं को देखते हुए हमें अपनी यह धारणा बदलनी पड़ती है। राम-भक्तों की मधुर भाव परक हिन्दी रचनाओं का क्रम नाभादास जी के गुरु अग्रदास जी से माना गया है। अग्रदास जी ने राम और सीता के ध्यान का सुन्दर वर्णन किया है, किन्तु दोनों की मधुर-लीला से सम्बन्धित इनका कोई पद श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने अपनी पुस्तक में नहीं दिया। नाभादास जी के समय तक कृष्ण-भक्तों में प्रसिद्ध मधुरोपासक सूरदास, गो० हितहरिवंश, स्वामी हरिदास, श्री भट्ट आदि हो चुके थे—ऐसा भक्तमाल से स्पष्ट सूचित होता है। उनकी उपासना-पद्धति से भी नाभादास जी का अच्छा परिचय था, जिसकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा उक्त भक्तों से सम्बन्धित छप्पयों में की है। अतः इन कृष्ण-भक्तों की उपासना का कुछ प्रभाव नाभादास जी पर पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। साधारणतया दिव्य देह में तत्सुख की अधिकारिणी बन जाने पर राम-भक्ति-शाखा में सखी श्री राम के साथ स्वयं रमण करती है—अतः उसके लिए उपास्य-युगल की मधुर-लीलाओं को सम्पन्न कराने में सहयोग या सेवा का अवसर यहाँ प्रायः नहीं है। किन्तु नाभादास जी के अष्टयाम से इस सेवा का अच्छा परिचय मिलता है—

श्री सरयू झारी लिए ठाढ़ी। पान दान सुख तुलसी बाढ़ी॥
कमला विमला चमर ढुरावे। चन्द्र कला कछु तान सुनावै॥
और सब निज टहल सुधारे। ठाढ़ी दम्पति चमर सँवारै॥

इसी प्रकार का सेवा भाव हमें श्री बाल अली के नेह-प्रकाश और कृपा-निवास की पदावली में लक्षित होता है। कृष्ण-भक्तों ने यह सेवाधिकार श्री

राधा रानी की कृपा से प्राप्य माना है। इसी सेवा की प्राप्ति उनके जीवन का मात्र लक्ष्य है। सेवा-प्राप्त भक्त के लिए लोक-लाज, कुल की मर्यादा आदि सभी कुछ निरर्थक होता है। राम-भक्ति-शाखा की मधुर उपासना के सिद्धान्तों में सीता की कृपा से सेवा भाव की प्राप्ति का कोई उल्लेख नहीं है। दूसरा वहाँ मर्यादा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। किन्तु कृपानिवास जी का निम्न पद कृष्ण-भक्ति के ही अनुकूल प्रतीत होता है—

सब तजि होइहौं महल उपासी।
स्वर्ग मुक्ति वैकुण्ठ विसारौं होय गुरु पद की दासी॥
सद्गुरु वचन महारस मानौं परौं न भ्रम की फाँसी।
सेज विहार रास रस लूटौं त्यागि वियोग उदासी॥
युगल विहार भावना करिहौं भटकौं न तीरथ काशी।
और ठौर उझकौं नहिं नयनन राम सिया छबि प्यासी॥
गुरु प्रसाद भई रसिक छाप अब नहिन बटुक सन्यासी।
भाव कुभाव धरे कोई मन में कोई करे उपहासी॥
लोक लाज कुल मान बड़ाई आश त्रास सब नासी।
कृपा निवास कृपा करी सीय जू करिहौं युगल खवासी॥

राम-भक्ति सम्प्रदाय में विधि-मर्यादा रसिक भक्त की प्रमुख विशेषता मानी गई है, किन्तु युगलानन्यशरण के निम्न दोहे में उपास्य-युगल की मधुर-लीलाओं में मग्न होने के लिए मर्यादा की अवहेलना स्पष्ट लक्षित होती है—

मधुर मनोहर चरित वर दम्पति केलि कलान।
निरखे हरखे एक रस, परिहरि अमित विधान॥[१]

यह भी कृष्ण-काव्य के प्रभाव को सूचित करता है। कृष्ण-भक्तों ने सखियों का लता-रन्ध्रों से राधा-कृष्ण की रति-केलि के दर्शन का वर्णन अपने कई पदों में किया है। अतः यह कृष्ण-काव्य की सखी भावोपासना का मुख्य अंग माना गया है। कृपानिवास का निम्न पद भी सखी के इसी भाव को सूचित करता है—

दोउ सुख झाकें झरोखनि अलियाँ।
सैन किलोलत लोल रसिक मन मैन बढ़्यो ज्यो रैन सुधलियाँ॥
उघरे अंग संग जुग राजत जनु सर पंकज कंचन कलियाँ।
उर उर अरत दरत केसर बर करत विनोद बिपुल मद रलियाँ॥

---

१. अर्थपंचक।

परिरंभन चुंबन रस संनत चपला भूकंपन रलियाँ ।
कृपानिवास बिलास बिलोकति आस सखी जनमन की सुफलियाँ ॥

इसके अतिरिक्त सखी के सम्बन्ध में एक और बात यह ध्यान देने की है कि कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के आचार्यों ने राधा-कृष्ण को सहस्र सखी परिसेवित मानते हुए भी आरम्भ से ही प्रमुख आठ सखियों की चर्चा की है। रामभक्ति-शाखा में सीता की प्रमुख षोडश सखियों का उल्लेख ही मिलता है किन्तु कृपानिवास ने भावना पचीसी में चारुशीला, हेमा, क्षेमा, पद्म गंगा, सुलोचना, वरारोहा, लक्ष्मणा और सुभगा—इन मुख्य आठ सखियों का उल्लेख किया है।

अष्टसखी ये लाल की मुख्य जनाई जानि ।
अलि निवास इनकी मया, महल माधुरी पानि ॥

नित्य विहार का सिद्धान्त भी कृष्ण-भक्ति के राधावल्लभ और हरिदासी सम्प्रदाय की देन है। राम-भक्ति की माधुर्य्य भक्ति में उसके लिए कोई स्थान नहीं है। राम-भक्तों के उपास्य राम-सीता का विहार ही सर्वस्व नहीं है। वे विहार के अतिरिक्त अन्य बातों की ओर भी उचित ध्यान देते हैं। किन्तु राम-भक्त बाल अली जी की निम्न पंक्तियों में नित्य विहार की झलक स्पष्ट देखी जा सकती है[1]—

पियवस प्रिया प्रियावस पीय, उरझे रहत रैन दिन हीय ।
सिय हिय के जीवन है पीय, पीय के प्रान जीवन धन सीय ॥[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्तों की माधुर्य्य भक्ति का प्रभाव राम-भक्तों की मधुर उपासना पर पर्याप्त है। इस प्रभाव को स्वीकार करते हुए डा० भगवतीप्रसाद सिंह ने लिखा है—**'कहने की आवश्यकता नहीं कि रामभक्ति की रसिक शाखा के विकास में कृष्ण-भक्ति का योग पहले से ही कुछ न कुछ चला आ रहा था। इस काल (१८वीं शती) में यह भावना अधिक विकसित हुई। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' में ऐसे कई रामभक्तों के वृत्त दिए गए हैं, जिन्होंने रसिकोपासना के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वृन्दावन की यात्रा की थी और वहाँ के प्रसिद्ध आचार्यों का सत्संग लाभ किया था।'**[3]

---

१. राम भक्तों के ये सभी उद्धरण श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र की पुस्तक से लिए गए हैं।

२. नेह-प्रकाश।

३. 'राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय' : पृष्ठ १३७।

मधुरोपासक कृष्ण-कवियों का योगदान

उपास्य राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के गान और ध्यान के प्रयोजन से कृष्ण-भक्त कवियों ने ब्रजभाषा में जिस सरस साहित्य का सृजन किया वह हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। उसमें दर्शन, साहित्य और संगीत तीनों का अनुपम संयोग है। इन तीनों तत्त्वों के संयोग के कारण इस लीला साहित्य में वह शक्ति आ गई है जिससे कोई भी सहृदय पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इस साहित्य की सरसता ने तथा उसमें अभिव्यक्त भावों की तीव्र संवेदनात्मक शक्ति ने भक्ति के प्रसार में जो योग दिया वह अपूर्व है। इस सरस साहित्य ने न जाने कितने व्यक्तियों को भगवद्-भक्ति की प्रेरणा दी है और आज भी दे रहा है। सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, मीराबाई आदि कृष्ण-भक्तों के पदों का गान भारत के अधिकांश भागों में होता है। इसका कारण यह है कि ये भक्त कोरे उपदेशक नहीं थे—वे स्वयं भावुक भक्त थे। उन्होंने अपनी तीव्र भक्ति-भावना से जिस अनुपम आनन्द की अनुभूति की थी—उसी की अभिव्यक्ति अपने पदों में की है। और सच तो यह है कि जिस स्थिति में इन पदों की रचना हुई उस समय ये भक्त स्वयं उपास्य की प्रेम-लीलाओं में पूर्णरूपेण तल्लीन हो चुके थे। इसीलिए इन पदों में भी सहृदय पाठक को तन्मय कर देने की अद्भुत शक्ति है। यही इन लीला-पदों के प्रभावपूर्ण होने का मात्र रहस्य है। स्पष्ट है कि कृष्ण-भक्ति के इस मधुर-लीला परक साहित्य ने भक्ति-भावना को सर्वजनसंवेद्य बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

दर्शन : राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का गान कोई नवीन वस्तु नहीं है। इन भक्तों ने तो लीलाओं को आध्यात्मिक रूप देकर उसको दर्शन का दृढ़तम आधार प्रदान किया। इस प्रकार ये मधुर-लीलाएँ केवल लौकिक नायक-नायिका के शृंगार की लीलाएँ न रहीं वे साधना का प्रमुख अंग बन कर हमारे सन्मुख आईं। यही इन शृंगार-लीलाओं की नवीनता थी। मधुरोपासक कृष्ण-भक्तों ने मनुष्य के उस मूल भाव का अवलम्ब ग्रहण किया जिससे वह शीघ्राति-शीघ्र तन्मय होकर भगवान के साथ ऐक्य स्थापित कर सकता है। यह भाव है—काम। काम अपने लौकिक रूप में विलासोन्मुख होने के कारण हेय है। किन्तु उसमें प्रबल आकर्षण है। अतः भक्तों ने राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं के माध्यम से भक्त की काम मूलक इच्छा को ईश्वरोन्मुख बनाने का प्रयास किया। फलतः यह काम भाव जो सांसारिक रूप में ह्रास का कारण होता है, कृष्णोन्मुख हो जाने पर उल्लास का कारण बन गया। वह साधन बनकर इच्छा का प्रवर्तक हुआ और साध्य हुआ प्रेम। अतः काम स्वतः पीछे छूट गया।

काम में निजी सुख की भावना का प्राधान्य होता है। भक्तों ने काम के प्रभाव से अपने को मुक्त रखने के लिए स्वसुख का पर्य्यवसान कृष्ण-सुख में कर दिया। इस प्रकार वैयक्तिक दंश के अभाव में नाटक के सामाजिक की भाँति भक्त को राधा-कृष्ण की मधुर-लीलाओं से केवल आनन्द की अनुभूति हुई तथा उसका जीवन सफल हो गया। इसी कारण माधुर्य्य भक्ति का दर्शन प्रेम-दर्शन या रस-दर्शन कहलाया। अन्य दर्शनों की जटिलता के विरुद्ध इस दर्शन की विशेषता उसकी सहजता, सरसता और सरलता रही। दर्शन के क्षेत्र में माधुर्य्य भक्ति की यही देन है।

साहित्य : कृष्ण की मधुर भाव परक भक्ति का आश्रय लेकर कृष्ण-भक्तों ने ब्रजभाषा में जिस साहित्य की रचना की वह परिमाण में बहुत विशाल है। ब्रजभाषा का यह मध्यकालीन कृष्ण-काव्य केवल मात्रा में ही अधिक नही है किन्तु सौन्दर्य में भी हिन्दी साहित्य के किसी अन्य भाषी साहित्य से कम नहीं है। इस साहित्य को सम्पन्न बनाने में ब्रजमण्डल के सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायों के कवियों ने सहयोग दिया और आज भी माधुर्य्य भक्ति की इस धारा का क्रम अक्षुण्ण है। मधुरोपासक अनगिनत कवियों में से कुछ ही आज तक प्रकाश में आ सके हैं, जिनकी सरस पदावली से हिन्दी साहित्य के सभी पाठक परिचित हैं। सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, गो० हितहरिवंश, हरिराम व्यास, श्री भट्ट, गदाधर भट्ट, सूरदास, मदनमोहन, मीराबाई, रसखान आदि कृष्ण-भक्त कवि ऐसे ही कवि हुए हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे कृष्ण-भक्त-कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी सरस रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य को सम्पन्न बनाने में पूर्ण सहयोग दिया। इनमें से गो० हरिराय, ध्रुवदास, चाचा वृन्दावनदास, बिहारिनदेव, भगवत रसिक, माधुरीदास, वल्लभरसिक, नेही नागरीदास, गंगाबाई आदि का नाम उल्लेखनीय है। यह सत्य है कि इन की सम्पूर्ण रचनाओं में उसी कोटि का सौन्दर्य हमें लक्षित नहीं होता जो सूरदास, परमानन्ददास आदि की पदावली में है। किन्तु इनके कई पद, कवित्त, सवैये आदि इस प्रकार के भी उपलब्ध होते हैं जिनमें भाव और भाषा—दोनो का अपूर्व सामंजस्य है। ऐसे पदों में भावों की तीव्रता और भाषा की सहजता, स्वच्छता, सरलता और भाव-प्रेषणीयता अपूर्व है। अतः इस प्रकार की रचनाएँ किसी भी साहित्य की निधि हो सकती हैं।

ब्रजभाषा का यह सरस साहित्य भाव का साहित्य है। भावुक भक्तों ने अपनी भक्ति-भावना के तीव्रतम रूप को इसमें प्रस्तुत किया है। क्योंकि उन के लीला-गान का निमित्त अर्थ-लाभ करना या यश-लाभ करना नहीं था। वे

या तो अपने सुख के लिए कृष्ण की लीलाओं का गान करते थे या अपने इष्ट को प्रसन्न करने के लिए। इन दोनों उद्देश्यों की सफलता के लिए उन्होंने अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति संयुक्त कर दी। इसीलिए लीला-गान से उन्हें अपार सुख की प्राप्ति होती थी। इसी कारण उनकी पदावली में भाव की तीव्रता के साथ-साथ तन्मयता की पूर्णता भी पाई जाती है। पूर्ण मनोयोग से लिखी गई इन रचनाओं में अद्भुत मनोहरता एवं आकर्षण है। इससे अनेकों को भक्ति भावना और लीला गान की प्रेरणा मिली है।

रसमग्न कर देने वाली माधुर्य भक्ति की धारा ने जहाँ एक ओर हिन्दी साहित्य को अत्यधिक मनोहारी, भावपूर्ण और सरस पदावली से समृद्ध किया, वहाँ दूसरी ओर इसके एकान्तिक प्रेम के प्रभाव से बाद में कुछ अरुचिकर साहित्य का सृजन भी हुआ। अपने जीवन को सफल बनाने के उद्देश्य से साधना रूप में स्वीकृत एकान्तिक प्रेम का मार्ग भक्त-कवियों के लिए सर्वथा उचित था—किन्तु सामान्य जनता का साधना-स्तर इतना उच्च नहीं होता कि वह भी भक्तों के इन मधुर भाव परक पदों को केवल राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला के रूप में ग्रहण करे। सामान्य जनता के लिए शील और सदाचार वाले मार्ग की आवश्यकता है। उनके लिए एकान्तिक प्रेम की अपेक्षा आचरण की पवित्रता पर बल देने वाली मर्यादा मार्ग की अपेक्षा है। यही कारण है कि भाव-तन्मयता के अभाव में कृष्ण भक्तों द्वारा गाई गई राधा-कृष्ण की ये प्रेम लीलायें नायक-नायिका की सामान्य शृंगार-लीलाओं के रूप में गृहीत होकर मनोरंजन का साधन बनीं। फलतः धीरे-धीरे इस प्रकार के साहित्य का भी सृजन होने लगा जिसमें भक्ति के आलम्बन कृष्ण और राधा को लौकिक नायक-नायिका के रूप में स्वीकार कर उनकी शृंगार लीलाओं का विस्तार से वर्णन किया गया। इस साहित्य का मूल उद्देश्य अपने भक्ति-भाव का प्रकाश न था, वरन् जनता का मनोरंजन करना था और कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करना था। राधा-कृष्ण की लीलाओं के आधार पर रचित इस साहित्य की मूल भावना निम्न पंक्तियों से नितान्त स्पष्ट है—

रीझिहैं सुकवि जो तो जानौं कविताई।
न तो राधिका-गुबिंद सुमिरन को बहानो है।

किन्तु माधुर्य भक्ति के हिन्दी साहित्य पर पड़े उक्त प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती कि राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं का जो वर्णन बाद के कवियों ने किया वह सब अरुचिकर है और न

ही यह कहना उचित है कि ये कवि भक्ति-भाव-विरहित थे। वस्तुतः रीति-काल के ऐसे कई कवि हैं जिनमें भक्ति का भाव विद्यमान था। मतिराम जब यह कहते हैं—

राधा मोहनलाल को जिन्हें न भावत नेह।
परियो मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह॥—

तो उनकी इस उक्ति को केवल 'दिखावा' कहकर टाला नहीं जा सकता। यद्यपि परिस्थितियों वश राधा-कृष्ण के विलास को रीतिकालीन अनेक कवियों ने अपनी कविता का विषय बनाया, किन्तु इन शृंगार-लीलाओं के वर्णन में सच्चे प्रेम की जो यत्र तत्र झलक मिल जाती है उनसे उनकी ईमानदारी स्पष्ट प्रतीत होती है।

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद-बिंदु के भाख्यो।
कचुंकि में चुपर्‌यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार के चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप में नैनन को कजरा करि राख्यो॥

इस सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी उन कवियों की है जो भक्त पहले हैं और कवि बाद में। सूरदास, तुलसीदास आदि वैष्णव कवि इसी श्रेणी में आते हैं। दूसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा गया है जो कवि पहले हैं और भक्त बाद में हैं। देव, मतिराम, बिहारी आदि रीतिकालीन कवि इसी श्रेणी के वैष्णव कवि हैं।[1] इसीलिए बिहारी आदि की कविता में भक्ति-भाव को उतना प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं हुआ जितना काव्य-कला को। इसी कारण उनमें वह भाव-तन्मयता हमें लक्षित नहीं होती जो सूरदास आदि वैष्णव कवियों के पदों में है। अपनी भव-बाधा का हरण करने के लिए जब बिहारी राधा से प्रार्थना करते हैं—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे श्याम हरित दुति होय।—

तो इस दोहे की प्रथम पंक्ति में भक्त का दैन्य स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु दूसरी पंक्ति कवि-कल्पना प्रधान हो उठती है। अतः तन्मयता के भाव में वह गहराई नहीं आ पाती जो साधारणतया भक्त-कवि की रचना का प्राण स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार भव-बाधाओं की ओर संकेत करने वाला यह दोहा

१. विचार और वितर्क : पृष्ठ ८

अधिक हृदय-स्पर्शी न होते हुए भी कविता का सुन्दर उदाहरण है—

या भव पारावार को उलंघि पार को जाय।
तिय छवि-छाया ग्राहनी गहै बीच ही आय॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि मधुर-प्रेम से प्रभावित रीतिकालीन साहित्य में भक्ति की अपेक्षा कला की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। किन्तु जिस रचना में कलात्मक सौन्दर्य नहीं आ पाया है वह रचना अवश्य ही अरुचिकर हो गई है। इसके लिए माधुर्य्य भक्ति की एकान्तिक प्रेम साधना को कुछ अंश तक दोषी माना जा सकता है, पर सम्पूर्ण अरुचिकर साहित्य के सृजन में मात्र माधुर्य्य भक्ति की प्रेरणा स्वीकार करना समीचीन प्रतीत नहीं होता। फिर भी माधुर्य्य भक्ति का हिन्दी साहित्य पर कम उपकार नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—**'ये कृष्ण-भक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम-माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्य-क्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आ आकर भी टिकने न पायेगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।'**[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रजभाषा के माधुर्य्य भक्ति परक कृष्ण-काव्य ने हिन्दी साहित्य को भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से समृद्ध बनाने की चेष्टा की।

संगीत : अधिकांश कृष्ण-भक्त कवियों ने लीला-गान के लिए पदों को चुना। इन पदों को विभिन्न राग एवं रागनियों पर बाँधा गया। सूरसागर के विषय में तो आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया है कि उसमें कोई राग या रागिनि छूटने नहीं पाई है। यही बात हम परमानन्ददास, गो० हितहरिवंश, स्वामी हरिदास आदि के पदों के विषय में कह सकते हैं। ये भक्त स्वयं अच्छे संगीतज्ञ थे और अपने आराध्य को संगीत से सन्तुष्ट करना ही इनका उद्देश्य था। अतः इनके पद संगीत-प्रेमियों के लिए बड़ा भारी खजाना सिद्ध होते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इसके अतिरिक्त कृष्ण-भक्तों के ये पद मन्दिरों में इष्ट की कीर्तन-सेवा में अच्छे-अच्छे गायकों द्वारा प्रस्तुत किये जाते रहे, जिन्हें सुनकर नवीन गायकों को बराबर प्रेरणा मिली। वृन्दावन में समाज की प्रथा ने संगीत को सार्वजनीन बनाने में अत्यधिक योग दिया है। किन्तु धीरे-धीरे संगीत की यह परम्परा समाप्त होती जा रही है। इस संगीत की परम्परा से पूर्णतया परिचित समाजी अब अधिक नहीं रहे हैं। फलतः संगीत

१ हिन्दी साहित्य : पृष्ठ १९५

के क्षेत्र में माधुर्य्य भक्ति परक कृष्ण-काव्य की प्रेरक शक्ति ह्रासोन्मुख हो चली है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माधुर्य्य भक्ति से अनुप्राणित ब्रजभाषा का कृष्ण-काव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस काव्य ने भक्ति को दर्शन की ऊहापोह एवं जटिलता से दूर हटाकर उसे कृष्ण की मधुर-लीलाओं द्वारा सरस बनाया। इस काव्य के रचयिता कृष्ण-भक्तों ने इस लीला-माधुरी का स्वयं अनुभव किया था और सच तो यह है कि लीला गाते-गाते वे इसी लीला में लीन हो गये थे। इसीलिए वे इन लीलाओं की मधुरता को अपने पदों में सफलतापूर्वक ला सके। यह हरिलीला-माधुरी भी अद्भुत है। सुधा और सुधाकर की मधुरिमा इसके सामने तुच्छ है। इसका एक बार भी पान कर लेने पर सांसारिक सुख-भोग की तृष्णा सदा के लिए निःशेष हो जाती है—

सुधानां चान्द्रीणामपि मधुरिमोन्माददमनी,
दधाना राधादिप्रणयघनसारैः सुरभितम्।
समन्तात्संतापोद्गमविषमसंसारसरणी,
प्रणीतां ते तृष्णां हरतु हरिलीलाशिखरिणी॥[1]

---

१. विदग्ध माधव : रूपगोस्वामी।

परिशिष्ट

-की वार्ता' में रसखान दिल्ली के पठान कहे गए हैं। स्वयं रसखान ने भी इसी -बात का संकेत निम्न पंक्तियों में किया है—

देखि गदर हित साहबी दिल्ली नगर मसान।
छिनक बादसा-बंस की ठसक छोरि रसखान॥
प्रेम निकेतन श्री बनहिं आय गोवर्धन-धाम।
लह्यौ सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम॥

इस कारण आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'रसखान' नाम के दो कवियों का उल्लेख किया है। **'एक तो सैयद इब्राहीम पिहानी वाले और दूसरे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के कृपापात्र शिष्य सुजान रसखान'**।[1] दूसरी ओर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनुमान के आधार पर 'पिहानी वाले' और दिल्ली के पठान रसखान की एकता बताते हुए लिखा है **'यदि पिहानी से इनका सम्बन्ध रहा हो तो यही अनुमान करना पड़ेगा कि हुमायूं की अनुकूलता और अकबर के अनुग्रह से सैयदों को दिल्ली में भी कुछ आश्रय स्थान अवश्य मिला होगा। संभव है ये पिहानी से दिल्ली चले गए हों और वहीं रहने लगे हों।'**[2] इस प्रकार रसखान के जन्म-स्थान के विषय में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। किन्तु रसखान की ऊपर उद्धृत पंक्तियों से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध शाही खानदान से था और यह उस समय जब सिंहासन के लिए गदर होने के कारण दिल्ली श्मशानवत् हो रही थी तब दिल्ली और 'बादशाह वंश की ठसक' छोड़ कर वृन्दावन में आगए और यहीं कृष्ण-माधुरी का पान एवं गान करते हुए निवास करने लगे। इस गदर का काल भी इतिहास के आधार पर अकबर के राज्य-काल में संवत् १६४० के आसपास स्वीकार किया जा सकता है।[3]

दिल्ली छोड़कर प्रेम-धाम वृन्दावन आने के उक्त राजनैतिक कारण के अतिरिक्त अन्य कुछ कारणों का उल्लेख 'दो सौ चौरासी वैष्णवों की वार्ता' एवं किम्वदंतियों में मिलता है। इनके अनुसार पहले रसखान किसी साहूकार के पुत्र अथवा स्त्री के रूप पर इतने मुग्ध थे कि एक क्षण के लिए भी उसे देखे बिना न रह सकते थे। श्रीकृष्ण की रूप-छवि देखकर इनके प्रेम का विषय और ही हो गया। रसखान के निम्न दोहे से भी यही सूचित होता है—

---

१. हिन्दी साहित्य : पृष्ठ २०६।
२. रसखानि (ग्रन्थावली) : पृष्ठ २५।
३. वही : पृष्ठ २७।

तोरि मानिनी तें हियो फोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहिं लखि भए मियां रसखान॥

ग्रंथ-रचना

रसखान के अद्यावधि प्राप्त तीनों ग्रंथ मुद्रित हो चुके हैं। ये तीन ग्रंथ क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. सुजान रसखान
२. प्रेम वाटिका
३. दानलीला

सुजान रसखान का प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से स्वर्गीय बाबू अमीरसिंह जी ने तथा विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने करवाया है। बाबू अमीरसिंह द्वारा संकलित सुजान रसखान में कुल मिलाकर १३२ दोहे, सोरठे, कवित्त तथा सवैये हैं। किन्तु विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित सुजान रसखान में इनकी संख्या २१४ है। विषय प्रायः समान है। भ्रमर गीत सम्बन्धी सवैयों तथा कुवलया वध, कालिय दमन, हरिशंकरी, शंकर-स्तुति आदि कुछ विषय विश्वनाथप्रसाद द्वारा सम्पादित सुजान रसखान में अधिक है। वैसे सामान्य रूप से सुजान रसखान का विषय—भक्ति, गोचारण, चीर-हरण, कुज लीला, रास लीला, पनघट लीला, दान लीला, पूर्वराग, रूप वर्णन, वंशी माधुरी, प्रेम माधुरी, प्रेम प्रभाव आदि हैं।

प्रेम वाटिका में प्रेम-सिद्धान्त का ५२ दोहों में बहुत सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है। इस प्रेम का आधार राधा और कृष्ण का प्रेम स्वीकार किया गया है और उन्हें ही इस प्रेम वाटिका का माली-युगल कहा गया है। इसके अतिरिक्त दान लीला में ११ सवैये तथा कवित्त हैं। इनमें राधा और कृष्ण के परस्पर दान सम्बन्धी विवाद का कथोपकथन शैली में वर्णन किया गया है।

माधुर्य्य भक्ति

'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका' के विषय का अनुशीलन करने पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि रसखान का साध्य भी सूरदास, हित हरिवंश आदि अन्य ब्रजमण्डलीय कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति प्रेम की प्राप्ति रहा है। रसखान ने प्रेम-वाटिका में अपने इस साध्य तत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है—

ज्ञान ध्यान विद्या मती, मत बिस्वास बिवेक ।
बिना प्रेम सब धूरि हैं, अगजग एक अनेक ।।
प्रेम फांस में फँसि मरे, सोई जिये सदाहिं ।
प्रेम-मरम जाने बिना, मरि कोउ जीवत नाहिं ।।[1]

तथा—

जेहि पाएं बैकुंठ अरु, हरिहूँ की नहिं चाहि ।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि ।।[2]

वास्तव में रसखान की दृष्टि में प्रेम और हरि में अभेद है। क्योंकि प्रेम हरि का रूप है और स्वयं हरि प्रेम-स्वरूप हैं—अतः हरि और प्रेम में उसी प्रकार की अभिन्नता है जिस प्रकार की सूर्य और धूप में है।

प्रेम हरी को रूप है, त्यों हरि प्रेम-सरूप ।
एक होइ द्वै यों लसे, ज्यों सूरज अरु धूप ।।[3]

इसी आधार पर रसखान ने प्रेम की महिमा का अत्यधिक बखान किया है। उनके अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ जानी जा सकती हैं और कही जा सकती हैं, किन्तु प्रेम और जगदीश अकथनीय तथा अलख हैं।

रसखान के विचार में आनन्द की प्राप्ति केवल प्रेम के द्वारा सम्भव है यह उन सभी पदार्थों से विलक्षण है जिनसे प्राणी-मात्र का परिचय होता है।

दंपति सुख अरु विषय रस, पूजा, निष्ठा, ध्यान ।
इनते परे बखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान ।।[4]

इसी कारण रसखान ने प्रेम के विषय में कहा है—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आबत एहि ढिग, बहुरि जात नाहिं रलखान ।।
कमल तंतु सो छीन अरु, कठिन खड्ग की धार ।
अति सूधो टेढो बहुरि, प्रेमपंथ अनिवार ।।[5]

इस प्रकार का अगम प्रेम रूप, गुण, धन और यौवन के आकर्षण से रहित, स्वार्थ से मुक्त सर्वथा शुद्ध होता है और इसीलिए इसे 'सकल-रस-खानि'

---

१. प्रेम वाटिका : दोहा २५-२६।
२. वही : दोहा २८।
३. वही : दोहा २४।
४. वही : दोहा १६।
५. का : दोहा ३ और ६।

कहा गया है। एक दोहे में प्रेम का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

रसमय, स्वाभाविक, बिना स्वारथ अचल महान।
सदा एक रस शुद्ध सोइ प्रेम अहे रसखान॥[1]

इस शुद्ध प्रेम के बिना ज्ञान, कर्म और उपासना केवल अहंता को बढ़ाने वाले हैं अर्थात् यदि इन साधनों का साध्य प्रेम नहीं है तो यह केवल दुःखप्रद है। और प्रेम की जिसे प्राप्ति हो गई उसके लिए कुछ जानना शेष नहीं रह जाता।

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं, जान्यों जात बिसेस।
सोई प्रेम, जेहि जानिके, रहि न जात कछु सेस॥[2]

वेद मर्यादाएँ तथा जागतिक नियम इस प्रेम की प्राप्ति में विघ्न-रूप सिद्ध होते हैं। अतः जब तक साधक इन नियमों को दृढ़ता से पकड़े रहता है तब तक उसे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती और दूसरी ओर यदि साधक के हृदय में प्रेम का प्रकाश हो जाता है उस समय ये सभी नियम बंधन स्वतः छूट जाते हैं।

लोक-वेद-मरजाद सब लाज काज संदेह।
देत बहाए प्रेम करि, विधि निषेध को नेह॥[3]

रसखान ने प्रेम-रस को देने वाले के रूप में राधा-कृष्ण का स्मरण किया है। उनके अनुसार यही युगल-रूप वह माली हैं, जिनके कारण प्रेमवाटिका सदा हरी भरी रहती है।

प्रेम-अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नन्दनन्द।
प्रेम बाटिका के दोऊ, माली मालिन द्वन्द॥[4]

यद्यपि उक्त दोहे में रसखान ने राधा और कृष्ण दोनों को प्रेम का विकास करने वाले स्वीकार किया है, तथापि सामान्य रूप से उन्होंने कृष्ण को ही अपना इष्ट माना है। सुजान रसखान के अनेक सवैयों तथा कवित्तों में इसी बात की पुष्टि होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

---

१. प्रेम वाटिका : दोहा ४२।
२. प्रेम वाटिका : दोहा १८।
३. प्रेम वाटिका : दोहा ७।
४. प्रेम वाटिका : दोहा १।

बांसुरीवारो बड़ो रिझवार है, स्याम जु नेसुक ढार ढरैगो।
लाड़लो छैल वही तो अहीर को पीर हमारे हिये की हरैगो॥[1]

प्रेम-लीलाओं के वर्णन में भी कवि ने राधा को गोपियों से विशिष्ट स्थान नहीं दिया है। हास-परिहास, छेड़-छाड़, रास आदि के वर्णन में गोपी-सामान्य का वर्णन उपलब्ध होता है। किन्तु कुछ सवैये अवश्य ऐसे हैं जिनमें राधा को कृष्ण की दुलही के रूप में स्वीकार कर उनको स्वकीया माना गया है। इन्हीं सवैयों के आधार पर राधा की अन्य गोपियों से महत्ता सिद्ध की जा सकती है।

मोर के चंदन मोर बन्यौ दिन दूलह है अली नंद को नंदन।
श्री वृषभानुसुता दुलही दिन जोरी बनी बिधना सुखकंदन॥
आवै कह्यौ न कछू रसखानि री दोऊ फंदे छबि प्रेम के फंदन।
जाहि बिलोकें सबै सुख पावत ये ब्रज जीवन हैं दुखदंदन॥[2]

रसखान के उपास्य कृष्ण अखिल ब्रह्माण्ड नायक हैं। शेषनाग, गणेश, शिवजी, सूर्य, इन्द्र इनका निरन्तर ध्यान करते हैं, किन्तु इतने पर भी उनको नहीं जान पाते। वेद इन्हें अनादि, अखंड, अनन्त, अछेद तथा अभेद घोषित करते है और नारद, शुक आदि निरन्तर गुण-गान करने पर भी इनका पार नहीं पा सकते। किन्तु इस प्रकार अगम होते हुए भी ये प्रेम से सहज प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रेम के वशीभूत होकर शंकर, ब्रह्मा आदि द्वारा ध्येय कृष्ण गोपियों के संकेत मे नाचते है।

रसखान की उपासना राधा-कृष्ण एवं गोपी-कृष्णा की प्रेम-लीलाओं का गान एवं मनन करना रही है। इसीलिए भक्त-कवि ने पूर्वराग से लेकर सुरत-पर्यन्त सभी लीलाओं का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। इन प्रेम-लीलाओं का नियंत्रक अथवा प्रेरक तत्त्व वही शुद्ध प्रेम है जिसकी हम ऊपर चर्चा कर आये हैं। अतः स्वार्थ एवं कामना रहित होने के कारण गोपी-कृष्ण की इन प्रेम-लीलाओं मे काम की गन्ध भी स्वीकार नहीं की गई। उनकी ये लीलायें अत्यधिक स्वाभाविक हैं अथच रसमय हैं। वहाँ रस सदा बढ़ता ही रहता है—न्यूनता एवं ह्रास के लिये यहाँ स्थान नहीं है।

नंदनंदन कृष्ण की अपूर्व छवि देखकर गोपियाँ कृष्ण को अपना सर्वस्व स्वीकार कर लेती हैं। कृष्ण के बिना उन्हें अब चैन ही नहीं पड़ता। रात-

१. सुजान रसखानि : सम्पादक विश्वनाथप्रसाद मिश्र : सवैया ७।
२. वही : सवैया १९०।

दिन वही सांवली सलौनी मूरत उनकी आंखों के सम्मुख खड़ी रहती है। कृष्ण की रूप छवि के साथ-साथ गोपी की उक्त दशा का कवि ने अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन निम्न सवैये में किया है—

सोहत है चंदवा सिर मोर के जैसिये सुंदर पाग कसी है।
तैसिये गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है।
रसखानि बिलोकत बौरी भई दृग मूंद के ग्वालि पुकारि हँसी है।
खोलरि घूंघट खोलों कहा वह मूरति नैनन माँझ बसी है॥[1]

कृष्ण के प्रति इस अनुराग को गोपियाँ स्वयं स्वीकार करती हैं—

जा दिन ते निरख्यो नंदनंदन कानि तजी घरबंधन छूट्यौ।
चारु विलोकनि कीनी सुमार सम्हार गई मन मार ने लूट्यौ॥
सागर कों सलिता जिमि धावै न रोकी रहे कुल को पुल टूट्यौ।
मत्त भयो मन संग फिरै रसखानि सरूप सुधारस लूट्यौ॥[2]

गोपियाँ केवल रूप से प्रभावित हुई हों ऐसी बात नहीं। वृन्दावन कानन में बजने वाली कृष्ण की बाँसुरिया भी उन्हें मोहित कर लेती है, उनके मन को मथ डालती है और इस प्रकार उन्हें अधीर बना देती है। कृष्ण बाँसुरी में मधुर-तान आलापने के साथ-साथ गोपियों का नाम ले लेकर उन्हें बुलाते हैं और इस प्रकार उनके मन का धैर्य तो डिग ही जाता है किन्तु गाँव-गाँव में उनके अनुराग की चर्चा चल पड़ती है। ऐसी स्थिति में गोपियों का यह कहना अत्यधिक स्वाभाविक है—

कान्ह भए बस बाँसुरि के अब कौन सखी हमको चहि है।
निस द्यौस रहे संग साथ लगी यह सौंतिन तापन क्यों सहि है॥
जिन मोहि लियो मन मोहन को रसखानि सदा हमको दहि है।
मिल आओ सबै सखी भाग चलै अब तो ब्रज में बंसुरी रहि है॥[3]

कृष्ण के प्रति आसक्ति केवल अविवाहिता गोपियों में नहीं है, विवाहिता गोपियों पर भी कृष्ण की रूप-माधुरी का पूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसी कारण सखियाँ नवविवाहिता गोपियों को इस प्रकार चेतावनी दे दिया करती हैं—

---

१. सुजान रसखानि : स० विश्वनाथ प्रसाद : संख्या १७६।

२. वही : संख्या १७८।

३. सुजान रसखानि : सवैया ६४।

अरी अनोखी बाम, तू आई गौने नई।
बाहर धरसि न पाम, है छलिया तुव ताक में।[1]

गोपियों में कृष्ण के प्रति राग इतना अधिक तीव्र होता है कि उसकी झलक सभी पर स्पष्ट हो जाती है। किन्तु कुलकानि और लज्जा वश वह सदा अपने इस भाव को संयत करने की चेष्टा करती हैं। पर जब गोपी देखती है कि मेरे इस नियन्त्रण से भी परिवार वाले मेरी निन्दा करते हैं तो उसके हृदयोद्गार सखी के सम्मुख फूट पड़ते हैं—

औचक दृष्टि परे कहूँ कान्ह जू तासौं कहै ननदी अनुरागी।
सो सुनि सास रही मुख मोरी जिठानी फिरे जिय में रिस पागी॥
नीके निहारि के देखे न आँखिन हौं कबहूँ भरि नैन न जागी।
मो पछितावो यहै जु सखी कि कलंक लग्यो पर अंक न लागी॥[2]

और इसे सुनकर सखियाँ उसे यही सलाह देती हैं—

बावरी जो पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहीं अंक लगावत॥[3]

रसखान ने कृष्ण की रूप-छवि तथा उसका गोपियों पर प्रभाव वर्णन करने के साथ-साथ गोपियों की सुन्दरता को भी स्थान-स्थान पर अलंकृत-शैली में चित्रित किया है।

बाँकी मरोर गही भृकुटीन लगीं अंखियाँ तिरछानि तिया की।
टांक सी लांक भई रसखानि सुदामिनि तें दुति दूनी हिया की॥
सोहैं तरंग अनंग की अंगनि ओप उरोज उठी छतिया की।
जोवन-जोति सु यौं दमकै उसकाइ दई मनो बाती दिया की।[4]

गोपी-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं में रसखान ने मुख्य रूप से रास लीला, पनघट लीला, दान लीला, सुरत, होली आदि का वर्णन किया है। होली के इस वर्णन में जहाँ एक ओर हमें केसर, गुलाल आदि के द्वारा एक दूसरे की काया को रंगने की चेष्टा दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर अनुराग की पिचकारी छोड़ कर मन को रंग देने का सफल प्रयास भी लक्षित होता है—

खेलत भाग सुहाग भरी अनुरागहि लालन कौं धरि कै।
मारत कुंकुम केसरि के, पिचकारिन में रंग कौं भरि कै॥

---

१ वही : कवित्त ६८।
२. वही : कवित्त १३८।
३. वही : कवित्त ८४।
४. सुजान रसखानि : सवैया ५१।

गेरत लाल गुलाल लली मन मोहिनि मौज मिटा करि कै।
जात चली रसखानि अली मदमत्त मनी-मन कौं हरि कै ॥[1]

कृष्ण की रूप-छवि पर सभी गोपियाँ मुग्ध हैं, अतः सभी उनके साथ रस-विलास चाहती हैं। और कृष्ण भी सभी को उनकी अभिलाषा पूर्ण करने का वचन दे देते हैं किन्तु अवसर पर किसी गोपी के तो भाग्य उदय हो जाते हैं और कइयों को इसी प्रकार अपना मन बहलाना पड़ता है—

काह कहूँ सजनी संग की रजनी नित बीतै मुकुद को हेरी।
आवन रोज कहैं मनभावन आवन की न कबौ करैं फेरी ॥
सौतिन भाग बढ़्यो ब्रज में जिन लूटत हैं निसि रंग घनेरी।
मो रसखानि लिखी विधना मन मारिकै आपु बनी हैं अहेरी ॥[2]

और जब इस दशा वाली गोपियों को यह पता चलता है कि अमुक गोपी ने कृष्ण से मान किया है तब उनका उसे इस प्रकार कहना अत्यधिक स्वाभाविक है—

पिय सों तुम मान कर्यो कत नागरि आजु कहा किनहूँ सिख दीनी।
ऐसे मनोहर प्रीतम के तरुनी बरुनी पग पौंछै नवीनी ॥
सुन्दर हास, सुधानिधि सो मुख नैननि चैन महारस भीनी।
रसखानि न लागत तोहि कछू अब तेरी तिया किनहूँ मति छीनी ॥[3]

भक्ति-साधनों में रसखान ने वृन्दावन एवं ब्रजवास पर विशेष बल दिया है। उनके विचार में ब्रज की धूल भी संसार के समस्त ऐश्वर्यों से श्रेष्ठ है। क्योंकि वह कृष्ण सम्पर्क से पवित्र तथा रसमय हो गई है। इसीलिए उनकी सदा यही अभिलाषा रही है—

'मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।'

साधना की दृष्टि से व्यावहारिक शुद्धता, पारस्परिक प्रेम और भजन की एकाग्रता ही इनके लिए सब कुछ है।

सुनिये सब की कहिये न कछू, रहिये इमि या मन-बागर में।
करिये ब्रत-नेम सचाई लियें, जिन तें तरिये मन-सागर में ॥

---

१. वही : सवैया १९१।
२. वही : सवैया ८।
३. सुजान रसखानि : सवैया ११४।

मिलिये सब सों दुरभाव बिना, रहिये सतसंग उजागर में।
रसखानि गुबिंदहिं यों भजिये जिमि नागरि को चित गागर में॥[1]

रसखान की माधुर्य्य भक्ति के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने गोपी-कृष्ण की लीलाओं का गान सामान्य रूप से किया है। उसमें प्रेम का सहज आत्म-समर्पण, अखंड विश्वास और अनन्य-निष्ठा पूर्ण मात्रा में है किन्तु उनका यह लीला-वर्णन किसी सम्प्रदाय के सिद्धान्त विशेष से प्रेरित नहीं है। अतः उसमें स्वकीया भाव, परकीया भाव अथवा इन दोनों भावों से निर्विशेष नित्य विहारी भाव—किसी के लिये आग्रह नहीं है। कृष्ण का मधुर-प्रेम उन्हें अवश्य ग्राह्य था किन्तु वह केवल सम्प्रदाय विशेष की साधना-पद्धति का अनुसरण अथवा उनके सिद्धान्तों का मनन करने पर ही प्राप्त हो सकता है—यह उन्हें मान्य नहीं था। वे उदार-हृदय थे। उनका हृदय कृष्ण की रूप-छवि पर मुग्ध था; अतः उन्होंने कृष्ण की छवि तथा कृष्ण की लीलाओं का सरस भाषा में गान किया। किन्तु इसके साथ किसी देवी-देवता की उपासना का कहीं विरोध नहीं किया। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनका गो-स्वामी विट्ठलनाथ के कृपापात्र शिष्य होना लिखा है। सम्भव है यह सत्य हो, पर इनकी साधना में अथवा लीला-वर्णन में वल्लभ सम्प्रदायी होने की कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती। वहाँ तो कृष्ण-छवि में मत्त तथा कृष्ण-लीला-गान से अपने को तृप्त करने वाले रसिक भक्त-कवि के ही दर्शन होते हैं। इसीलिए इन्हें सम्प्रदाय की सीमा में न लाकर स्वतन्त्र रसिक-भक्त-कवि स्वीकार करना उचित होगा।

---

१. वही : संख्या ८।

ग्रन्थानुक्रमणिका

उन ग्रन्थों की सूची, जिनसे लेखक ने प्रबन्ध लिखते समय सहायता ली तथा विषय-प्रतिपादन और उसकी पुष्टि के लिए जिनके उद्धरण उद्धृत किये।

संस्कृत

अथर्ववेद
अष्टाध्यायी : पाणिनी
उज्ज्वलनीलमणि : श्री रूपगोस्वामी
ऐत्तरेय ब्राह्मण
ऋग्वेद
कर्पूर मंजरी : राजशेखर
काव्य प्रकाश : मम्मट
काव्यालंकार सूत्र : उद्भट
काव्यालंकार : रुद्रट
कठोपनिषद्
कौशीतकी (शांखायन) ब्राह्मण
गीत गोविन्द : जयदेव
चैतन्य चन्द्रोदय : कवि कर्णपूर
छान्दोग्य उपनिषद्
तत्त्वदीप निबन्ध : वल्लभाचार्य
दशश्लोकी और उसकी टीकाएँ— : आचार्य निम्बार्क
(१) सिद्धान्त कुसुमांजली : हरिव्यास देवाचार्य
(२) वेदान्त रत्नमंजूषा : आचार्य पुरुषोत्तम
निरुक्त और उसकी टीकाएँ : यास्क मुनि
(१) अरुणवाभ कृत
(२) शाकपूनि कृत
नाट्यशास्त्र : भरत
पद्मपुराण
पाद्मतंत्र
परिवृढ़ाष्टक : श्री वल्लभाचार्य

प्रपंचसारतंत्र	श्री शंकराचार्य
प्रश्नोत्तरी	श्री शंकराचार्य
पदावली	श्री रूपगोस्वामी
बृहद्भागवतामृत	श्री सनातन गोस्वामी
ब्रह्मांड पुराण	
ब्रह्मसूत्र और उनके भाष्य—	
(१) पूर्ण प्रज्ञदर्शनम्	श्री मध्वाचार्य
(२) वेदान्त-पारिजात	आचार्य निम्बार्क
(३) अणुभाष्य	श्री वल्लभाचार्य
(४) गोविन्द भाष्य	श्री बलदेव विद्याभूषण
भागवत और उसकी टीकाएँ-	
(१) सुबोधिनी	श्री वल्लभाचार्य
(२) वैष्णवतोषिणी	श्री जीवगोस्वामी
(३) बृहत्तोषिणी	श्री सनातन गोस्वामी
(४) सारार्थ दर्शिनी	श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती
(५) श्रीधरी	श्रीधर
भगवत्पीठिका	श्री वल्लभाचार्य
भक्ति-सूत्र	देवर्षि नारद
भक्ति-सूत्र	महर्षि शाण्डिल्य
भगवद्भक्ति रसायन	श्री मधुसूदन सरस्वती
भक्ति ग्रन्थ माला	श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती
भगवद्गीता	गीताप्रेस गोरखपुर
भक्ति रसतरंगिणी	श्री नारायणभट्ट
महाभारत	
मधुराष्टक	श्री वल्लभाचार्य
मेघदूत	कालिदास
मालविकाग्निमित्र	कालिदास
युग्मतत्त्व समीक्षा	श्री भागीरथ झा मैथिल
रागवर्त्मचन्द्रिका	श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती
राधा सुधानिधि	गोस्वामी हितहरिवंश
राधा प्रार्थना चतुःश्लोकी	गोस्वामी विट्ठलनाथ
लघुभागवतामृत	श्री रूपगोस्वामी

विद्वन्मण्डनम् : गोस्वामी विट्ठलनाथ
वृन्दावन महिमामृतम् : श्री प्रबोधानन्द सरस्वती
विदग्ध-माधव : श्री रूपगोस्वामी
वल्लभ-दिग्विजय : गोस्वामी यदुनाथ
शतपथ ब्राह्मण
शृङ्गार मंडनम् : गोस्वामी विट्ठलनाथ
श्रीकृष्णस्तवराज : आचार्य निम्बार्क
शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड : श्री गिरिधर
श्री राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका : श्री रूपगोस्वामी
श्रीकृष्ण प्रेमामृतम् : श्री वल्लभाचार्य
षट्-संदर्भ (तत्त्व, भगवत्, परमात्म,
श्रीकृष्ण, भक्ति, प्रीति) : श्री जीवगोस्वामी
षोडष-ग्रन्थ : श्री वल्लभाचार्य
साहित्य-दर्पण : आचार्य विश्वनाथ
सर्वदर्शन-संग्रह : श्री माधवाचार्य
सर्वसंवादिनी : श्री जीवगोस्वामी
स्मरण मंगल स्तोत्रम् : श्री रूपगोस्वामी
सिद्धान्त-रत्नम् : श्री बलदेव विद्याभूषण
हरिभक्तिरसामृतसिन्धु : श्री रूपगोस्वामी

हिन्दी

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त
अष्टछाप : सम्पादक डा० धीरेन्द्र वर्मा
केलिमाल और सिद्धान्त के पद : स्वामी हरिदास
काव्य-दर्पण : पण्डित रामदहीन मिश्र
कृष्ण गीतावली : गोस्वामी तुलसीदास
कालिदास का भारत : भगवतशरण उपाध्याय
गीता-रहस्य : लोकमान्य तिलक
गदाधर भट्ट की वाणी : सम्पादक बाबा कृष्णदास
गोविन्द स्वामी (पद-संग्रह) : प्रकाशक विद्याविभाग, कांकरोली
गोपी-प्रेम : श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार
गो० हरिराय कृत सूरदास की वार्त्ता : सम्पादक श्री प्रभुदयाल मीतल

चैतन्य चरितावली : श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
चौरासी वैष्णवन की वार्ता
दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता
निम्बार्क-माधुरी : श्री ब्रह्मचारी बिहारीशरण
निजमत सिद्धान्त : श्री महन्त किशोरीदास
नन्ददास ग्रन्थावली : सम्पादक श्री ब्रजरत्नदास
परमानन्द सागर : सम्पादक डा० गोवर्धननाथ शुक्ल
पुष्टिमार्गीय पद-संग्रह (तीन भाग) : प्रकाशक शा गौविन्दराम द्वारकादास
प्रेम-दर्शन : श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार
ब्रजमाधुरीसार : सम्पादक श्री वियोगीहरि
बयालीसलीला और पद्यावली : श्री ध्रुवदास
भक्तमाल : श्री नाभादास
भागवत सम्प्रदाय : श्री बलदेव उपाध्याय
भाव-प्रकाश : श्री गोस्वामी हरिराय
भक्ति का विकास : डा० मुंशीराम शर्मा
भगवत रसिक की वाणी :
भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास : श्री नलिनीमोहन सान्याल
भगवतत्त्व : श्री हरिहरानन्द करपात्री
भारतीय साधना और सूर साहित्य : डा० मुंशीराम शर्मा
मध्यकालीन प्रेम साधना : श्री परशुराम चतुर्वेदी
मध्यकालीन धर्म साधना : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
महावाणी : श्री हरिव्यास देव
मिश्रबन्धु विनोद : श्री मिश्रबन्धु
महाकवि सूरदास : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
माधुरी वाणी : सम्पादक बाबा कृष्णदास
मीरा बृहद् पद संग्रह : सम्पादक सुश्री पद्मावती शबनम्
मीरावाई की पदावली : सम्पादक श्री परशुराम चतुर्वेदी
युगल शतक : श्री भट्ट
राधावल्लभ सम्प्रदाय :
सिद्धान्त और साहित्य : डा० विजयेन्द्र स्नातक
रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास
राम भक्ति में मधुर उपासना : श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र

राम भक्ति में रसिक सम्प्रदाय : डा० भगवती प्रसाद सिंह
रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र
रसकलश : श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
रसखानि-ग्रन्थावली : सम्पादक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
वेदान्त-दर्शन : महन्त श्री स्वामी सन्तदास ब्रजविदेही
विनयपत्रिका : गोस्वामी तुलसीदास
व्यास वाणी (दो भाग) : श्री हरिराम व्यास
वल्लभ रसिक की वाणी : सम्पादक बाबा कृष्णदास
विचार और वितर्क : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
श्री राधा का क्रम विकास : डा० शशिभूषण दास
श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त-संग्रह : (हिन्दी रूपान्तरकार) श्री श्यामलाल हकीम
शिवसिंह सरोज : श्री शिवसिंह सेंगर
श्री हितहरिवंश गोस्वामी सम्प्रदाय और साहित्य : श्री ललिताचरण गोस्वामी
सूरसागर : सम्पादक नन्ददुलारे वाजपेयी
सूरसागर : वेंकटेश्वर प्रेस
सूर की झांकी : डा० सत्येन्द्र
सूर-सौरभ : डा० मुंशीराम
सूरदास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
सूर-साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
सूर-साहित्य की भूमिका : डा० रामरतन भटनागर
सुधर्म बोधिनी : श्री लाडिलीदास
सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंश लाल
सिद्धान्त रत्नाकर : सम्पादक विश्वेश्वर शरण
साहित्य-संदीपनी : श्री चन्द्रबली पांडे
संस्कृत साहित्य का इतिहास : श्री कन्हैयालाल पोद्दार
सूरदास मदनमोहन की वाणी : सम्पादक बाबा कृष्णदास
सेवक वाणी : श्री दामोदरदास (सेवक जी)
हितचौरासी तथा स्फुटवाणी : गोस्वामी हितहरिवंश
हिन्दुत्व : श्री रामदास गौड़
हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता : डा० बेनीप्रसाद

हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवि : डा० रत्नकुमारी
हिन्दी के वैष्णव कवि : ब्रजेश्वर
हिन्दी रसगंगाधर : श्री पुरुषोत्तम
हिन्दू भारत का उत्कर्ष : चिन्तामणि विनायक वैद्य
हिन्दी और कन्नड़ भक्ति आन्दोलन का तुलनात्मक अध्ययन : डा० हिरण्मय

अन्य भाषाओं के ग्रन्थ

श्री चैतन्य चरितामृत (बंगला) : श्री कृष्णदास कविराज
वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती) : पं० दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री
मराठी साहित्यांतील मधुरा भक्ति (मराठी) : श्री प्रह्लाद नरहर जोशी
रस विमर्श (मराठी) : डा० बाट्वे
काव्यालोचन (मराठी) : प्रो० केलकर
गाथा सप्तशती (प्राकृत)
कथावत्थु (पाली)

पत्र-पत्रिकाएं

कल्याण : गीता प्रेस गोरखपुर
श्री सुदर्शन : वृन्दावन
उत्तरा : बंगाली मासिक पत्रिका

हस्तलिखित ग्रन्थ

निकुंज विलास : गो० विट्ठलनाथ
बिहारिनदेव की वाणी
नागरीदास की वाणी
सरसदास की वाणी
कुम्भनदास पद-संग्रह
छीतस्वामी पद-संग्रह

चतुर्भुजदास पद-संग्रह
कृष्णदास पद-संग्रह
नेही नागरीदास की वाणी
बृहदुत्सवमणिमाल : श्री रूप रसिक
हरिव्यास यशामृत : श्री रूपरसिक
लीलाविंशति : श्री रूपरसिक
सम्प्रदाय प्रदीप : पं० गदाधर दास

ENGLISH

Aspect of Early Vishnuism : J. Gonda.
An Outline of the Religious Literature of India : J. N. Farquhar.
Ancient India as described by Magasthenese and Aryans.
An Introduction to the Post-Chaitanya Shajia Cult. : M.M. Bose.
Collected Works of Sir R.G. Bhandarkar Vol. IV.
Chaitanya and his aga : D.C. Sen.
Chaitanya Movement : M.T. Kennedy.
Dynasties of Kali Age : Pargiter.
Encyclopaedia of Religions and Ethics. : Ed. Hastings
Epic India : C.V. Vaidya.
Early History of Vaishnava Faith and Movement in Bengal. : Dr. S.K. De.
Hinduism : By M. Williams.
History of Muslim Rule : Ishwari Prasad.
History of Medieaval Hindu India : C.V. Vaidya Vol. I & III.
Hindu Psychology : Akhilanand
Hyms of Alwars : J.S. M Hooper
History of Bengal : Jadunath Sarkar
History of Bengali Language and Literature : D.C. Sen
India What It can Teach Us. : Max Muller
Introduction to the Psychology of Religion : Thouless

Introductian to Social Psychology : Dr. Mcdugall
Introductory Lectures of Psycho. Analysis : Freud
Lord Gaurang : S. K. Ghosh
Life and condition of the people of Hindustan : K.M. Asharaf
List of Brahmi Inscriptions : Luders
Materials for the Study of the early History of the Vaishnava Sect : Dr. H. Raychoudhary
Mysticism of Maharashtra : Prof. Ranade
Mediaeval India : Ishwari Prasad
Modern Man is search of soul : C.G. Jung
Outlines of Abnormal Psychology : Mcdugall
Psychology & Religious Quest : R.B. Cattel
Psychology and Religion : Forsyth
Puranic Rocords on Hindu Rites and Customs : R.C. Hazra
Religions of India : E.W. Hopkins
Religious Sects of Hindus : M. Williams
Religious Consciousness : Pratt
Some Aspects of Literary Criticism : Sankaran
Shakti and Shakta : Woodref
Social Psychology : Thouless
Studies in Mediaeval Indian History : K.A. Nizami
Studies in the Indian History and Culture : N.N. Law
Tamil Eighteen Hundred Years Ago : Kanakasabhai
The Vaishnavito Reforms of India : Rajgopalacharyar
The Futures of an Illusion : Freud
The Ego and Id : Freud
The Religions of India : A. Barth
The Psychology of Religion : W.B. Selbie
The Physiology of Sex : Kenneth Walker
The Psychology of Sex : Oswal Schwarz
Vaishnavism, Shaivism and other Religious Systems of India : Dr. R. G. Bhandarkar
Varities of Religious Experience : William James

Vallabhachārya : Manilal C. Parekh
Vedic Mythology : Mcdonnel

JOURNALS

Annals of the Bhandarkar Research Institute Vol. XIV
Journal of the Royal Asiatic Society.
Proceedings of the 7th and 8th All India Oriental Conference.
Psychology London University Yea
The Indian Interpreter.
The Indian Antiquity.